प्रथमावृत्ति
१५००

वीर सं० २४८९ वि. सं. २०२०
सन् १९६३

लागत मूल्य २) दो रुपये




मुद्रक-
श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना

# सूत्र परिचय



उववाइय सूत्र में मुख्यतः दो विषय हैं। एक तो भ० महावीर के समवसरण का अधिकार और दूसरा हैं मरणोत्तर उत्पत्ति का निर्णय।

समवसरण अधिकार में चम्पा नगरी, गुणशील चैत्य, पूर्णभद्र यक्ष, कुणिक राजा, उसकी भगवद् भक्ति, भगवान् का पदार्पण, भगवान् का द्रव्यभाव वर्णन। भगवान् के श्रमण परिवार का भव्य एवं विशद वर्णन, कूणिक नरेश और जनता की भगवद्वंदन की तय्यारी, भगवान् की देशना आदि विस्तार से वर्णन है। इसमें भगवान् के अन्तेवासी अनगार भगवंतों के गुणों का ऐसा वर्णन हुआ है कि जो ध्यान पूर्वक स्वाध्याय करनेवाले की आत्मा में शुभभावों की वृद्धि कर देता है।

अहा ! कैसे थे वे उत्तम मुनिवर ! पाठक, यह वर्णन पढ़कर उन निर्ग्रन्थ मुनिवरो की भव्यता, महानता और उनके परमेष्टि पद की सार्थकता का दर्शन कर सकेंगे। और एक बार तो अपने वर्त्तमान को भूल कर भूतकाल के भव्य धर्माराम में विचरण करने लगेंगे। किन्तु ज्यों ही उनका ध्यान वर्त्तमान दशा की ओर जायगा–वे निराश होंगे। उनके मन में भी भूत को वर्त्तमान में देखने की भावना होगी। जिस समाज के महामानवों ने पुनरुद्धार के बाद, गत शताब्दि तक अनगार धर्म की विशेषता एवं महत्व को कायम रक्खा, वह गत ३०।४० वर्षो में कितना बदल गया ? यह उववाइय सूत्र और उसका अनगार वर्णन, हमारे सामने सरलतम कसौटी है। इस पर खूब मनन होना चाहिए। यह वह शब्द चित्र है जो हमें अपने आराध्य गुरुवर्ग की महानता समझाने के लिए तत्पर है।

उपपात वर्णन के बाद सिद्ध होनेवाली महान् आत्माओं की, सिद्ध होने के समय की विशुद्धिकारक प्रक्रिया और अंत में २२ गाथाओं द्वारा सिद्ध स्वरूप बताया गया है।

इस सूत्र में भ० महावीर की देशना में श्रावकधर्म, श्रमणधर्म और उसकी आराधना के फल का सरल और स्पष्ट वर्णन है। देश साधना और सर्व साधना से लगाकर, सिद्ध होने तक का तथा सिद्ध स्वरूप का निदर्शन किया गया है। इस प्रकार इस सूत्र की वस्तु भव्य एव मनोरम है।

यों तो यह सूत्र स्व. आगमोद्धारक आचार्य पूज्यश्री अमोलकऋषिजी म. अनुवादित आगम-बत्तीसी में सानुवाद प्रकाशित हुआ है और अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से भी प्रकाशित हुआ है, किन्तु समाज के उपासक-वर्ग में इसके स्वाध्याय की प्रवृत्ति नहीं के बराबर है। अतएव समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए संघ ने यह प्रकाशन किया है।

इसका अनुवाद आत्मार्थी पं. मुनि श्री उमेशचन्द्रजी म. 'अणु' ने किया है। मुनिश्री की आगमरुचि अभिनन्दनीय है। इस अनुवाद में आपने टीका का आधार लिया है और पाठकों की सरलता के लिए स्थान स्थान पर टिप्पणियें दी है। इसमें पाठभेद भी बहुत है, जिससे लिखते समय कई प्रकार की उलझनें खड़ी होती है। मुनिश्री ने उन उलझनों को पार करते हुए इस अनुवाद को पूर्ण किया है। आजतक की आवृत्तियों में यह आवृत्ति विशेष उपयोगी सिद्ध होगी—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इसके पूर्व मुनिश्री ने सूयगड़ांग सूत्र का अनुवाद किया था, जो संघ द्वारा प्रकाशित हुआ था। आज वह अनुपलब्ध है और उसकी माँग बनी हुई है। यथासमय उसकी संशोधित द्वितीयावृत्ति भी प्रकाशित करने का विचार है।

मुनिराज श्री ने इस अनुवाद को वि. सं. २०१६ भाद्रपद कृ. ५ को पूर्ण किया था। यह अनुवाद सैलाना चातुर्मास

की स्मृतिरूप है। हमारी कठिनाइयों के कारण इसका प्रकाशन अब हुआ है। इस अनुवाद को पं. श्री घेवरचंदजीसा. बाँठिया वीरपुत्र (वर्त्तमान श्री वीरपुत्रजी महाराज सा.)ने,स्थानकवासी जैन समाज के आदर्श संयमी संत बहुश्रुत प. मुनिराज श्रीसमर्थमलजी म. सा. को सुनाया और संशोधन किया। इस प्रकार यह प्रकाशन प्रामाणिक बन गया है। इसके प्रूफ संशोधन में सावधानी रखते हुए भी दृष्टिदोष से अशुद्धियाँ रहगई है। कुछ अशुद्धिया प्रेस मशीन पर पहुँचने के बाद हुई है, जिनका शुद्धि पत्र दिया गया है। इनके सिवाय भी अशुद्धियाँ रहगई हों, तो पाठक सुधारलेंगे और हमें सूचित करने की कृपा करेंगे।

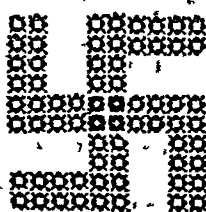
इसके प्रकाशन खर्च में सघ को, श्रीमान् सेठ तेजराजजी साहब बोरुदिया, जसनगर ( केकिंद ) मारवाड़ (व्यावसायिक निवास स्थान बागबाहरा (म. प्र. ) से रुपे ११११) और एक खीचन निवासी महानुभाव की ओर से भी आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। अतएव सघ आपका पूर्ण आभारी है। संघ का प्रकाशन ज्ञान प्रचार के लिए होता है। इसका मूल्य लागत के अनुसार होता है और प्राप्त मूल्य का पुनः साहित्य प्रकाशन में उपयोग होता है। संघ के द्वारा प्रकाशित साहित्य का समाज में अच्छा उपयोग हुआ है और मांग बनी ही रहती है। अब सघ, भगवतीसूत्र जैसे विशाल आगम का प्रकाशन करने जा रहा है। धर्मशील धर्मबन्धुओं के उदार सहयोग से यह

बड़ा कार्य भी सरलता पूर्वक सफल होगा—यह हमारा विश्वास है।

समाज के जिन उदार धर्म-प्रेमी महानुभावों ने संघ द्वारा आगम ज्ञान के प्रचार में सहयोग प्रदान किया है, उनके हम आभारी हैं। आशा है कि अन्य महानुभाव भी इस शुभकार्य में पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।

ज्येष्ठ कृ. ३ सं. २०२०
वीर सं. २४८९
११-५-६३

मानकलाल पोरवाड़ एडवोकेट—अध्यक्ष
शरबतचंद भंडारी —उपाध्यक्ष
संपतराज धाड़ीवाल ,,
रतनलाल डोशी —प्रधानमन्त्री
बाबूलाल सराफ —मन्त्री
जशवंतलाल शाह ,,



# अस्वाध्याय

निम्न लिखित चौंतीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिये।

| आकाश सम्बन्धी 10 अस्वाध्याय | कालमर्यादा |
|---|---|
| १ बड़ा तारा टूटे तो | एक प्रहर |
| २ उदय अस्त के समय लाल दिशा | जबतक रहे |
| ३ अकाल में मेघगर्जना हो तो | दो प्रहर |
| ४ ,, बिजली चमके तो | एक प्रहर |
| ५ ,, बिजली कड़के तो | दो प्रहर |
| ६ शुक्ल पक्ष की १-२-३ की रात | प्रहर रात्रि तक |
| ७ आकाश में यक्ष का चिन्ह हो | जबतक दिखाई दे। |
| ८-९ काली और सफेद धूंअर | जबतक रहे |
| १० आकाश मण्डल धूलि से आच्छादित हो | ,, |

औदारिक सम्बन्धी 10 अस्वाध्याय

११-१३ हड्डी, रक्त और मांस, ये तिर्यञ्च के ६० हाथ

के भीतर हो। मनुष्य के हों तो १०० हाथ के भीतर हो। मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो तो १२ वर्ष तक।

१४ अशुचि की दुर्गन्ध आवे या दिखाई दे तब तक

१५ श्मशान भूमि- सौ हाथ से कम दूर हो तो

१६ चन्द्रग्रहण-खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण होतो १२ प्रहर

१७ सूर्य ग्रहण " १२ " १६ "

१८ राजा का अवसान होने पर, जबतक नया राजा घोषित न हो।

१९ युद्ध स्थान के निकट जब तक युद्ध चले।

२० उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो, जब तक पड़ा रहे।

२१-२५ आषाढ़, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा दिन रात

२६-३० इन पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा "

३१-३४ प्रातः, मध्यान्ह, संध्या और अर्द्ध रात्रि १-१ मुहूर्त।

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुँह नहीं बोलना तथा दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए।

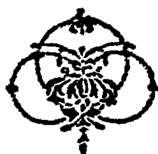
नोट——मेघ गर्जनादि में अकाल, आर्द्रा नक्षत्र से पूर्व और स्वांति के बाद का माना गया है।

# शुद्धि पत्र



| पृष्ट | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ३ | १३ | द्रव्यों | द्रव्यों को |
| २८ | ६ | दुव्वल | दुव्वल |
| ४८ | ८ | वु | बुद्ध |
| ५३ | ७ | पहनाकर | पहनकर |
| ६० | ५ | मल | कमल |
| ६३ | ७ | -राग | जिन-राग |
| ६५ | ५ | इहमागेच्छा | इहमागच्छेज्जा |
| ६५ | १२ | कुधाताओं | कुधातुओं |
| ११६ | ११ | वले | वाले |
| १३२ | १६ | अणच्चासणा | अणच्चासायणा |
| १४५ | १३ | व्यथ | व्यर्थ |
| १५२ | २४ | शन्य | शुन्य |
| १५८ | ६ | मीम | भीम |
| १६३ | २ | ढग | ढंग |

| पृष्ट | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १६८ | १३ | म | में |
| १७१ | १६ | समए णं | समए णं समणस्स |
| १९७ | १२ | लिय | लिये |
| २०४ | ५ | अञ्जगिरि | अञ्जनगिरि |
| २२० | २ | सिला | सिलाये |
| २२१ | १ | पडिच्छियंमेयं | पडिच्छियमेयं |
| " | " | " | " |
| २२९ | १ | ह | है |
| २५३ | ११ | सबाह | संबाह |
| २६१ | ९ | कुलघरक्खियाओ | कुलघररक्खियाओ |
| ३१३ | ४ | जसे | जैसे |
| ३२४ | १८ | त | तं |
| ३३० | १८ | मणुस्णे | मणुस्से |
| ३३१ | २० | हव्वमागच्छेज्जा | हव्वमागच्छेज्जा |
| ३६२ | ९ | ह, | है, |



# विषयानुक्रमणिका~



# स्वाध्याय करिये

प्रत्येक धर्म बन्धु और बहिन को नित्य स्वाध्याय करना चाहिये । स्वाध्याय से आत्मा पवित्र होती है । ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा होकर आत्माकी ज्ञान पर्याय खुलती है । श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ में कहा कि–

"सज्झाएणं भंते जीवे किं जणयइ ? सज्झाएणं नाणा-वरणिज्जं कम्मं खवेइ" ॥१८॥

पूर्वाचार्य फरमाते हैं कि–

"न वि अत्थि न वि अ हो ही सज्झायसमं तवोकम्मं"

अर्थात्–स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तप नहीं होता ।

अतएव आत्मा की पवित्रता और समाज में सम्यग्ज्ञान का विकाश करने के लिए स्वाध्याय अवश्य करे । नित्य करें ।



卐 नमो जिणाणं जियभयाणं 卐

# उववाइय सुत्तं

## नगरी वर्णन

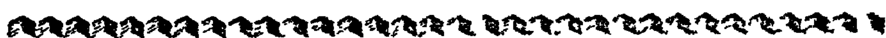
१— तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नाम नयरी होत्था । रिद्ध-त्थिमिय-समिद्धा, ×पमुइय-जण-जाणवया आइण्ण-जण-मणुस्सा हल-सयसहस्स-संकिट्ठ-विकिट्ठ-लट्ठ-पण्णत्त-सेउसीमा कुक्कुड-संडेय-गाम-पउरा +उच्छु-जव-सालि-कलिया गो-महिस-गवेलग-प्पभूया;

उस काल और उस समय में 'चम्पा' नामकी नगरी थी। वह ऋद्धिशाली (=भवनादि से बढ़ती हुई कलावाली),

---

× पाठान्तरे—'पमुइय-जणुज्जाण-जणवया' ।

+ पाठान्तरे—...'सालिमालिणीया' ।



स्थिर (=भय से रहित होने के कारण, जनता की निवास सम्बन्धी चञ्चलता से रहित) और समृद्ध (=व्यापारादि आजीविका के साधनों की सुलभता, प्रचुरता और व्यापकता के कारण धनधान्यादि से युक्त) थी। वहाँ नगरी-निवासी और देशवासी प्रसन्न रहते थे, अतः (वह नगरी) जन-मनुष्यों से भरपूर थी। उसके आसपास लम्बी दूर तक सैकड़ों-हजारों अथवा लाखों (=१००×१०००=लाखों) हलों के द्वारा जोतने और बोने से सुन्दर और योग्य बनी हुई एवं मार्ग रूप सीमा से युक्त भूमि थी। (उस नगरी में) मुर्गों और तरुण साण्डों के बहुत-से समूह थे। ईख जौ और शालि से (लहलहाती हुई वहाँ की भूमि) भली लगती थी। गायों, भैंसों और भेड़ों की अधिकता थी।

टिप्पण—१ उववाइय (=औपपातिक) में उपपात—वैक्रिय शरीर (नारक और देव) में जन्म और सिद्धि—गमन के विषय में प्रश्नोत्तर हुए हैं। यह उपांग है। आचारांग सूत्र के सत्थपरिण्णा (शस्त्र-परिज्ञा) नामक पहले अध्ययन के पहले उद्देशक के 'एवमेगेसिं नो नायं भवइ, अत्थि मे आया उववाइए....' इत्यादि सूत्र में आत्मा के जिस उपपात भाव का निर्देश किया गया है, उसका इस अध्ययन में विस्तार किया गया है। अतः इस आशय की समीपता के कारण, यह आचारांग का उपांग कहा जाता है। (—टीकाकार)

ऐसी धारणा प्रचलित है कि अंग के किसी एक विषय को लेकर, जिसमें विस्तार से उसका व्याख्यान किया गया हो, उसे उपांग कहते हैं। विभिन्न उपांगों का सम्बन्ध अंगों के साथ जोड़ा जाता है। इस बात की

पुष्टि टीकाकार के उपर्युक्त कथन से भी होती है।

२ 'उस काल....उस समय.....' वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ विभाग लक्षणवाले सामान्यकाल को 'उस काल' और जिसमें वह नगरी, राजा और परम तारक वर्धमान स्वामी विद्यमान थे, उस विशेष काल को 'उस समय' कहा गया है। (—टीकाकार)

३ '.....नगरी थी'—जिस समय इस सूत्र का निर्माण हुआ था, उस समय में भी चम्पा नगरी विद्यमान थी; फिर भी '.....नगरी थी'—ऐसा भूतकालिक प्रयोग क्यों किया गया?—कारण, अवसर्पिणीकाल (=ह्रासकाल) की अपेक्षा से। क्योंकि जिस काल की कहानी कही जा रही है—उस काल की विभूति के समान, जिस समय में कहानी कही जा रही है—उस समय में विभूति नहीं थी। (—टीका०)

टीकाकार के कथन से यह सूचित होता है कि कालद्रव्य के निमित्त से द्रव्यों की अवस्था में सदा परिवर्तन होता रहता है। वस्तु क्षण मात्र भी एक-सी अवस्था में नहीं रह सकती। कुछ क्षणों के पहले ही घटित प्रसंगो के लिये भूतकालिक क्रिया का प्रयोग ही इस बात को सिद्ध कर रहा है। अतः द्रव्य की यह परिभाषा बिलकुल सही है कि 'जो अपने सनातन गुणों में स्थित रहते हुए, नई-नई अवस्थाओं को धारण करे या पर्यायों में गमन करे'।

४ 'सैकड़ों—हजारों हलों......' इस सूत्रांश में नगरी की लोक-बहुलता और क्षेत्र—बहुलता बतलाई गई है। (—टीकाकार)

टीकाकार ने इस सूत्रांश के दो अर्थ—विकल्प और दिये हैं—

'लाखों हलों के द्वारा खेडी हुई.....नहरों के द्वारा सिञ्चित क्षेत्रभूमि जिसकी सीमा में हो ऐसी' अथवा '.....खेड़ने से दूर तक मनोज्ञ बनी हुई कही गई है सेतुसीमा जिसकी ऐसी'।

५ 'मुर्गों और.....' इस सूत्रांश से मनुष्यों का प्रमोद व्यक्त किया गया है। क्योंकि प्रमुदित लोक ही क्रीड़ा के लिये कुक्कुटों का पोषण करते हैं और साण्डों का (सांड रूप में) पालन करते हैं। (-टी०)

६ 'ईख.....' इस सूत्रांश से जनता के प्रमोद का कारण बताया गया है। क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं के अभाव में जन-प्रमोद हो ही नहीं सकता।

**आयारवन्त-चेइय-जुवइ-विविह-सरिणविट्ठ-वहुला* उक्कोडिय-गाय-गंठि- भेय- भड-तक्कर -खण्डरक्ख -रहिया× खेमा णिरुवद्दवा;**

आकारवान् ( =सुन्दर शिल्प कलामय ) चैत्यों (=स्मारक मन्दिरो) का और युवतियो के विविध सन्निवेशों का वाहुल्य था। औत्कटिकों ( =रिश्वतखोरो), ग्रन्थिभेदको ( =गिरहकटों ), भटो ( =उठाईगीरो-उचक्को ), तस्करों ( =चोर डाकुओ) और खण्डरक्षों ( =शुल्कपालों,दाणियों ) के उपद्रव से रहित, क्षेम से युक्त और शासको के अत्याचार से रहित (वह नगरी) थी।

टिप्पण-७ 'आकारवान् चैत्य.....' 'चैत्य' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में अनेक अर्थों में हुआ है। जैसे कि-कहीं ज्ञान अर्थ में, कहीं जिनेश्वर देवों को जिन वृक्षों के नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उन वृक्षों के विशे-

---

* पाठान्तरे-'अरिहंतचेईय-जणवय-विसण्णिविट्ठ वहुला' पुनः पाठान्तरे-'सुयाग-चित्त-चेईय-जूय चिइ सण्णिविट्ठवहुला'।

× पाठान्तरे-'उक्कोडिय गाह गंठिभेय....'।

षण रूप में, कहीं चौतरे सहित वृक्ष के अर्थ में, कहीं पूर्व पुरुषों के स्मारक चिन्ह के अर्थ में, कहीं इष्ट देवता की प्रतिमा के अर्थ में, कहीं उद्यान के अर्थ में और कहीं चिता पर बने हुए चरण-चिन्हों, खाम्बियों और छतरियो के अर्थ में। यहाँ पर टीकाकार नें इस शब्द का अर्थ 'देवतायतन' (=देवकुल) किया है और पाठान्तरो की व्याख्या में 'अर्हच्चैत्य'। वस्तुतः यहाँ यह शब्द वीर या विशिष्ट पुरुषों के स्मारक-मन्दिरों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि 'युवतियों के सन्निवेश' के साथ इस पद का उल्लेख है। अतः वे ऐसे स्थान होने चाहिए कि जो पूर्व पुरुषों की स्मृति में बनें हुए होनें पर भी, जहां विविध सांसारिक प्रवृत्तियां चलती हो, कला आदि का प्रदर्शन होता रहता हो और जीवन के कड़वे-मीठे प्रसंग उपस्थित होते रहते हों, जिनका जन-संस्कार के बनाव-बिगाड़ में बड़ा हाथ रहता है।

'युवतियों के सन्निवेश' का अर्थ, टीकाकार ने 'पण्य तरुणियों के पाटक' किया है। 'जुवइ' और 'सण्णिविट्ठ' शब्द 'वेश्याओ के मोहल्ले'—यह अर्थ करनें से पूर्व कुछ विचारणा के लिये प्रेरित करते है। 'पण्यतरुणी' शब्द का अर्थ यह भी हो सकता है कि—'जन—साधारण के सहवास में आनेंवाली ऐसी स्त्रियाँ, जो कण्ठ, रूप और कला का प्रददर्शन करती हों, इन विषयों से सम्बन्धित शिक्षण देकर, अपनी आजीविका चलाती हो—यौन सम्बन्धी शिक्षण भी देती हों और राज्यनीति में भी दखल रखती हो, या राज-शासन में कोई कार्य सावनें में जिनका उपयोग होता हो।' उनमें कई वर्ग होनें की सम्भावना है। उनमें कुछ ऐसी भी हो सकती है, जो आजीवन पुरुष देह का भोगेच्छा से स्पर्श भी न करती हो। कुछ तरुणियों को गृहवास में प्रविष्ट होनें की समाज से स्वीकृति और राजाज्ञा भी प्राप्त होती थी। कइयो के जीवन में राजाज्ञा से कितने ही पुरुषों का आगमन होता था और कई विलासिनियाँ भी होगी। उन्हे राज्य—

संरक्षण प्राप्त था। ऐसा अर्थ करने में प्राचीन चरित्रों, इतिहास और लोक कथाओं का आधार है।

८ 'रिश्वतखोर.....' इस सूत्रांश से उपद्रवकारियों का अभाव सूचित किया गया है। (-टीका०) राज्य का सुप्रवन्ध और जनता में बुरे संस्कारों के अभाव के साथ ही, आत्मरक्षण, आत्म-गौरव एवं सम्पन्नता युक्त तुष्टि का भी सूचन होता है।

सुभिक्खा वीसत्थ-सुहावासा अणेग-कोडि-कुडुम्बिया-इण्ण-णिव्वुय-सुहा, नड-नट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबय-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंब-वीणिय-अणेग-तालायराणुचरिया; आरामुज्जाण-अगड तलाग-दीहिय-वप्पिणि-गुणो-ववेया [ नंदणवण-सन्निभ-प्पगासा + ];

वहाँ भिक्षुओ के योग्य उचित भिक्षा मिलती थी; क्योंकि (विभिन्न मतावलम्बी) विश्वस्त (= निर्भय) मनुष्यों का (वहां) सुखपूर्वक निवास था और अनेक कुटुम्बियो से घनी बस्ती होने पर भी (आपस में) अशान्ति-जनक व्यवहार का अभाव होने से-संतोष होने से सभी सुख से रहते थे। (वह नगरी) नट (= नाटक करनेवाले), नर्त्तक (= नाचनेवाले, नृत्यकला-विशारद), जल्ल (= रस्सी पर चढ़कर, कला दिखलाने-

+ क्वचित् पठ्यते अर्थात् टीकाकार के कथनानुसार यह पाठ सर्व प्रतियों से अनुमोदित नहीं है। [ ] ऐसे कोष्ठक गत पाठों के लिये यही अभिप्राय समझना चाहिए।

वाले†), मल्ल (=कुश्ती करने वाले) मौष्टिक (=मुष्टि-प्रहार की कला में दक्ष), विडम्बक (=विदूषक), कथक (=कथावाचक), प्लवक (=उछलने वाले अथवा नदी आदि को तिरने वाले), लासक (=वीर रसोत्पादक गाथाएँ -रासक गानेवाले), आख्यायक (=शुभ-अशुभ का कथन करनेवाले), लख (=बांस के अग्र भाग पर खेलनेवाले), मंख (=चित्रपट दिखाकर आजीविका करनेवाले), तूणइल्ल (='तूण' नामक वाद्य को वजानेवाले), तुम्बवीणिक (=वीणावादक) और तालाचर (=ताल वजाकर झाँकी दिखलाने वाले) (इन व्यक्तियों) के द्वारा पुनः पुनः सेवित थी। वहाँ कई गृहवाटिकाएँ (=आराम, जिसके लताकुञ्जो मे दम्पती आदि क्रीडा करते हों, ऐसे बगीचे), सार्वजनिक बगीचे (=उद्यान, उत्सव आदि में बहुजन भोग्य विपुल फूलों-वाले वृक्ष आदि से घिरे हुए भूमिखण्ड), कुएँ, तालाब, लम्बी बावडियाँ (=दीर्घिका) और जलक्यारियाँ थी। [नंदन वन के समान सुशोभित थी]

उव्विद्ध-विउल-गंभीर-खाय-फलिहा चक्क-गय-मुसुंढि-ओरोह-सयग्घि-जमल-कवाड-घण-दुप्पवेसा धणु-कुडिल-वंक-पागार-परिक्खित्ता कविसीसय-वट्ट-रइय-संठिय-विरायमाणा,

† जल्ल शब्द का अन्यकृत अर्थ–राजा की प्रशंसा के गीत स्तोत्र पढ़ने वाले।

**अट्टालय-चरिय-दार-गोपुर-तोरण-उण्णय-सुविभत्त-रायमग्गा छेयायरिय-रइय-दढ-फलिह-इंदकीला;**

वह नगरी ऊँची, विस्तीर्ण, गहरी और ऊपर से चौड़ी खाई से युक्त थी। (जिसमें) चक्र, गदा, मुमुण्ढि (=बंदुक जैसा शस्त्र विशेष), अवरोध (=अन्तर प्राकार–टी० या नगर द्वार के सामने शत्रु-सेना के हाथियों आदि को रोकनें के लिए बने हुए मजबूत साधन), शतघ्नी (=ऐसी महायष्टि या महाशिला, जिसके गिराये जाने पर सैकड़ो मनुष्य मर जाते हैं) और दरवाजे के निश्छिद्र कपाट-युगल के कारण, (शत्रुओं का) प्रवेश करना कठिन था। धनुष के समान टेढ़े नगर कोट (=प्राकार) से (वह नगरी) घिरी हुई थी। (उस कोट में) विशिष्ट आकार के बनाये हुए गोल 'कविसीसग' (=भीतर से शत्रुसेना को देखने के लिये या अन्य कार्य के लिये वन्दर के शिर के आकार के बने हुए छेद) शोभित हो रहे थे और (वह कोट) अट्टालक (=प्राकार के ऊपर बने हुए आश्रयस्थान), चरिक (=कोट के बीच मे बना हुआ आठ हाथ चौड़ा मार्ग), द्वार (=परकोटे में बने हुए छोटे द्वार–खिडकियाँ), गोपुर (=नगर द्वार) और तोरणद्वार से उन्नत था, जिससे राजमार्ग सुन्दर ढंग से विभक्त हो जाते थे। (उन द्वारों की) अर्गलाएँ और इन्द्रकील ( नगर द्वार के अवयव) कुशल शिल्पाचार्य के द्वारा निर्मित हुए थे।

विवणि-वणिच्छेत्त × -सिप्पियाइण्ण-निव्वुय-सुहा सिंघा-डग-तिग -चउक्क -चच्चर -पणियावण -विविह - वत्थु - परिमंडिया सुरम्मा,* नरवइ-पविइण्ण-महिवइ-पहा अणेग-वर-तुरग-मत्त-कुंजर-रह-पहकर-सीय -संदमाणीया -इण्ण -जाण-जुग्गा, विमउल-णव-णलिणि-सोभिय-जला, पंडुर-वर-भवण-सण्णि-महिया उत्ताण-णयण-पेच्छणिज्जा,पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। ॥१॥

हाटमार्ग, व्यापार के केन्द्र और शिल्पियो (=कुंभकार आदि कलाविशारद—जिनके द्वारा जनप्रयोजन की सिद्धि होती है ऐसे कुशल कलाविदों) की विपुलता से (वहाँ) सभी तरह से अमन-चैन था। त्रिकोण स्थान, तिराहे, चौक और चार से अधिक मार्गो के संगमस्थान, वर्तनो की दुकानो और विविध मकानो से सुशोभित थे—अति रमणीय थे। राजा के गमनागमन से (दर्शनोत्सुक मनुष्यो और सवारी मे चलनेवाले मनुष्यादि के कारण) राजमार्ग में भीड़ लगी रहती थी। (मार्ग में) श्रेष्ठ घोड़े, मस्त हाथी, ढँकी हुई पालखियाँ (=शिविका), पुरुष प्रमाण पालखियां (स्यंदमानिका), रथों के समूह, गाड़िया आदि यान और डोलियाँ आती-जाती

---

× वाचनान्तरे छेत्त शब्दस्य स्थाने छेय शब्दोऽधीयते।

* पुस्तकान्तरेऽधीयते—'सिघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहेसु पणियावण-विविह-वेस-परि—मंडिया'।

रहती थी—इनका जमघट लगा रहता था। विकसित कमल और नव कुमुदनियो से शोभित जलाशय (मार्ग में पड़ते) थे। (मार्ग के दोनो किनारो पर) (सफेदी से) धवल (बने हुए) श्रेष्ठ भवनो (की पक्तियाँ) भव्य (लगते थे)। नगर को देखते समय आँखें ऊँची उठी हुई रह जाती थी— पलकें गिरती ही नही थी। नगरी का देखाव चित्त को प्रसन्न करनेवाला, आँखो को लुभानेवाला, अपने में मन को रमा लेनेवाला और हृदय में वस जानेवाला था।

टिप्पण—६ 'नरवइ.......पहा' इस सूत्रांश के टीकाकार कृत दो और अर्थ-विकल्प—'जिसके राजा के द्वारा अन्य राजाओं की प्रभा निरस्त हो गई हो, ऐसी नगरी' अथवा 'अन्य राजाओ के द्वारा जिसके राजा की प्रभा विशेष रूप से फैली हो, ऐसी नगरी'।

## चैत्य वर्णन

२— तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तर-पुरत्थिमे दिसि-भाए पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था। चिराईए पुव्व-पुरिस-पण्णत्ते पोराणे, सद्दिए वित्तिए× णाए, सच्छत्ते सज्झए सघंटे सपडागाइपडाग-मंडिए;● सलोम-हत्थे कय-वेयद्दिए, लाउल्लोइय-महिए गोसीस-सरस-रत्त-चंदण-दद्दर-

× 'कित्तिए' त्ति पाठान्तरं।

● वाचनान्तरे—'सपडाए पडगाइपडाग—मंडिए'।

**दिएण-पंचंगुलितले,उवचिय-चंदण-कलसे चंदण-घड-सुकय-तोरण-पडिदुवार-देस-भाए, आसत्तोसत्त-विउल-वट्ट-वग्घारिय मल्ल-दाम-कलावे;**

उस चम्पा नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा के भाग में 'पूर्णभद्र' नामका चैत्य (=व्यंतरायतन) था। वह बहुत काल पहले का बना हुआ था। गये काल में हुए मनुष्य भी उसकी प्राचीनता के बखान किया करते थे। उसकी प्रशंसा के गीत बन चुके थे। उस चैत्य की (चढावे आदि में आई हुई) सम्पत्ति थी। (योग्य निर्णायकता के कारण वह) न्याय-शील था। वह छत्र, ध्वज, घण्टा, पताका और अतिपताका (=छोटी पताका से ऊपर उठी हुई बड़ी पताका) से मण्डित था। वहाँ रोममय पीछियाँ थी, वेदिका बनी हुई थी; भूमि गोबर आदि से लीपी हुई थी और भीतें खड़ी-चूने आदि से भव्य बनी हुई थी। (भीतो पर) गोरोचन और सरस रक्त चदन के पांचो अगुलो और हथेली सहित (हाथ की) छापें लगाई गई थी। चन्दनकलश (=मगलघट) रखे हुए थे। प्रत्येक द्वार के देशभाग चदनघट और तोरणों से युक्त थे वहाँ भूमि और छत को छूती हुई विस्तृत गोल और लम्बी फूलमालाओ का समूह (अलङ्करण) था।

टिप्पण—१ 'सद्दिए' पदका टीकाकार-कृत अर्थ—'शब्द अर्थात् प्रसिद्धि, जिसकी प्रसिद्धि होगई हो उसे 'शब्दित' कहते हैं'।

२ 'वित्तिए' और 'णाए' पद के अर्थ-विकल्प—

वृत्तिद = आश्रित लोगों को जो वृत्ति ( = आजीविका) देता है।
ज्ञात = अनुभव में आई हुई उसकी प्रसन्नता से लोगों के द्वारा जिसकी सामर्थ्य जानी गई हो।(-टी०)

३ 'लाउल्लोइय-महिए' पद का निम्न आशय का अर्थ भी संभव है- 'लाइयं' = भूमि और भींतों के योग्य उपलेपन से और 'उल्लोइय' = चंदोवे आदि छत की सजावट से, 'महिए' = वह चैत्य भव्य लगता था।

पंच-वण्ण-सरस-सुरहि-मुक्क-पुप्फ-पुंजोवयार-कलिए कालागुरु-पवर-कुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-मघ-मघंत-गंधुद्धुयाभिरामे सुगंध-वर-गंध-गंधिए गंधवट्टिभूए, नड-नट्टग-जल्ल- मल्ल- मुट्ठिय- वेलंवय-पवग-कहग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंव-वीणिय-भुयग-मागह-परिगए, वहुजण-जाणवयस्स विस्सुय-कित्तिए, वहुजणस्स* आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सण्णिहिय-पाडिहेरे जाग-सहस्स-भाग-पडिच्छए× वहुजणो अच्चेइ आगम्म पुण्णभद्दं चेइयं पुण्णभद्दं चेइयं।

वह चैत्य पचरंगी सरस सुगन्धित, ढेर के ढेर डाले गये फूलो की पूजा से कलित ( = शोभित) था। काले अगर,

---

* क्वचिदिदं न दृश्यते-टी०।

× वाचनान्तरे-'यागभागदाय सहस्स पडिच्छए'।

श्रेष्ठ कुंदुरुक्क और तुरुक्क के धूप की महक से युक्त गंध के द्वारा (वातावरण) अभिराम (=मनोरम) बना रहता था। सुगंध से सुवासित रहता था। महक की लपटें उठा करती थी—सुगंधित धूएँ की इतनी प्रचुरता थी कि जिससे (गध की) गोल गुटिकाएँ (=छल्ले) वन रही थी। वह चैत्य नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विदूषक (=हास्यकला-मर्मज्ञ),प्लवक (=तैराक या वानरचेष्टा करनेवाले) कथावाचक (=कथक), रासको के आलपक, भविष्य भाखनेवाले, बाँस के अग्रभाग पर खेलनेवाले, देवता-वीर आदि से सम्बन्धित चित्रपट दिखलानेवाले, तुनतुनी बजानेवाले, वीणा-वादक, भुजग-भोगि या भोजक—पुजारी (=भुयग) और मागध (=भाट, यशो-गान के गायको) से पूरा भरा रहता था। बहुत से पुर-निवा-सियो और देश—निवासियो में उसकी कीर्ति कर्ण-परम्परा से फैली हुई थी। बहुत से नागरिको—आहोता (=दानियो—पूजको) के लिये (वह)आह्वान करने योग्य,विशिष्ट रीतियो से आह्वान करने योग्य, चन्दन आदि सुगंधित द्रव्यो से अर्चना करने योग्य, स्तुतियो से वदना करने योग्य, अगो को झुकाकर नमस्कार करने योग्य, फूलो से पूजने योग्य, वस्त्रो से सत्कार करने योग्य, मन से आदर देने योग्य, कल्याण—मगल—देव और इष्टदेव रूप (में मानकर) विनय सहित पर्युपासना करनें योग्य, दिव्य सत्य, (वाँछित) उपायो को सत्य बनाने वाला, सेवा को निष्फल नही जाने देनेवाला, दिव्य प्रातिहार्य

(=अतिशय, अतीन्द्रिय कार्य) से युक्त और हजारों प्रकार की पूजा को चाहनेवाला था। बहुजन पूर्णभद्र चैत्य पर आ-आकर के अर्चना करते थे।

टिप्पण-४ 'पुण्णभद्दं चेइयं पुण्णभद्दं चेइयं। इति अत्र द्विर्वचनं भक्ति-सम्भ्रम-विवक्षयेति। अर्थात् 'पुण्णभद्दं चेइयं' इस पद की पुनरावृत्ति जनता की भक्ति के आवेश को दरसाती है।

५ इस सूत्र में चैत्य की स्थिति, उसका होनेवाला उपयोग और उसके प्रति जनसमाज की भावना का वर्णन किया गया है। प्रायः उस व्यंतरायतन में, विविध कारणों से लोगों की बहुत ही आस्था थी। उनकी दृष्टि के अनुसार उनके लिये वह पूजनीय-अर्चनीय और सत्य आदि था। अतः यह सूत्र 'बहुजन' की दृष्टि की ओर संकेतमात्र कह रहा है-सूत्रकार की दृष्टि का इसके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस बात की पुष्टि 'बहुजणजाणवयस्स' 'बहुजणस्स आहुस्स' सूत्रांशों से भी होती है।

शंका-सूत्रकार जब उस दृष्टि से सहमत नहीं है, तब फिर उसका इतना लम्बा, अलंकृत भाषा में आँखों के सामने वैसा ही दृश्य खड़ा करने की क्या आवश्यकता थी?-'जैसा हो वैसा' वर्णन करना, सूत्रकार को इष्ट हो सकता है। किन्तु ऐसे वर्णनों को किस ध्यान -किस भावना के अन्तर्गत गिनें? क्योंकि वीतराग-मार्ग वही स्वाध्याय-ध्यान उत्तम और कर्त्तव्य है, जो वीतरागता का पोषक हो। क्या यह विकथा-सन्मार्ग से विचलित करनेवाला कथन-नहीं है?

समाधान-पहली बात, इस स्थान का वर्णन इसलिए हुआ है कि भगवान् महावीर देव का वहाँ पदार्पण होगा। शासन-नायक के ध्यान रूप गुप्त पतले तागे में ये सूत्ररूप मणि पिरोये गये हैं। अतः वर्णन में तटस्थवृत्ति का निर्माण हो रहा है। रसमय वर्णन करते हुए भी सूत्रकार

की उदासीन–मध्यस्थ दृष्टि, अंकुश का कार्य करती हुई स्पष्ट झलक रही है। दूसरी बात, अलंकृत भाषा में हूबहू वर्णन करनें का यह आशय स्पष्ट होता है, कि भगवान् महावीर देव अपनें निवास के लिये कैसे स्थान चुनते थे और उसमें कौन-सा ध्येय गर्भित होता था–यह स्पष्ट हो जाय। तीसरी बात, विषय–वर्णन मात्र से ध्यान और सद्भावना का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु विषय–वर्णन के लक्ष्य, ढलाव और विचारक–ध्याता की वृत्ति से विशेष सम्बन्ध है। ध्यान और अनुप्रेक्षा के, नरक और स्वर्ग, शृंगार और वैराग्य, नृशंस और करुण, कठोर और कोमल, दूषण और भूषण, संसार और अपवर्ग–आदि सभी विषय और प्रसंग आधार हो सकते हैं–कायम रहना चाहिए, जिन-आज्ञा का भान और उदासीन तटस्थ वृत्ति। ऐसा हो, तभी आत्म-समाधि, आवेश-रहित दशा स्थिर रह सकती है और तभी वे विचार शान्तरस के स्थायी भाव बन सकते हैं। रसवृत्ति जागृत होते ही उदासीन वृत्ति–आत्मभान गायब हो जाता है और जिन-आज्ञा का विस्मरण। आकुलता बढ़ती है। अतः वे विचार, उत्पन्न होने वाले विकारी भावो के अनुसार, शृंगारादि रसों का नाम धारण करते है और विकथा बन जाते है, आर्त्त-रौद्र ध्यान की गिनती में चले जाते है। इस सूत्र में लोगों की भूलभूलैया में फँसी भावना के प्रति सूत्रकार की करुणा का दर्शन हो रहा है और 'बहुजन के लिये' 'पुजारियों के लिये' आदि पदों से और जनता के आवेश के वर्णन से, जनभावना और जिन-आज्ञा का विलगाव किया गया है, अतः विकथा नहीं। कीचड़ से निकलने के लिये होनें वाला कीचड का मर्दन, पंक-क्रीड़ा नहीं, किन्तु पंक-तरण है।



## वनखण्ड वर्णन

३— से णं पुण्णभद्दे चेइए एक्केणं महया वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। से णं वणसंडे किण्हे किण्होभासे, नीले नीलोभासे, हरिए हरिओभासे, सीए सीओभासे, णिद्धे णिद्धोभासे, तिव्वे तिव्वोभासे; किण्हे किण्हच्छाए, नीले नीलच्छाए, हरिए हरियच्छाए, सीए सीयच्छाए, णिद्धे णिद्धच्छाए, तिव्वे तिव्वच्छाए, घण-कडिअ-कडिच्छाए; रम्मे महामेह णिकुरंबभूए।

वह पूर्णभद्र चैत्य (=व्यंतरायतन) एक बहुत बडे वनखण्ड से, दिशा-विदिशा में चारो ओर से घिरा हुआ था। उस वनखण्ड का अवभास (=झांकी) और छाया (=कांति, दीप्ति) काली, नीली, हरी, शीतल, स्निग्ध (=चमकीली) और तीव्र (=इन्द्रियोत्तेजक) थी। वह स्वयं भी इन गुणों से युक्त था। वह शाखाओ के परस्पर चटाई के समान गुंथ जाने के कारण, घनी छाँह से युक्त था। उसका (दृश्य) महामेघ की घिरी हुई घटा के समान रम्य था।

टिप्पण—१ दृश्य के वर्णन में 'कृष्ण' आदि शब्द दुवारा आये है। किन्तु इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है। क्योंकि वे शब्द पहली वार 'अवभास' के और दूसरी वार छाया के विशेषण के रूप में आये है (–टी.) और उन विशेषण युक्त पदों के पहले आये हुए 'कृष्ण' आदि वनखण्ड के विशेषण कार्य-कारण भाव के सूचक है।

२ 'अवभास' और 'छाया' कें छह विशेषण हैं। जिनके तीन, दो और एक के तीन वर्ग बन जाते हैं। पहला वर्ग चाक्षुष्-अनुभूति, दूसरा वर्ग अचाक्षुष्-अनुभूति और तीसरा एक विशेषण मिश्रअनुभूति के विषय में है।

वृक्ष-जाति की विविधता और पत्तों की वय-विभिन्नता के अनु-सार, दूर से प्रदेशान्तर में दिखाई देनेंवाले तिरंगें दृश्य का वर्णन करके, बाद में उसकी होनेंवाली असर का उल्लेख किया गया है। वह असर दृश्य-दर्शन के पश्चात् मनोवेग-जनित या दृश्य की प्रभा और दीप्ति के पुद्गलों और स्पर्शनेंन्द्रिय के सम्बन्ध से जनित होना संभव है।

३ 'हरितस्तु शुकपुच्छवत्, हरितालाभ इति वृद्धाः' 'शीतः स्पर्शापेक्षया, बल्याद्याक्रान्तत्वात् इति वृद्धाः' इन पदों की व्याख्या में, टीकाकार नें वृद्ध और निज की व्याख्या में यह अन्तर बताया है।

'छाया' की व्याख्या टीका० नें 'छाया चादित्यावरणजन्यो वस्तुविशेषः की है।

ते णं पायवा मूलमंतो कंदमन्तो खंधमंतो तयामंतो सालमंतो पवालमंतो पत्तमंतो पुप्फमंतो फलमंतो बीयमंतो• अणुपुव्व-सुजाय-रुइल-वट्टभाव-परिणया,[एक्कखंधा अणेग-साला] अणेग-साह-प्पसाह-विडिमा अणेग-नर-वाम-सुप्प-सारिअ-अगेज्भ-घण-विउल-वद्ध-खंधा+, अच्छिद्दपत्ता

---

• 'हरियमन्ते' त्ति क्वचिद् दृश्यते।

+ वाचनान्तरेऽत्र स्थानेऽधिकपदान्येवं दृश्यन्ते—'पाईणपडिणायय-साला उदीणदाहिणविच्छिण्णा ओणय-नय पणय विप्पहाइय ओलम्ब पलम्ब साहप्पसाह-विडिमा अवाईणपत्ता अणुईण्णपत्ता'।



**अविरलपत्ता अवाईणपत्ता अणाईअपत्ता णिद्धूय-जरढ-पंडु-पत्ता, णव-हरिय-भिसंत-पत्त-भारंधकार-गंभीर-दरिसणिज्जा, उवणिग्गय-णव-तरुण-पत्त-पल्लव-कोमल-उज्जल-चलंत-किस-लय-सुकुमाल-पवाल-सोहिय-वरंकुरग्ग-सिहरा;**

उस वन के वृक्ष मूल, कंद ( =जडों का ऊपरी हिस्सा, जहाँ फूटकर जडें फैलती है–थड़ के नीचे का भाग ), स्कंध, छाल, शाखा, प्रवाल ( =पत्तों की अंकुरित अवस्था ), पत्र पुष्प, फल और बीज से सम्पन्न थे। वे क्रमशः उत्तम ढंग से वढ़े हुए थे, सुन्दर थे और गोलाई में परिणत होगये थे [ एक थड़ और अनेक शाखाएँ थीं ]। अनेक शाखा-प्रशाखाओ के द्वारा मध्य भागवाले या विस्तृत बने हुए थे। अनेक व्यक्तियों की पसारी हुई भुजाओ से भी न पकड़े जा सके ऐसे (उनके) सघन और मोटे बने हुए थड़ थे। उनके पत्ते छिद्र रहित, घने ( =एक-दूसरे पर छाये हुए ), अधोमुख और ईति ( =स्वजातीय या विजातीय तत्त्वों से होनेवाली हानि और चूहे, टिड्डी आदि क्षुद्र जंतुओ के उपद्रव) से रहित थे। उनके पुराने-जर्जर पीले पत्ते खिरा दिये जाते थे। हरे चमकते हुए नये पत्तों के भार से, वहाँ अंधेरा छाया रहता था और गंभी-रता दिखाई देती थी। वे वृक्ष ताजे-ताजे नये पुष्ट पत्तो, कोमल, उज्ज्वल और हिलते हुए किशलयों ( =अपक्व पत्तो) और प्रवाल( =ताम्बे के-से रंगवाले निकलते हुए कोमल पत्तों) से शोभित श्रेष्ठ अंकुर रूप शिखर को धारण किये हुए थे।

टिप्पण—४ अर्थ—विकल्प—अवाईणपत्ता ( = अवातीनपत्रा) = हवा के प्रवल झोकों को सहन करने में समर्थ—मजबूत डंठल से युक्त पत्ते वाले (—टी०)।

**णिच्चं कुसुमिया णिच्चं माइया णिच्चं लवइया णिच्चं थवइया णिच्चं गुलइया णिच्चं गोच्छिया णिच्चं जमलिया णिच्चं जुवलिया णिच्चं विणमिया णिच्चं पणमिया, णिच्चं कुसुमिय -माइय-लवइय -थवइय -गुलइय -गोच्छिय-जमलिय- जुवलिय -विणमिय-पणमिय -सुविभत्त-पिंड -मंजरि -वडिंसयधरा;**

उनमें कई वृक्ष वारहो मास फूलते थे, कई सदा मंजरियो से लदे रहते थे, कई नित्य पत्रभार से झूमते थे, कई हमेशा फूलों के गुच्छों से लदे रहते थे, कई पत्तों के गुच्छों से नित्य शोभित होते थे, कई गुलमवाले थे, कई समश्रेणि रूप से सदा स्थित थे, कई नित्य युगल रूप से स्थित थे, कई फल-फूलादि के भार से सदा झुके रहते थे, कई सदा झुकने प्रारंभ हुए हो ऐसे स्थित रहते थे और कई इन सभी गुणो से युक्त थे। वे समस्त गुणो के धारक वृक्ष, सुन्दर रूप से बने हुए लुम्बो और मजरियो के सेहरे ( = अवतंसक = कलँगियाँ) को सदा धारण किये रहते थे।

**सुय - वरहिण - मयण - साल - कोइल - कोहंगक - भिंगारक-कोंडलक-जीवंजीवक-णंदीमुह-कपिल-पिंगलक्ख -कारंड -चक्क-वाय-कलहंस-सारस-अणेग-सउणगण-मिहुण -विरइय-सद्दुण्ण-**

इय-महुर-सर-णाइए सुरम्मे, संपिंडिय-दरिय-भमर-महुकरि-पहकर-परिलिन्त -मत्त -छप्पय -कुसुमासव-लोल-महुर - गुम-गुमंत-गुंजंत-देसभागे, अब्भंतर -पुप्फ-फले-बाहिर-पत्तोच्छण्णे, पत्तेहि य पुप्फेहि य उच्छण्ण-पडिवलिच्छण्णे [साउफले * निरोयए अकंटए णाणाविह × -गुच्छ-गुम्म-मंडवग-रम्म - सोहिए] रम्मे +, विचित्त-सुह-केउभूए * वावी-पुक्खरिणी-दीहियासु य सुनिवेसिय-रम्म-जालहरए ।

वह वनखण्ड शुक, मोर, मयणसाल (=मैना या कावर), कोयल, कोहंगक, भिंगारक, कोंडलक, जीवंजीवक (=चकोर), नदीमुख, कपिल, पिंगलाक्ष, कारंड (=बत्तख), चक्र-वाक, कलहंस और सारस आदि अनेक पक्षियो के जोड़े के द्वारा विरचित शब्दों की उन्नति, और मधुर स्वरो के आलाप से प्रतिध्वनित रहता था। जिससे उसकी रम्यता बढ़ जाती थी। उन्मत्त भौरे और मधुमक्खियो (=महुकरि) के समूह एकत्रित होकर, वही लीन हो जाते थे और पुष्प-रस के लोभ से, मत्त षट्पद (=सभी जाति के भौरे) गुन-गुन करते हुए, इधर-उधर गुंजन करते रहते थे।

वृक्ष भीतर से फल-फूल से युक्त और बाहर से पत्तो से

---

* एतानि त्रीण्यपि क्वचित् वृक्षाणां विशेषणानि दृश्यन्ते-साउ-फले.... × क्वचित्। + क्वचिन्न दृश्यते। * 'विचित्त सुह-सेउ-केउ बहुले' त्ति पाठान्तरम्।

ढँके हुए थे–पत्तों और फूलों से पूरे लदे हुए थे [ उनके फल मीठे थे और वे रोग-रहित निष्कंटक थे। वह वनखण्ड विविध गुच्छ, गुल्म (=लताकुंज), लतामण्डप आदि के द्वारा रम्य लगता था–शोभा पा रहा था ]। वहाँ चौकोण बावडियों, गोलबावडियो और लम्बी बावड़ियों मे, रंग-बिरंगी शुभ ध्वजाओ से युक्त, सुन्दर ढग से बने हुए रम्य जालगृह ( =जालीवाले घर) थे।

पिंडिम-णीहारिम-सुगंधि-सुह-सुरभि-मणहरं च महया गंध-द्धणिं मुयंता णाणाविह-गुच्छ-गुम्म-मंडवक-घरक-सुह-सेउ-केउ-बहुला अणेग-रह-जाण-जुग्ग-सिविय-पविमोयणा सुरम्मा पासादीया + दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

वह वृक्ष समूह,दूर तक पहुँचनेवाली सुगन्धि के सञ्चित परमाणुओ की शुभ महक के द्वारा मन को हर लेता था। क्योंकि वह विपुल तृप्तिकारक सुगंधि को छोड़ता–रहता था। वहाँ विविध गुच्छ, गुल्म, मंडप, घर, सुखप्रद मार्ग या क्यारियों की पालियाँ और ध्वजा की बहुलता थी। उसमें रथ, यान, डोलियाँ और पालखियाँ के प्रविमोचन ( =ठहराने के स्थान) थे। इस प्रकार वे वृक्ष चित्त के लिये आह्लादक, नयनाभि-राम, मनोरम और हृदयाकर्षक थे।

---

+ 'सुरम्मा.....' त्ति एतान्येव वृक्षविशेषणानि वनखण्ड-विशेषण-तया वाचनान्तरेऽधीतानि।

## अशोकवृत्त

४—तस्स णं वणसंडस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एक्के असोगवरपायवे पण्णत्ते। कुम●-विकुस-विसुद्ध -रुक्ख-मूले मूलमंते कंदमंते जाव पविमोयणे सुरम्मे पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे।

उस वनखण्ड के लगभग मध्यभाग में एक विशाल अशोकवृक्ष था। वह सुन्दर था। उसवृक्ष का मूल कुश (=दर्भ) और विकुश (=घास) आदि से रहित विशुद्ध था। उसके मूल आदि दसो अंग श्रेष्ठ थे। वह सभी गुणो (यावत् प्रविमोचन तक के वनखण्ड के वृक्षो के विषय में कथित विशेषताओं) से युक्त सुरम्य, चित्त आह्लादक.....था।

से णं असोग-वर-पायवे-अण्णेहिं बहूहिं तिलएहिं लउएहिं छत्तोवेहिं सिरीसेहिं सत्तवण्णेहिं दहिवण्णेहिं लोद्धेहिं धवेहिं चंदणेहिं अज्जुणेहिं णीवेहिं कुडएहिं कलंबेहिं सव्वेहिं फणसेहिं दाडिमेहिं सालेहिं तालेहिं तमालेहिं पियएहिं पियंगूहिं पुरोवगेहिं रायरुक्खेहिं णंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता

---

● अशोक-पादपवर्णके क्वचिदिदमधिकमवीयते—'दूरोवगय कदमूल वट्ट-लट्ठ संठिय सिलिट्ठ घण मसिण णिद्ध सुजाय निरुवह उव्विद्ध पवर खंधी अणेगनर पवर भुया-गेज्झो कुसुम भर समो नमंत पत्तल विसाल सालो महुकरि भमर गण गुमगुमाइय निलित उड्डित-सस्सिरीए णाणा सउण गण मिहुण सुमहुर कण्णसुह पलत्त सद्द महुरे'।

संपरिक्खित्ते। ते णं तिलया लवइया जाव णंदीरुक्खा कुस-विकुस-विसुद्ध-रुक्खमूला मूलमंतो कंदमंतो एएसिं वण्णओ भाणियव्वो जाव सिविय-पविमोयणा सुरम्मा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

वह अशोकवृक्ष तिलक, लकुच, छत्रोप, शिरीष, सप्त-पर्ण. दधिपर्ण, लोध्र, धव, चदन, अर्जुन, नीप, कुटज, कदम्ब, सव्य, पनस, दाडिम, शाल, ताल, तमाल, प्रियक, प्रियंगु, पुरोपग, राजवृक्ष और नंदिवृक्ष–इन वृक्षो से चारो ओर से घिरा हुआ था। वे वृक्ष भी कुश-विकुश से रहित–विशुद्ध मूलवाले, स्वस्थ मूलवाले, कंदवाले ( इन वृक्षो का वर्णन 'सिविय-पविमोयणा' तक कहना चाहिए ) सुरम्य, चित्त को प्रसन्न करनेवाले दर्शनीय..... थे।

ते णं तिलया जाव णंदिरुक्खा अण्णेहिं बहूहिं पउमलयाहिं णागलयाहिं असोअलयाहिं चंपगलयाहिं चूयलयाहिं वण-लयाहिं वासंतियलयाहिं अइमुत्तयलयाहिं कुंदलयाहिं साम-लयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। ताओ णं पउम-लयाओ णिच्चं कुसुमियाओ जाव वडिंसयधरीओ पासा-दीयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ।

वे तिलक (से लगाकर) नंदि (तक के) वृक्ष अन्य बहुत-सी पद्मलताओ, नागलताओं, अशोकलताओं ( =कङ्कैली ), चम्पकलताओ, सहकारलताओ वनलताओ (पीलुक), वासंती-

लताओं, अतिमुक्तकलताओं, कुंदलताओं और श्यामलताओं (=प्रियंगु) से चारो तरफ घिरे हुए थे। वे लताएँ हमेशा फूलनेवाली (से लगाकर) श्रेष्ठ अंकुरों के सेहरो (तक की विशेषताओं) से परिमंडित चित्त-प्रसन्नकारक.......थीं।

## शिलापट्टक वर्णन

५-- तस्स णं असोगवर पायवस्स हेट्ठा ईसिं खंध-समल्लीणे एत्थ णं महं एक्के पुढवि-सिलापट्टए पण्णत्ते। विखंभायाम-उस्सेह-सुप्पमाणे, किण्हे अंजण * -घण-किवाण-कुवलय-हलधर-कोसेज्जागास-केस-कज्जलंगी-खंजण-सिंगभेद-रिट्ठय-जंबूफल-असणक-सणबंधण-णीलुप्पल-पत्त-निकर-अयसि-कुसुम-प्पगासे मरगय-मसार-कलित्त-णयण-कीय-रासिवण्णे, णिद्धघणे अट्ठसिरे आयंसय-तलोवमे सुरम्मे; ईहामिय-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-वालग-किण्णर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउम-लय-भत्तिचित्ते, आईणग-रूय-

* वाचनान्तरे पुनः शिलापट्टक वर्णकः किञ्चिदन्यथा दृश्यते-'अंजणगघण कुवलयहलधरकोसेज्जागास केस कज्जल कक्केयणिदणील-अयसि-कुसुमप्पगासे भिंगंजण सिंगभेय-रिठ्ठग-णीलगुलिय-गवल-अइरेग-भमर-निकुरंबभूए जम्बूफल-असण-कुसुम-बंधण-नीलुप्पल-पत्त-निकर-मरगय-आसासग-नयणकीय-रासिवण्णे णिद्धे रूवगपडिरूव-दरिसणिज्जे मुत्ता-जाल-खइयंतकम्मे'।

बूरणवणीय-तूल-फरिसे सीहासण-संठिए, पासादीए दरिसणीज्जे अभिरूवे पडिरूवे ।

वहां उस श्रेष्ठ अशोक वृक्ष के नीचे, उसके थड़ के कुछ समीप पृथ्वी का एक बड़ा शिलापट्टक था। उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई उत्तम प्रमाण से युक्त थी। वह काला था। अञ्जन, मेघ, कृपाण, नीलकमल, बलदेव के वस्त्र, आकाश, केश, काजल के घर, काजली, सींग के भीतरी हिस्से, रिष्टक रत्न, जाम्बूफल, बीयक नामकी वनस्पति, सन के फूल के डठल, नीलकमल के पत्तों के समूह और अलसी के फूल के समान उसकी प्रभा थी और मरकत, इन्द्रनील मणि, कटित्र (=एक प्रकार के चमड़े या कमर पर बांधने के एक जात के चमड़े के कवच) और आँखो की तारा की राशि के समान वर्ण था। वह अति स्निग्ध, अष्टकोण, दर्पण के तले के समान (चमकीला) और सुरम्य था। ईहामृग, वृषभ, अश्व, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, रुरु, सरभ (=अष्टापद), चमर, हाथी, वनलता और पद्मलता के भित्तिचित्रों से युक्त था। उसका स्पर्श आजीनक (=मृगचर्म या सुकोमल चर्मवस्त्र), रूई, बूर, मक्खन और आक की रूई के समान मृदु—कोमल था। सिंहासन के समान आकार था। चित्त प्रसन्नकारक, दर्शनीय, सुन्दर और मन से भुलाया न जा सके वैसा वह था।



## राजा वर्णन

६—तत्थ णं चंपाए णयरीए कूणिए णामं राया परिवसइ । महया- हिमवंत-महंत-मलय-मंदर-महिंद-सारे, अच्चंत-विसुद्ध-दीह-रायकुल-वंस-सुप्पसूए णिरंतरं राय-लक्खण-विराइअंगमंगे (×बहुजण-बहुमाण पूइए सव्वगुण समिद्धे खत्तिए) मुइए मुद्धाहिसित्ते माउ-पिउ-सुजाए,

उस चम्पा नगरी में 'कूणिक' नाम का राजा रहताथा। वह महाहिमवान् पर्वत के समान महान् और मलय, मेरु और महेन्द्र पर्वत के समान प्रधान था। अत्यन्त विशुद्ध, चिरकाल से राजकुल के रूप में प्रख्यात वंश में (उसका) खुशहाल में जन्म हुआ था। उसके अंग निरन्तर राजलक्षणों से सुशो-भित थे। बहुत-से मनुष्य उसका बहुमान करते थे-पूजा करते थे। क्योंकि वह सभी गुणो से समृद्ध था-आक्रमण से जनता को बचाता (=क्षत्रिय) था। और प्रसन्न रहता था। वैधानिक रूप से राजा स्वीकार किया जा चुका था। अपने माता-पिता का योग्य पुत्र था-विनीत था।

दयपत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे, मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपाले जणवय-पुरोहिए, सेउकरे केउकरे, णरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसवग्घे पुरिसासीविसे-पुरिस-

---

× (बहुजण..... .खत्तिए) एतानि पदानि टीकायां न दृश्यन्ते ।

पुंडरीए पुरिसवर-गंधहत्थी, अड्ढे दित्ते वित्ते,विच्छिण्ण-विउल भवण-सयणासण-जाण-वाहणाइण्णे बहुधण-बहुजाय-रूव-रयते आओग-पओग-संपउत्ते, विछड्डिअ-पउर-भत्तपाणे बहु-दासी-दास-गो-महिस-गवेलग-प्पभूए पडिपुण्ण जंत-कोस-कोट्ठागाराउधागारे;

उसमें करुणा प्रमुख कोमल गुणों का विकास हुआ था। वह मर्यादा का कर्त्ता, की हुई मर्यादा का पालक, उपद्रव रहित अवस्था का वनानेवाला और प्राप्त हुई निरुपद्रव दशा का योग्य साधनो से स्थिर कर्त्ता था। (परम ऐश्वर्य के कारण) मनुष्यो में इन्द्र के समान था, (जनता के हित का इच्छुक होने के कारण) देश का पिता, (रक्षक होने के कारण) देश का पालक, (शान्ति करने के कारण) देश का पुरोहित, मार्ग-दर्शक, (अद्भूत कार्य करके) आदर्श स्थापित करनेवाला और अति श्रेष्ठ नर रूप निधि का मालिक या अत्यन्त श्रेष्ठ मनुष्यों का आश्रयदाता था। पुरुषों में श्रेष्ठ = प्रधान, पुरुषो में सिंह (= आतङ्क जमाने वाला)। पुरुषों में व्याघ्र (= रौद्ररूप, उग्र), पुरुषो में आशीविष-सर्प (= कोप को सफल करने की शक्तिवाला), पुरुपो में सफेद कमल (= सुखार्थियो से सेवित) और पुरुषो में गंधहस्ति के समान (= विरोधी राजा रूप हाथियों का भञ्जक) था। अतः वह समृद्ध, दर्पवान् और प्रसिद्ध था। (उसके यहाँ) अनेकों विशाल भवन, सोने-बैठने के आसन, यान (= रथ आदि) और वाहन (= अश्व आदि)

की अधिकता थी। बहुत सारा धन, सोना और रूपा था। वह अर्थलाभ के अनेक उपायों का प्रयोग करता रहता था। उसके यहाँ से (बहुत-से व्यक्तियो के भोजन-दान के बाद बचा हुआ या जूठन रूप) प्रचुर भोजन-पान फेंका जाता था अथवा विविध प्रकार का प्रचुर भात-पानी होता था। उसके अनेक दासी-दास थे और गायें, भैसें और भेड़ों की बहुलता थी। सब तरह के यन्त्र, कोश (=खजाना), कोठार और शस्त्रागार भरपूर थे।

**बलवं दुब्बल-पच्चामित्तं, ओहयकंटयं निहयकंटयं मलिअकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं, ओहयसत्तुं निहयसत्तुं मलियसत्तुं उद्धिअसत्तुं निज्जियसत्तुं पराइअसत्तुं, ववगय–दुब्भिक्खं मारि-भय-विप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं+ पसंत-डिंब–डमरं रज्जं •पसासेमाणे विहरइ।**

उसके पास प्रबल सेना थी। उसने अपने राज्य के सीमान्त-प्रदेश के राजाओं या अपने पडोसी राजाओ को दुर्बल बना दिये थे। उसने अपने गोत्र में उत्पन्न विरोधियो समान आकांक्षियो का विनाश कर दिया था, उनकी समृद्धि का अपहरण कर लिया था, उनके मान को भंग कर दिया था और उन्हें अपने देश से निकालकर, बाहर कर दिया था। अतः

+ 'पसंताहियडमरं' इति क्वचित्पाठः।

• 'पसाहेमाणे' त्ति क्वचित्पाठः।

उसका कोई भी गोत्रज विरोधी शेष नही रहा था। इसी तरह शत्रुओं का (=भिन्न गोत्रोत्पन्न विरोधियों का) भी विनाश कर दिया था, वैभव-धन छीन लिया था, मान भंग कर दिया था, उन्हे देश से बाहर निकाल दिया था, अपने प्रभाव से जीत लिया था और पुनः शिर न उठा सके ऐसी हालत में पहुँचा दिया था। अतः वह दुर्भिक्ष, मारि और भय से मुक्त, क्षेम (=निरुपद्रव) कल्याणमय, सुभिक्षयुक्त और विघ्न (=राजकुमारादि कृत अराजकता) से रहित राज्य का शासन करता हुआ रहता था।

टिप्पण—१ 'मुइए' का अर्थ-विकल्प—

निर्दोष मातृपक्ष, जैसा कि कहा है—'मुइओ जो होइ जोणिसुद्धो' अर्थात् वह 'मुइय' है जिसकी योनि (=उत्पत्ति-स्थान) शुद्ध हो।

२ धनं-गणिम-धरिम-मेय-परिच्छेद्य-भेदाच्चतुर्धा—

'गणिमं जाईफल-फोफलाइं, धरिमं तु कुंकुम-गुडाइं।
मेज्जं चोपड-लोणाइं, रयण-वत्थाइ परिछेज्जं ॥'

—(धर्मसंग्रह)

अर्थात् धन के गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य—ये चार प्रकार होते हैं—

(१) गणिम (=गिने जानें योग्य)—जायफल, सुपारी आदि,
(२) धरिम (=तोले जाने योग्य)—कुंकुम, गुड़ आदि,
(३) मेय (=मापे जाने योग्य)—तेल-घी, नमक आदि और
(४) परिच्छेद्य (=परीक्षा किये जाने योग्य) रत्न-वस्त्र आदि।

## राणी वर्णन

७— तस्स णं कोणियस्स रण्णो धारिणी नामं देवी होत्था । सुकुमाल-पाणि-पाया अहीण-पडिपुण्ण-पंचिंदिय-सरीरा लक्खण-वंजण-गुणोववेआ माणुम्माण-प्पमाण-पडिपुण्ण-सुजाय-सव्वंग-सुंदरंगी ससि-सोमाकार-कंत-पिय-दंसणा सुरूवा,

उस कूणिक राजा की धारिणी नाम की रानी थी । उसके हाथ-पैर सुकोमल थे । पाँचों इन्द्रियाँ और शरीर (लक्षण की अपेक्षा से) खामियों से रहित और (स्वरूप की अपेक्षा से) परिपूर्ण या पवित्र था । वह (स्वस्तिक आदि) लक्षण, (तिल, मष आदि) व्यंजन और गुणों से युक्त थी । माप, भार और आकार-विस्तार से परिपूर्ण और सुन्दर बने हुए समस्त अंगोंवाला उसका शरीर था । उसका आकार चंद्र के समान सौम्य और दर्शन कान्त और प्रिय था । इस प्रकार उसका रूप बहुत सुन्दर था ।

टिप्पण—१

मान—'मनुष्य-प्रमाण, पूरे जल से भरे हुए कुण्ड में मनुष्य को बिठाने पर, उसमें से यदि द्रोण-प्रमाण जल बहकर निकल जाय तो उस मनुष्य का उचित मान' माना जाता है । (—टी०)

चार प्रस्थ = एक आढक । चार आढक = एक द्रोण ।

एक प्रस्थ लगभग एक सेर के बराबर माना जाता है ।

उन्मान—आधे भार के बराबर जिसका बोझ हो, उसका उचित उन्मान माना जाता है। (—टी०)

प्रमाण—जिसकी ऊँचाई अपने अंगुल से एक सौ आठ अंगुल के बराबर हो, उसकी ऊँचाई योग्य मानी जाती है। —टी०

करयल-परिमिअ-पसत्थ-तिवलिय-वलिय-मज्झा कुंडलुल्लिहिअ गंडलेहा * कोमुइ-रयणियर-विमल-पडिपुण्ण-सोम-वयणा सिंगारागार-चारुवेसा-संगय-गय-हसिअ-भणिअ-विहिअ-विलास-सललिअ-संलाव-णिउण-जुत्तोवयार-कुसला× पासादीआ दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा—

कोणिएणं रण्णा भंभसार-पुत्तेणं सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुब्भवमाणी विहरइ।

उसकी कमर करतल-परिमित (=पतली) थी और (मध्यभाग) प्रशस्त त्रिवली (=पेट पर पड़ने वाली मुडी हुई तीन रेखाओ) से युक्त थी। कुण्डलों के द्वारा जिसके कपोलों—गालो की रेखा सतेज कर दी गई थी। मुख शरदपूनम के चाँद के समान विमल, परिपूर्ण और सौम्य था। शृंगार रस के आगार (=घर) के समान सुन्दर वेश था। उसकी चाल, हँसी, बोली,

---

* 'कुण्डलोल्लिखित पीनगंडलेखे' ति पाठान्तरम्।

× क्वचिदिदमन्यथा दृश्यते—'सुन्दर थणजघणवयणकरचरण नयण-लावण्ण विलास कलिया'।

अंगचेष्टा और आँखो की चेष्टा संगत (=उचित) थी। वह प्रसन्नता से युक्त वार्तालाप करने में निपुण थी और योग्य लोक-व्यवहार में दक्ष थी। अतः वह चित्त के लिये आकर्षक, नयना-भिराम और सौन्दर्य की प्रतिमा थी–मन में उसकी सोम्य मूर्ति-अङ्कित हो जाती थी। वह भंभसार के पुत्र कूणिक राजा के साथ बहुत ही प्रीति रखती थी–राजा के द्वारा अप्रिय प्रसंग आने पर भी विरक्त नहीं होती थी और इष्ट शब्द (=संगीत आदि) रूप (=नाटक आदि); गंध (=फूल, इत्र, धूप आदि), रस (=खाद्य पदार्थ) और स्पर्श (=वस्त्राभूषण, मकान-शय्या, मर्दन, शीत-उष्णता की अनुकूलता आदि) ये पाँच तरह के मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगो को बारबार भोगती हुई रहती थी।

## कूणिक की भगवद्भक्ति

**८– तस्स णं कोणिअस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउल-कय-वित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए, भगवओ तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेएइ। तस्स णं पुरिसस्स बहवे अण्णे पुरिसा दिण्ण-भति-भत्त-वेअणा भगवओ पवित्तिवाउआ भगवओ तद्देवसिअं पवित्तिं निवेदेंति।**

उस कूणिक राजा ने, भगवान् की (विहारादि) प्रवृत्ति को जानने के लिये, एक पुरुष को विपुल वृत्ति (=आजीविका)

देकर, नियुक्त किया था, जो भगवान् की उस दिन-सम्बन्धी (=प्रत्येक दिन की) प्रवृत्ति का, उससे निवेदन करता था। उस पुरुष के भी-बहुत-से अन्य पुरुष भगवान् की प्रवृत्ति के निवेदक थे, जिन्हे दैनिक आजीविका और भोजन रूप वेतन देकर रोक रखे थे। वे उसे भगवान् की दैवसिक प्रवृत्ति के समाचार देते थे।

टिप्पण--'वृत्तिप्रमाणं च इदम्--अर्द्धत्रयोदश-रजत सहस्राणि, यदाह-मंडलियाणं सहस्सा पीइदाणं सयसहस्सा'--अर्थात् वृत्तिका प्रमाण साढ़े बारह हजार रजतमुद्राएँ है। क्योंकि कहा है--'माण्डलिकों की ओर से (वृत्ति) हजारों की (संख्या में) और प्रीतिदान सौ-हजारों (=लाखों) की (संख्या में दिया जाता है)।

६-- तेणं कालेणं तेणं समएणं कोणिए राया भंभसार-पुत्ते बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए अणेग-गणनायग-दंडनायग-राईसर-तलवर-माडंबिअ-कोडंबिअ-मंति-महामंति-गणग-दोवारिअ-अमच्च-चेड-पीढमद्द-नगर-निगम-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संधिवाल-सद्धिं संपरिवुडे विहरई।

उस काल और उस समय मे भंभसार का पुत्र कूणिक राजा, बाहरी सभा भवन में अनेक गणनायकों, दण्डनायको (=तन्त्र के रक्षकों), राजाओं, युवराजाओं, तलवरों (=राजा के द्वारा सम्मान सहित दिये गये रत्नपट्टक के धारक धनिको), माडम्बिकों (=दूर-दूर पर फ़ैली हुई और बीच की

भूमि में आसपास बस्ती से रहित बस्तियो के स्वामियों), कुटुम्बो के आगेवानो, मन्त्रियों, महामन्त्रियो, गणको (=ज्योतिषियो), दौवारिकों (=प्रतिहारो या दरवानों), अमात्यों (=राज्य के अधिष्ठायको), चेटो (=सेवको), परिपार्श्वकों या हजूरियों, नागरिको, कर्मचारियो या व्यापारियो, श्रेष्ठियों (=शिर पर 'श्री' देवता के चिन्हाङ्कित स्वर्णपट्ट के धारक धनिकों), सेनापतियो, सार्थवाहो (=व्यापारियो के समूह को साथ में लेकर, व्यापारार्थ देश-विदेश में भ्रमण करनेवालो), दूतों और सन्धिपालो (=राज्य-सीमा के रक्षको) से घिरा हुआ बैठा था।

टिप्पण—टीकागत व्याख्या और वृद्धव्याख्या में कुछ भेद—

(१) महामंत्री—१ मंत्रिमण्डल का प्रधान (—टी०)
२ हस्ति साधनादिक के ऊपरी (उपरिक)। (—वृ०)

(२) गणक—१ ज्योतिषी (—टी०)
२ भाण्डागारिक = भंडारी, खजाची (—वृ०)।

## भगवान् महावीर का वर्णन

१०—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे, आइगरे तित्थगरे सहसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे पुरिससीहे पुरिसवर-पुंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी, अभयदए चक्खुदए मग्गदए सरणदए जीवदए, दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा,

धम्म-वर-चाउरंत-चक्क-वट्टी अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धरे विअट्टच्छउमे जिणे जाणए* तिण्णे तारए मुत्ते मोयए बुद्धे बोहए, सव्वण्णू सव्वदरिसी सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावत्तिअं सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं संपाविउकामे [अरहा जिणे केवली]।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् (चम्पा के समीप पधारे)। वे घोर तपस्या करने से 'श्रमण' नाम से प्रसिद्ध थे। समस्त ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण 'भगवान्' कहे जाते थे। देव आदि के द्वारा उपद्रव किये जाने पर भी अपने मार्ग पर वीरता से डटे रहे, अतः देवों ने उन्हें 'महावीर' नाम से प्रतिष्ठित किये थे। (केवल ज्ञान होने पर पहले पहल श्रुतधर्म के करने वाले होने से) वे आदिकर्त्ता थे और (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ के स्थापक

---

* 'जिणे जाणए.....' इत्यादि विशेषणानि क्वचिन्न दृश्यन्ते, दृश्यन्ते पुनरिमानी–'अरहा जिणे केवली सव्वण्णू'–अर्थात् 'जिणे' से लगाकर 'बोहए' तक के किन्हीं प्रतियों में दिखाई नहीं पड़ते और उनके स्थान पर 'अरहा जिणे केवली' ये तीन विशेष दिखाई देते हैं। (टी०) जिनका अर्थ यह है–वे अर्हन्त थे अर्थात् वे अशोकादि अष्टमहाप्रातिहार्य रूप पूजा के योग्य थे तथा उनसे कोई बात छिपी हुई नहीं थी। वे जिन थे अर्थात् राग द्वेष के विजेता थे। वे केवली थे अर्थात् शुद्ध अनन्त ज्ञानादि के धारक थे, अतएव वे सर्वज्ञ थे। 'जाणए' के स्थान पर 'जावए' आवश्यक में है।

होने के कारण) तीर्थङ्कर थे। स्वयमेव–किसी की सहायता या निमित्त के बिना ही–उन्होंने बोध प्राप्त किया था। वे पुरुषो में उत्तम थे; क्योकि उनमें सिंह के समान शौर्य का उत्कृष्ट विकास हुआ था, पुरुषो में रहते हुए भी श्रेष्ठ सफेद कमल के समान सभी प्रकार की अशुभताएँ–मलिनताएँ, उनसे दूर रहती थी और श्रेष्ठ गधहस्ती के समान, किसी क्षेत्र में उनके प्रविष्ट होते ही सामान्य हाथियो के समान परचक्र, दुर्भिक्ष, महामारी आदि दुरितों का विनाश हो जाता था। वे प्राणो को हरण करने में रसिक और उपद्रवों के करनेवालो को भी भयभीत नही करते थे अथवा सभी प्राणियों के भय को हरण करने वाली दया के धारक थे–निर्भयता के दाता थे। चक्षु के समान श्रुतज्ञान के देनेवाले थे। सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग के प्रदाता थे। उपद्रव से रहित स्थान के दायक थे और जीवन (=अमरता रूप भावप्राण के) दानी थे। वे दीपक के समान समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा द्वीप के समान संसार सागर में नाना प्रकार के दुखों की लहरों के थपेड़ों से पीड़ित व्यक्तियों के लिये आश्वासन-धैर्य के कारण रूप, अनर्थों के नाशक होने से त्राणरूप, उद्देश्य की प्राप्ति में कारण होने से शरणरूप, खराब अवस्था से उत्तम अवस्था में लानेवाली गतिरूप और संसार रूपी खड्डे में गिरते हुए प्राणियों के लिये आधार रूप थे। चार अन्तो (=तीन दिशाओ में समुद्र और उत्तर दिशा में हिमवान् पर्वत रूप किनारे) वाली

पृथ्वी के मालिक चक्रवर्ती के समान धर्म में श्रेष्ठ (अधिनायक) थे। क्योंकि वे अविसंवादक–अचूक ज्ञान के और दर्शन के धारक थे; कारण–उनके ज्ञान आदि के आवरण ( ज्ञानादि गुणों को दवाने वाले कर्म) हट गये थे। (अतः निश्चय ही) राग और द्वेष को जीत लिया था। ज्ञायक भाव में रागादि के स्वरूप, उनके कारण और फल के ज्ञातृभाव में–स्थित थे। इसलिए मुक्त थे, मुक्त करनेवाले थे, समझे हुए थे, समझाने वाले थे। वे सर्वज्ञ–सर्वदर्शी उपद्रव से रहित, स्वाभाविक और प्रयोगजन्य चलन से रहित, नीरोग, अनन्त, सादि होते हुए भी नाश से रहित–अक्षय, बाधा-पीड़ा से रहित और जहाँ से पुनः आगमन नहीं हो ऐसे 'सिद्धिगति' नामवाले स्थान को पाने के लिये सहजभाव से ( विचरण कर रहे थे ) अर्थात् अभी ऐसे स्थान को प्राप्त नहीं हुए थे किन्तु उसे प्राप्त करने की प्रवृत्ति चालू थी।

## भगवान् का शरीर वर्णन

सत्त-हत्थुस्सेहे सम-चउरंस-संठाण-संठिए वज्ज-रिसह-नाराय-संघयणे, अणुलोम-वाउवेगे कंकग्गहणी कवोय-परिणामे सउणि-पोस-पिट्ठंतरोरु-परिणए पउमुप्पल गंध-सरिस-निस्सास-सुरभि-वयणे, छवी निरायंक-उत्तम-पसत्थ- अइ-सेय- ×

---

× पाठान्तरपक्षे–'अतिस्सेय'– ति।

**निरुवम-पले+ जल्ल-मल्ल-कलंक सेय-रय-दोस वज्जिय-सरीर-निरुवलेवे छाया-उज्जोइयंग-मंगे;**

उनकी ऊँचाई सात हाथ की थी। आकार समचौरस (=उचित और श्रेष्ठ माप से युक्त–सुन्दर) था। उनकी हड्डियों की संयोजना अत्यन्त मजबूत थी। (अतः सौन्दर्य और शक्ति का सुन्दर संयोग हुआ था)। शरीर-स्थित वायु का वेग अनुकूल था। कंकपक्षी के समान गुदाशय था (अर्थात् मलोत्सर्ग-क्रिया में कोई खराबी नही थी या मलोत्सर्ग स्थान के अवयव नीरोग थे)। कबूतर के आहार-परिणमन की शक्ति के समान पाचन शक्ति थी। पक्षियो के समान अपान-देश निर्लेप रहता था। पीठ, अन्तर (पीठ और पेट के बीच के दोनों तरफ के हिस्से-पार्श्व) और जंघाएँ विशिष्ट परिणाम वाली थी अर्थात् सुन्दर थी। पद्म (=कमल या 'पद्म' नामक गन्ध द्रव्य) और उत्पल (=नील कमल या 'उत्पलकुष्ठ' नामक गंध द्रव्य) की सुगन्ध के समान निःश्वास से सुरभित (प्रभु का) मुख था। उनकी चमड़ी कोमल और सुन्दर थी। रोग से रहित, उत्तम, शुभ, अति सफेद और अनुपम (प्रभु की देह का) मांस था। अतः जल्ल (=कठिन मैल), मल्ल (अल्प प्रयत्न से छूटनेवाला मैल), कलङ्क (=दाग), पसीने और रज के दोष से रहित (भगवान् का) शरीर था–उस पर मैल जम ही नहीं सकता था। अतः अंग–अंग उज्ज्वल कान्ति से प्रकाशमान् थे।

---

+ पाठान्तरेण–'तले' त्ति।

# शिख नख वर्णन

**घण-निचिय-सुबद्ध-लक्खणुण्णय-कूडागार-निभ-पिंडि-अग्ग सिरए सामलि-बोंड-घण-निचियच्छोडिय-मिउ-विसय-पसत्थ-सुहुम-लक्खण-सुगंध-सुन्दर-भुअमोअग-भिंग-नेल-कज्जल-पहिट्ठ-भमर-गण-णिद्ध णिकुरंब-निचिय-कुंचिय-पयाहिणावत्त-मुद्ध-सिरए दालिम-पुप्फ-प्पगास-तवणिज्ज-सरिस-निम्मल-सुणिद्ध-केसंत-केसभूमी**

अत्यन्त ठोस या सघन, स्नायुओ से अच्छी तरह से बंधा हुआ, श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त, पर्वत के शिखर के समान आकार वाला और पत्थर की गोल पिण्डी के समान (भगवान् का) शिर था। सेमल वृक्ष के फल—जो कि रूई से ठोस भरा हुआ हो, उसके फटे हुए अंग से रूई बाहर निकल आई हो—उसके समान कोमल, सुलझे हुए, स्वच्छ और चमकीले या पतले—सूक्ष्म, लक्षणयुक्त सुगंधित, सुन्दर, भुजमोचक रत्न, भृंगकीट, नील-विकार, काजल और अत्यन्त हर्षित भौंरे के समान काले और लटो के समूह से एकत्रित घुंघराले छल्लेदार बाल (=प्रदक्षिणावर्त) (शिरपर) थे। केश के समीप में केश के उत्पत्ति के स्थान की त्वचा दाडिम के फूल के समान प्रभायुक्त थी, लाल सोने के समान (वर्ण) निर्मल थी और उत्तम तेल से सिञ्चित-सी थी (अर्थात् चिकनाई से युक्त चमकीली थी)।

घण-निचिय-छत्तागारुत्तमंगदेसे णिव्वण-सम-लट्ठ-मट्ठ-चंदद्ध-सम-णिडाले उडुवइ-पडिपुण्ण-सोम-वयणे, अल्लीण-पमाण-जुत्त-सवणे सुस्सवणे, पीण-मंसल-कवोल-देसभाए * आणा-मिय-चाव-रुइल-किण्हब्भराइ-तणु-कसिण-णिद्ध-भमुहे अव-दालिय-पुंडरीय-णयणे कोआसिअ-धवल-पत्तलच्छे गरु-लायत-उज्जु-तुंग-णासे उवचिअ-सिल-प्पवाल-बिंवफल-सण्णिभाहरोट्ठे, पंडुर - ससि - सअल - विमल-णिम्मल-संख-गोक्खीर-फेण-कुंददगरय-मुणालिआ-धवल-दंत-सेढी अखंड-दंते अप्फुडिअदंते अविरलदंते सुणिद्धदंते सुजायदंते एग-दंतसेढीविव अणेगदंते, हुयवहणिद्धंत-धोय-तत्त-तवणिज्ज-रत्त-तल-तालु-जीहे अवट्ठिय-सुविभत्त-चित्त-मंसू मंसल-संठिय-पसत्थ-सद्दूल-विउल-हणूए;

उनका उत्तमांग घन, भरा हुआ और छत्राकार था। ललाट आधे चाँद के समान, घाव आदि के चिन्ह से रहित, सम, मनोज्ञ और शुद्ध था। नक्षत्रों के स्वामी पूर्ण चन्द्र के समान सोम्य मुख था। मनोहर या संलग्न (=ठीक ढंग से मुख के साथ जुडे हुए) या आलीन प्रमाण से युक्त कान थे, अतः वे सुशोभित थे। दोनो गाल मांसल और भरे हुए थे। भौंहें कुछ झुके हुए धनुष के समान (टेढ़ी) सुन्दर और काले

* वाचनान्तरे तु दृश्यते–'आणामिय चाव रुइल किण्हब्भराइ संठिय संगय आयय सुजाय-भमुए'।

बादल की रेखा के समान पतली, काली और कान्ति से युक्त थी। नेत्र खिले हुए सफेद कमल के समान थे। आँखें बरौनी (=आँपन) से युक्त धवल थी, वे इस प्रकार शोभित थीं मानों कुछ भाग मे पत्तों से युक्त खिले हुए कमल हो। नाक गरुड की (चोंच के) समान लम्बा, सीधा और ऊँचा था। संस्कारित–शिलाप्रवाल (=मूंगे) और बिम्बफल के समान अधरोष्ठ थे। दाँतो की श्रेणि निष्कलङ्क चन्द्रकला (या चाँद के टुकड़े), निर्मल से भी निर्मल शख, गाय के दूध, फेन, कुंद के फूल, जलकण और कमलनाल के समान सफेद थी। दाँत अखण्ड, अजर्जर (=मजबूत), अविरल (=परस्पर सटे हुए, दो दाँतों के वीच का अन्तर अधिक नही हो ऐसे), सुस्निग्ध (=चीकने–चमकीले) और सुन्दराकार थे। एक दाँत की श्रेणि-से अनेक दाँत थे (अर्थात् दाँतो की सघनता के कारण उनकी विभाजक रेखाएँ दिखाई नही देती थी, अतः अनेक दाँत होते हुए एक ही दन्त की पक्ति-सी लगती थी)। तालु और जीभ के तले, अग्नि के ताप से मल-रहित, जल से धोए हुए और तप्रे हुए सोने के समान लाल थे। भगवान् की दाढी-मूंछें कभी नही बढती थी–सदा एक-सी रहती थी और सुन्दर ढंग से छँटी हुई-सी रम्य थी। चिवुक (=ठुड्डी) मांसल, सुन्दराकार, प्रशस्त और व्याघ्र की चिबुक के समान विस्तीर्ण थी।

चउरंगुल-सुप्पमाण-कंबु-वर-सरिस-ग्गीवे, वर-महिस-वराह-सीह-सद्दूल-उसभ-नाग-वर-पडिपुण्ण-विउल-क्खंधे जुग-सन्निभ-

पीण-रइय-पीवर-पउट्ठ-सुसंठिय-सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ-घण-थिर-सुबद्ध-संधि-पुर-वर-फलिह-वट्टिय-भुए भुय-ईसर-विउल-भोग-आदाण + पलिह-उच्छूढ-दीह-बाहू-रत्त-तलोवइय-मउअ-मंसल सुजाय लक्खण-पसत्थ-अच्छिद्द-जाल-पाणी पीवर- * कोमल वरंगुली आयंब-तंब-तलिण-सुइ-रुइल-णिद्ध-णक्खे चंदपाणि-लेहे सूरपाणिलेहे संखपाणिलेहे चक्कपाणिलेहे दिसा-सोत्थिअ-पाणिलेहे × चंद-सूर-संख-चक्क-दिसा-सोत्थिय-पाणिलेहे;

ग्रीवा श्रेष्ठ शंख समान (सुन्दर) और चार अंगुल की उत्तम प्रमाण से युक्त थी। स्कंध (=खंधे), श्रेष्ठ भैंसे, सूअर, सिंह, बाघ, प्रधान हाथी और वृषभ (=सांढ) के (खंधे के) समान प्रमाण से युक्त—सभी विशेषताओं से सम्पन्न और विशाल थे। उनके बाहू गाड़ी के जुड़े के समान (गोल और लम्बे) मोटे, देखनें में सुखकर और दुर्बलता से रहित—पुष्ट पोंचों (=कलाइयों) से युक्त थे, बाहू का आकार सुन्दर था, संगत था, अतः वे विशिष्ट थे—घन (वायु से फूले हुए नहीं, किन्तु हृष्ट—पुष्ट), स्थिर और स्नायुओं से ठीक ढंग से

---

+ पाठान्तरे—'फलिह—ओच्छूढ'—त्ति।

* क्वचित् दृश्यते—पीवर वट्टिय सुजाय कोमल वरंगुली'।

× वाचनान्तरे—रवि ससिसंख चक्क—सोत्थिय विभत्त सुविरइय पाणिलेहे अणेग वर लक्खणुत्तम सत्थप सुइ रइय पाणिलेहे।

बंधी हुई सन्धियों (=हड्डियों के जोड़) से युक्त थे। वे पूरे बाहू ऐसे दिखाई देते थे कि मानों इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिये फणधर ने अपना महान् देह फैलाया हो। प्रभु के हाथ के तले लाल, उन्नत, कोमल, भरे हुए, सुन्दर और शुभ लक्षणों से युक्त थे और अंगुलियो के बीच में (उन्हे मिलाने पर) छिद्र दिखाई नहीं देते थे। अंगुलियां पुष्ट, कोमल और श्रेष्ठ थी। (अंगुलियों) के नख ताम्बे के समान कुछ कुछ लाल, पवित्र, दीप्त और स्निग्ध अर्थात् रूक्षता से रहित थे। हाथ में चन्द्राकार, सूर्याकार, शंखाकार, चक्राकार और दक्षिणावर्त स्वस्तिकाकार रेखाएँ थीं। इन सभी रेखाओं के सुसंगम से हाथ सुशोभित थे।

**कणग-सिलातलुज्जल-पसत्थ-समतल-उवचिय-विच्छिण्ण-पिहुल-वच्छे + सिरिवच्छंकियवच्छे अकरंडुअ-कणग-रुयय-निम्मल-सुजाय-निरुवहय-देह-धारी अट्ठ-सहस्स-पडिपुण्ण-वर-पुरिस-लक्खण-धरे सण्णयपासे संगयपासे सुंदरपासे सुजायपासे मिय-माइअ-पीण-रइय-पासे**

भगवान् का वक्ष (=छाती, सीना) सुवर्ण शिलातल के समान उज्ज्वल, प्रशस्त, समतल, मांसल, बिशाल और चोड़ा

---

+ वाचनान्तरे वक्षोविशेषणान्येवं दृश्यन्ते, उवचिय पुरवर कवाड-विच्छिण्ण-पिहुलवच्छे कणय सिलायलुज्जल पसत्थ समतल सिरि वच्छ-रइयवच्छे'।

था। उसपर 'श्रीवत्स' स्वस्तिक का चिन्ह था। मांसलता के कारण पांसलियों की हड्डियां दिखाई नही देती थी। स्वर्ण-कांति-सा (सुनहरा) निर्मल, मनोहर और रोग के पराभव से (=आघात से) रहित (भगवान् का) देह था। जिसमें पूरे एक हजार आठ, श्रेष्ठ पुरुषो के लक्षण थे। उनके पार्श्व (=वगल) नीचे की ओर क्रमशः कम घेरे वाले होगये थे, देह के प्रमाण के अनुकूल थे, सुन्दर थे, उत्तम बने हुए थे और मितमात्रिक (=न कम न ज्यादा, उचित रूप से मांस से भरे हुए) पुष्ट-रम्य थे।

**उज्जुअ-सम-संहिय-जच्च-तणु-कसिण-णिद्ध-आइज्ज-लडह-रमणिज्ज-रोम राई झस विहग सुजाय-पीण-कुच्छी *झसोदरे सुइकरणे पउमविअडणाभे गंगावत्तक पयाहिणावत्त तरंग-भंगुर-रवि-किरण-तरुण-बोहिय-अकोसायंत-पउम-गंभीर-वियड-णाहे (-भे) साहय-सोणंद-मुसल-दप्पण-णिकरिय-वर-कणग-च्छरु-सरिस-वर-वइर-वलिअ-मज्झे- ×पमुइय-नर-तुरग-सीह-वर-वट्टिय-कडी**

(वक्ष और उदर पर) सीधे और समरूप से एक-दूसरे से मिले हुए, प्रधान, पतले, काले, स्निग्ध, मनको भानेवाले, सलावण्य (=सलोने) और रमणीय रोमों की पंक्ति थी।

---

* झसोदर-पउम-वियड-नाभि-त्ति पाठान्तरम्।

× .......सीह-अइरेग वट्टिय'......पाठान्तरम्।

मत्स्य और पक्षी की-सी उत्तम और दृढ़ मांसपेशियो से युक्त कुक्षि थी। मत्स्य का-सा उदर था। पावन इन्द्रिय थी या पेट के करण (=अंत्रजाल) पावन थे। गंगा के भँवर के समान, दाहिनी ओर घूमती हुई तरगो से भंगुरे अर्थात् चञ्चल, सूर्य की तेज किरणों से विकसित कमल के मध्य भाग के समान गंभीर और गहन नाभि थी। त्रिदंड, मूशल, सार पर चढ़ाये हुए श्रेष्ठ स्वर्ण दर्पणक (=दर्पण-दंड) और खड्ग-मुष्टि (=मूठ) के समान श्रेष्ठ, वज्रवत् क्षीण (देह का) मध्य भाग था। रोग-शोकादि से रहित (=प्रमुदित) श्रेष्ठ अश्व और सिंह (की कटि) के समान श्रेष्ठ घेरे वाली कटि थी।

● वर-तुरग-सुजाय-सुगुज्भ-देसे आइण्ण-हउव्व णिरुवलेवे, वर-वारण-तुल्ल-विक्कम-विलसिय-गई गय-ससण-सुजाय-सन्निभोरु समुग्ग-णिमग्ग-गूढ-जाणू - एणी-कुरुविंदावत्त-वट्टाणुपुव्व-जंघे संठिय-सुसिलिट्ठ-गूढ-गुप्फे सुप्पइट्ठिय-कुम्म-चारु-चलणे × अणुपुव्व-सुसंहयंगुलीए उण्णय-तणु-तंब-णिद्ध-णक्खे रत्तुप्पल-पत्त-मउय-सुकुमाल-कोमल-तले अट्ठ-सहस्स-वर-पुरिस-लक्खण-धरे;

श्रेष्ठ घोड़े के (गुप्तांग के) समान अच्छी तरह (गुप्त) बना हुआ उत्तम गुह्यभाग था। जातिवान् घोड़े (के शरीर)

---

● वाचनान्तरे—पसत्थ-वर-तुरग-गुज्झ-देसे।

× अणुपुव्व सुसाहय पीवरंगुलीए-त्ति क्वचिद् दृश्यते।

के समान (भगवान् का) शरीर लेप से लिप्त नहीं होता था। श्रेष्ठ हाथी के समान पराक्रम और विलास युक्त चाल थी। हाथी की सूंढ के समान जंघाएँ थी। गोल डिब्बे के ढक्कन के समान निमग्न और गुप्त घुटने थे। हरिणी ( की जंघा ) के समान और 'कुरुविंद' नामक तृण के समान तथा सूत्र बनाने के पदार्थ के समान क्रमशः उतार सहित गोल जंघाएँ थी। (अथवा पिंडलियाँ थी)। सुन्दराकार, सुगठित और गुप्त पैर के मणिबन्ध (=टखनें) थे। शुभ रीति से स्थापित (=रखे हुए), कछुए (के चरणों) के समान चरण थे। क्रमशः बढ़ी-बटी हुई (या बड़ी-छोटी) ( पैर की ) अगुलियाँ थीं। ऊँचे उठे हुए, पतले, ताम्रवर्ण और स्निग्ध (पैर के) नख थे। लाल कमल दल के समान कोमल और सुकुमार पगतलियाँ थी। ( इस प्रकार की अपूर्व सौन्दर्य की राशि) देह-यष्टि में श्रेष्ठ पुरुषों के एक हजार आठ लक्षण (शोभित होते) थे।

टिप्पण-१ 'एणीकुरुविंद' का अन्य इस प्रकार अर्थ करते हैं- 'स्नायुओं से सम्बन्धित 'कुटिलक' नामक रोग से रहित'। (-टीका०)

( नग-नगर-मगर-सागर-चक्कंक-वरंक-मंगलंकिय-चलणे विसिट्ठ-रूवे हुयवह-निद्धूम-जलिय-तडितडिय-तरुण-रवि-किरण-सरिस-तेए;

अणासवे अममे अकिंचणे छिन्नसोए निरुवलेवे ववगय-पेम-राग-दोस-मोहे;

**निग्गंथस्स पवयणस्स देसए सत्थनायगे पइट्ठावए, समणग-पई समणग-विंद-परिअट्टए, चउतीस-वुद्ध-वयणातिसेस-पत्ते पणतीस-सच्च-वयणातिसेस-पत्ते; )**

(पर्वत, नगर, मगर, समुद्र और चक्र रूप श्रेष्ठ चिन्हों और स्वस्तिक आदि मगल चिन्हो से अंकित चरण थे। भग-वान् का रूप विशिष्ट था। धुएँ से रहित जाज्वल्यमान अग्नि, फैली हुई बिजली और तरुण (=दूसरे पहर के या अभिनव) सूर्य किरणों के समान भगवान् का तेज था।

भगवान् ने कर्म के आत्म-प्रवेश के द्वारों को रूँध दिया था। मेरेपन की बुद्धि त्याग दी थी। अतः उन्होने अपनी मालिकी में कोई भी वस्तु नही रखी थी। भव-प्रवाह को छेद दिया था या (परिग्रह संज्ञा के अभाव के कारण) शोक से रहित थे। निरुपलेप (=द्रव्य से निर्मल देहवाले और भाव से कर्मबन्ध रूप लेप से रहित) थे। प्रेम (=मिलन के भाव), राग (=विषयों के अनुराग), द्वेष (=अरुचि के भाव) और मोह (=मूढता-अज्ञान के भाव) से अतीत हो चुके थे।

निर्ग्रन्थ प्रवचन के उपदेशक, शास्ता (=आज्ञा के प्रवर्तक), नायक और प्रतिष्ठापक (=उन उन उपायों के द्वारा व्यवस्था करनेवाले) थे। अतः साधु-संघ के स्वामी थे और श्रमणवृन्द के वर्द्धक (=उन्नतिकर्त्ता या पूर्णता की ओर लेजाने वाले) थे। जिनवर के वचन आदि चौतीस अतिशेष (=अतिशय=तीव्र और उत्कृष्ट पुण्योदय से–सर्वजन-हित-

क्रूरता की भावना से पूर्वभव में बद्ध पुण्य के उदय से होने-वाली, जन साधारण के लिए दुर्लभ पौद्गलिक रचनादि विशेष )के और पैंतीस सत्य-वचन के अतिशयों के धारक थे।)

टिप्पण-(२) यह 'सूत्रांश' टीकाकार के उल्लेख के अनुसार वाचनान्तर में पठित है। किन्तु महत्त्व पूर्ण अंश होने के कारण, पाद-टिप्पण में न रखते हुए, अन्य प्रतियों के अनुसार यथास्थान रहने दिया है। सिर्फ वाचनान्तर की सूचना के लिये कोष्ठक लगा दिया है।

(३) चौंतीस-बु -वचनातिशेष = तीर्थङ्कर के चौंतीस अतिशय-(भगवान् की वाणी विशेष उपकारक होने के कारण वचन को प्रमुख अतिशय कहा है-टीका०)-

१ भगवान् के केश, दाढी-मूंछ, रोम और नख अवस्थित रहते हैं अर्थात् वृद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं, २ नीरोग और लेप-रहित देह, ३ गोक्षीर के समान सफेद रक्त-मांस, ४ कमल और नीलकमल या पद्म और कुष्ठ नामक गंधद्रव्य के समान सुगंधित श्वास-प्रश्वास, ५ चर्मचक्षु से अदृश्य-प्रच्छन्न आहार-नीहार, ६ आकाशगत चक्र, ७ आकाश गत (तीन) छत्र, ८ आकाशगत श्रेष्ठ सफेद चामर, ९ आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक का पादपीठ सहित सिंहासन, १० छोटी-छोटी हजारों झण्डियों से परिमण्डित इन्द्रध्वज का आगे-आगे चलना, ११ जहां-जहां भगवान् ठहरते या बैठते हों वहां वहां उसी समय छत्र, ध्वज, घण्टा और पताका सहित पत्र-पुष्प से लदे हुए हरेभरे अशोकवृक्ष का होना, १२ शिरोभाग के कुछ पीछे अंधकार में भी प्रकाश करते हुए तेजोमण्डल का होना, १३ विचरण भूमि का सम और रमणीय हो जाना, १४ कांटों का उलटे मुख हो जाना, १५ विपरीत ऋतु का भी सुखमय स्पर्शवाली हो जाना, १६ शीतल, सुखद और सुरभित हवा से एक योजन के भूमि-

मण्डल का पूर्णतः चारों ओर से प्रमार्जित होना, १७ उचित मेघ-फुंहार से रजकण का नीचे बैठ जाना, १८ जल-स्थल में उत्पन्न हुए-से फूलों के, उनके डींट नीचे रहें इस प्रकार घुटनें प्रमाण ढेर होना, १९ अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का मिटना, २० मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का प्रकट होना, २१ मनोहर एक योजनगामी स्वर, २२ अर्द्धमागधी भाषा, २३ उस भाषा का आर्य-अनार्य, पशु-पक्षी सभी की अपनी-अपनी हितकारी, कल्याणकारी और सुखकारी भाषा में बदल जाना, २४ पूर्वबद्ध वैर और अनादिकालीन जातीय वैर को भूलकर, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च का अर्हंत के चरणतले बैठकर, प्रसन्नचित्त से धर्मोपदेश सुनना, २५ अन्य दर्शन में स्थित व्यक्तियों का भी समीप में आने पर, विनयशील बन जाना, २६ वादी का अर्हंत्—चरणों की छाया में आनें पर निरुत्तर हो जाना, २७ जहां जहां अरिहन्त भगवान् का विचरण होता है, वहां-वहां पर २५ योजन तक ईति (=क्षुद्र जन्तुओं का भय अर्थात् कृषि को हानि पहुंचाने वाले उपद्रवों) का न होना, २८ संक्रामक रोगो का या मनुष्यों को काल के गाल में ले जाने वाले निमित्तों का नहीं होना, २९ निज राज्य के सैन्य आदि का उपद्रव नहीं होना, ३० पर राज्य के सैन्यादि का उपद्रव न होना, ३१ अतिवृष्टि का अभाव, ३२ अनावृष्टि का अभाव, ३३ दुर्भिक्ष का अभाव और ३४ अनिष्ट सूचक चिन्हों और उनके द्वारा होनें वाले उपद्रवों और व्याधियों का नहीं होना; यदि पहले हुई हो तो उनका शमन होना।

इनमें से दूसरे से पांचवें तक चार अतिशय तीर्थङ्करों के जन्म से होते है, इक्कीसवें से चौंतीसवें तक और बारहवां, कुल पंदरह अतिशय घाती कर्मक्षय-जन्य है और शेष अतिशय देवकृत हैं। इससे भिन्न रूप में कहीं-कहीं उल्लेख दिखाई देता है, वह मतान्तर समझना चाहिए।

(—समवायांग—टी०)

३—वाणी के पैंतीस अतिशय—१ संस्कारयुक्त वचन, २ उदात्त = उच्च वचन या उच्च स्वर, ३ ग्राम्य-दोष से रहित, ४ मेघ-गर्जन के समान गंभीर, ५ प्रतिध्वनि = गुंजन से युक्त, ६ सरल, ७ संगीतमय = मालकोश आदि राग से युक्त, ८ विशाल अर्थ युक्त, ९ परस्पर अविरोधी वाक्यार्थ, १० शिष्टता युक्त या अपने सिद्धांत के प्रतिपादन की सामर्थ्य से युक्त, ११ संदेह-रहित, १२ किसी के दूषण लगाने की गुंजाइश से रहित, १३ हृदयग्राही-सुननेवाले को प्रिय लगनेवाले, १४ देश-कालोचित, १५ विवक्षित वस्तु-स्वरूप के अनुरूप, १६ विषयानुकूल विस्तार से युक्त और असम्वद्ध विषयों के विस्तार से रहित, १७ परस्पर सापेक्ष पदों से युक्त, १८ प्रौढ़, स्त्री, बालक आदि की भूमिका के अनुसार प्रतिपादन शैली से सम्पन्न, १९ घी-गुड के समान सुखकारी, स्निग्ध-मधुर, २० किसी के मर्म-प्रकाशन से रहित, २१ मोक्ष रूप अर्थ एवं श्रुतचारित्र रूप धर्म से सम्बद्ध होना, २२ उदारत्व-प्रतिपाद्य अर्थ का महान् होना अथवा शब्द और अर्थ की विशिष्ट रचना होना, २३ परनिंदा और आत्म-प्रशंसा से रहित, २४ गुणों के योग से प्रशंसित, २५ कारक, काल, वचन, लिंग आदि से सम्बन्धित दूषणों से रहित, २६ स्व-विषय में कौतूहल-वर्धक—अखण्ड जिज्ञासा-वर्द्धक, २७—२८ न तीव्र, न मंद अद्भुत प्रवाह से युक्त, २९ वक्ता के प्रति भ्रान्ति या वक्ता के मन की भ्रान्तता, विक्षेप ( = कहे जाते विषय के प्रति अरुचि ) और भय, रोष, अभिलाषा आदि मनोदूषण से रहित, ३० वर्णनीय वस्तु का अनेक तरह से वर्णन करने के कारण, विचित्रता से युक्त, ३१ अन्य वचनों की अपेक्षा आदर से ग्रहण किये जाने रूप विशेषता से युक्त, ३२ अलग-अलग वर्ण, पद और वाक्यों के द्वारा आकार-प्राप्त, ३३ सत्त्व-परिगृहीत ( = उत्साह युक्त या बलप्रद), ३४ अपरिखेदित्व—उपदेश देते हुए थकावट अनुभव न होना, ३५ विवक्षित = कहे जानेवाले अर्थ की सम्यक् सिद्धि

किये विना-विषय को अधूरा ही छोड़कर, वंद नहीं होनेवाले प्रवाह से युक्त (भगवान् के) वचन थे।

पहले के सात अतिशय शब्द की अपेक्षा से कहे गये हैं और शेष अर्थ की अपेक्षा से। (-टी०)

भगवान् की दिव्यता और चमत्कारिता मात्र दिखाने के लिये इन अतिशयो की कल्पना की गई हो-ऐसी बात नहीं है। जैन-शासन में बेसिर-पैर की दैविकता और चमत्कारिता का जरा भी अवकाश नहीं है और कार्य-कारण से युक्त, जो घटनाएँ होती हैं-उनका निषेध करके, मानव के स्वरूप को वामन बनाने का ध्येय भी नहीं है। आत्मा के शुभभावों के उत्कर्ष का निमित्त पाकर, पौद्गलिक भावों में कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं और उनके द्वारा कैसी-कैसी प्रसंग-योजना होती है ?- जिन्हें कि अल्प-प्रमाण में कदाचित् होने के कारण, प्रायः मनुष्य अलौकिक चमत्कार या केवल कल्पना मात्र मान लेते हैं; किन्तु उन प्रसंगों के पीछे भी कार्य-कारण की दृढ़ श्रृंखला रही हुई है। वे सहसा ही अकस्मात् कहीं से टपक नहीं पड़ते और ऐसे घटना-चक्र का निर्माण उसी व्यक्तित्त्व के आसपास होता है-जो उन साधनों को भोगने की भावना से बिलकुल अलिप्त हो। जैन-शासन का ध्येय, हर कथन के पीछे, वीतरागता का पोषण करना ही रहता है।

**आगासगएणं चक्केणं, आगासगएणं छत्तेणं, आगासियाहिं चामराहिं, × आगास-फलिआमएणं सपायवीढेणं सीहासणेणं, धम्मज्झएणं पुरओ पकढिज्जमाणेणं( * चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं, छत्तीसाए अज्जिआ-साहस्सीहिं)**

---

× आगास-गयाहिं सेय-वर-चामराहिं-इति पाठान्तरम्।

* नैतट्टीकानुगतम्।

सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुग्गामं दूइज्ज-माणे, सुहंसुहेणं विहरमाणे, चम्पाए णयरीए बहिया उवण-गरग्गामं उवागए, चंपं नगरिं पुण्णभद्दं चेइअं समोसरिउं कामे।

—आकाशवर्ती धर्मचक्र, आकाशवर्ती तीन छत्र, आकाश-वर्ती या ऊपर उठते हुए चामर, पादपीठ (=पैर रखने की चौकी) सहित, आकाश के समान स्वच्छ स्फटिकमय सिंहासन और आगे-आगे चलते हुए धर्मध्वज (चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार आर्यिकाएँ) के साथ घिरे हुए, क्रमशः विचरते हुए, एक गाम से दूसरे गाम को पावन करते हुए और शारी-रिक खेद से रहित—संयम में आनेवाली बाधा-पीड़ा से रहित विहार करते हुए, चम्पानगरी के बाहर के उपनगर (=समीप के गाँव) में पधारे और वहां से चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य में, पधारने वाले थे।

## धर्म सन्देशवाहक

११— तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ-चित्त-माणंदिए पीइमणे परम-सोमणस्सिए हरिस-वस-विसप्पमाण-हियए ण्हाए कयबलिकम्मे कय-कोउअ-मंगल-पायच्छित्ते सुद्धप्पवेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवर-परिहिए अप्पमहग्घाभरणालंकिय-सरीरे, सयाओ गिहाओ पडि-णिक्खमइ।

तव भगवान् की प्रवृत्ति के निवेदक उस पुरुष ने, यह बात जानकर, हर्षित या विस्मित और संतुष्ट चित्त, आनदित ( = किञ्चित् मुख-सौम्यता आदि भावो से समृद्ध ), मन में प्रीति से युक्त, परम सुन्दर मानसिक भावों से सम्पन्न और हर्षावेश से विकसित हृदयवाला होकर, स्नान, वलिकर्म, कौतुक-मंगल और प्रायश्चित्त करने के बाद, स्नान से शुद्ध बने हुए शरीर पर, मंगल वस्त्रो के वेश को सुंदर ढंग से पहनाकर, थोड़े, भारवाले बहुमूल्य आभूपणो से शरीर को सजाया। फिर वह अपने घर से बाहर निकला।

टिप्पण—१ 'हट्ठतुट्ठ' आदि शब्द प्रायः एकार्थक है। परन्तु इसमें कोई दूषण नहीं है। क्योंकि अत्यन्त प्रमोद के वश होकर स्तुति करता हुआ अथवा रोषवश निन्दा करता हुआ पुरुष जो एकार्थक शब्दों का बारम्बार उच्चारण करे वह पुनरुक्त दोष नहीं है। कहा है—

'वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनाः स्तुवँस्तथा निन्दन्।
यत्पदमसकृद् ब्रूयात्तत्पुनरुक्तं न दोषाय' ॥

(—टीकाकार)

२ 'कयवलिकम्मे' सूत्रांश के 'वलिकम्म' शब्द के अर्थ में तीव्र मतभेद है। एक पक्ष 'गृहदेवता को वलि ( = भेंट पदार्थ) देने की क्रिया' अर्थ करता है। टीकाकार ने भी—'स्नानानन्तरं कृतं वलिकर्म स्वगृह-देवतानां येन स तथा'—टिप्पण से उक्त अर्थ की पुष्टि की है। दूसरा पक्ष इसका विरोध करते हुए कहता है कि ऐसा अर्थ करने में, हम सूत्रकार के आशय से विरुद्ध जा रहे है। क्योंकि (१) ज्ञातासूत्र दूसरे अध्ययन में 'धन्नसत्यवाह' की स्त्री 'भद्दा' का पुत्र की इच्छा से नाग, भूत, यक्ष के पूजन का वर्णन है। उसने नगर के बाहर उद्यान में पुष्करणी

में स्नान करने का उल्लेख है, जिसमें 'कयवलिकम्मा' विशेषण भी है तो वहां उसने कौनसे देव की पूजा की? (२) ज्ञातासूत्र के आठवें अध्ययन में श्रीमल्लिनाथ स्वामी के 'पितृ-पद-वंदना' के वर्णन में भी 'जाव' शब्द से यह पद संगृहीत है और जब 'श्रीमल्लि' छह राजाओं को प्रतिबोध देने आये, उस वर्णन में भी यह पद संगृहीत है। (३) इसी प्रकार द्रौपदी (ज्ञा. १। १६), देवानंदा (भ. ६। ३३), जमाली (भ.), वर्णनाग नत्तुआ (भ. ७। ६), कठियारे के जंगल में स्नान (राय प.) और प्रदेशी ने केशिकुमार श्रमण के प्रश्न के अधिकार में भी यह विशेषण गृहीत है, तो वहां कौनसे देव की पूजा का उल्लेख है? (४) 'उववाइय' के कूणिक-स्नान और 'जम्बूदीवपण्णत्ति' के भरत-स्नान के विस्तृत वर्णन में यह विशेषण ही नहीं है। जहां स्नान का विस्तृत वर्णन है, वहां यह पद नहीं है और जहां स्नान का संक्षिप्त वर्णन है वहीं यह पद है; अतः यह स्नान का ही विशेषण है। जिसका जलांजली, गंधादि विलेपन, मर्दन करना आदि अर्थ होता है। (समकितसार) पहले पक्ष का अर्थ 'वलि वैश्वदेव' क्रिया से प्रभावित-सा लगता है। दूसरे पक्ष का अर्थ 'परिकर्म्म' के समकक्ष की शारीरिक क्रिया की ओर संकेत करता है। यह अर्थ युक्ति-संगत है।

सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमित्ता, चंपाए णयरीए मज्झं-मज्झेणं जेणेव कोणियस्स रण्णो गिहे, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता करयल-परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ। वद्धावित्ता एवं वयासी-'जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं कंखंति, जस्स णं



देवाणुप्पिया दंसणं पीहंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं पत्थंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं अभिलसंति, जस्स णं देवाणुप्पिया णाम-गोत्तस्स वि सवणयाए हट्ठतुट्ठ जावहिअया भवंति, से णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे, गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे, चंपाए णयरीए उवणगरगामं उवागए, चंपं णगरिं पुण्णभद्दं चेइअं समोसरिउं कामे। तं एअं णं देवाणुप्पियाणं पिअट्ठयाए पिअं निवेदेमि; पिअं ते भवउ'।

वह प्रवृत्ति निवेदक अपने घर से निकलकर, चम्पा नगरी के मध्य में होता हुआ जहां कूणिक राजा का निवास स्थान था, जहा वाहरी सभाभवन था और जहा भंभसार का पुत्र कूणिक राजा (वैठा) था, वहा आया। जय-विजय से (आपकी वृद्धि हो—इस प्रकार) वधाया अर्थात् आप जय विजय करते हुए वृद्धि को प्राप्त होवे ऐसा आशीर्वाद दिया। फिर वह इस प्रकार वोला—हे देवानुप्रिय (सरल स्वभाव वाले) आप जिनके दर्शन चाहते है एव प्राप्त होने पर छोड़ना नही चाहते है. हे देवानुप्रिय जिनके दर्शन नही हुए हो तो पाने की इच्छा करते है, हे देवानुप्रिय जिनके दर्शन हो—ऐसे उपायो की अन्यजन से अपेक्षा करते है—अर्थात् चाहते है, हे देवानुप्रिय जिनके दर्शन के लिये अभिमुख होना सुन्दर मानते है और हे देवानुप्रिय जिनके नाम (=महावीर, ज्ञात-

पुत्र, सन्मति आदि) और गोत्र (=काश्यप) के सुनने मात्र से हर्षित, संतुष्ट (यावत्) हर्षावेश से विकसित हृदयवाले हो जाते हैं-वे ही श्रमणभगवान् महावीरस्वामी, क्रमशः विचरते हुए, मार्ग में आनेवाले गावों को पावन करते हुए, चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में आने के लिये, चम्पानगरी के उपनगर में पधारे हैं। यह देवानुप्रिय का प्रीतिकर विषय होने से (या प्रीत्यर्थ=प्रसन्नता के लिये) प्रिय समाचार निवेदन कर रहा हूं। वह आपके लिये प्रिय बने।

## कूणिक का परोक्ष वन्दन

१२-तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते तस्स पवित्तिवाउअस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ-जावहिअए *विअसिअ-वर-कमल-णयण-वयणे पअलिअ-वर-कडग-तुडिय-केऊर-मउड-कुंडल-हार-विरायंत-रइय-वच्छे, पालंब-पलंबमाण-घोलंत-भूसण-धरे ससंभमं तुरियं चवलं नरिंदे सीहासणाउ अब्भुट्ठेइ। अब्भुट्ठित्ता पायपीढाउ पच्चोरुहइ। पच्चोरुहित्ता •पाउआओ ओमुअइ। ओमुइत्ता

* धाराहय-नीव-सुरभि-कुसुम-चंचुमालइअ-उच्छिय-रोमकूवे'- इदं च विशेषणं क्वचिदेव दृश्यते।

• क्वचिदिदं पादुका विशेषणं दृश्यते-वेरुलिय वरिट्ठ रिट्ठ अंजण विउणोविय-मिसिमिसिंत-मणिरयण मंडियाओ'।

अवहट्टु पंच-राय-ककुहाइं; तं जहा–खग्गं १, छत्तं २, उप्फेसं ३, वाहणाओ ४, वालवीअणां ५, एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ। करेत्ता आयंते चोक्खे परम सुइभूए अंजलि-मउलियग्ग हत्थे तित्थगराभिमुहे सत्तट्ठ-पयाइं अणुगच्छइ सत्तट्ठ-पयाइं अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ। वामं जाणुं अंचेत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि साहट्टु, तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ। निवेसेत्ता ईसिं पच्चुण्णमइ। पच्चुण्णमित्ता कडग-तुडिय-थंभिआओ भुआओ पडिसाहरइ। पडिसाहरित्ता करयल-जाव कट्टु, एवं वयासी–

तब भंभसार का पुत्र कूणिक, उस प्रवृत्ति-निवेदक से यह बात कान से सुनकर हृदय से धारण कर, बहुत प्रसन्न हुआ। श्रेष्ठ कमल के समान नेत्र और मुख विकसित होगये। ( भगवान् के आगमन-श्रवण से उत्पन्न हर्षावेश के कारण ) कङ्कण, तुडिय (=हाथ के तोड़े), केयूर (=अंगद, भुजबंध), मुकुट, कुडल और हार से सुशोभित बना हुआ वक्ष कम्पित हो रहा था। लम्बी लटकती हुई माला और हिलते हुए भूषणों के धारक नरेन्द्र ससंभ्रम (=आदर सहित) जल्दी-जल्दी सिंहासन से उठे। सिंहासन से उठकर, पादपीठ से (=चौकी से) नीचे उतरे। उतरकर पादुकाएँ खोली। पांच राज चिन्हों को दूर किये; यथा–१ खड्ग, २ छत्र, ३ मुकुट, ४ उपानद् (=पगरक्खी, जूते) और ५ चामर। एक साटिक उत्तरासंग

किया। जल स्पर्श से मैल से रहित-अति स्वच्छ बने हुए हस्त-सम्पुट (=अञ्जली) से कमल की कली के समान आकार वाले हाथों से युक्त (अर्थात् हाथ जोड़कर) जिधर तीर्थङ्कर देव विराजमान थे उधर मुख करके, सात-आठ कदम सामने गये। बायें पैर को संकुचित किया। दायें पैर को धरतीतल पर, संकोचकर रखा और शिर को तीन बार धरती से लगाया। फिर थोड़ा-सा ऊपर उठकर कड़े और तोड़े से स्थिर बनी हुई भुजाओं को उठाकर, हाथ जोड़े और अंजली को सिर पर लगाकर इस प्रकार बोले–

टिप्पण–१ 'उत्तरासंग' शब्द के अर्थ में भी मतभेद है। एक पक्ष यह अर्थ करता है कि–'बिना सिले हुए अखण्ड वस्त्र को जनेऊ की तरह देह पर लपेटना'; टीकाकार की टीका–'उत्तरासंगो–वैकक्षकम्' और दूसरा पक्ष–'(उत्तर = ऊपरी, श्रेष्ठ आसंग = आवरण) बिना सिले हुए अखण्ड वस्त्र (= एकसाटक-दुपट्टे) से मुख पर (जीवों की यतना के लिये) आवरण लगाना'।

'नमोऽत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं, आइगराणं तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं, अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं, धम्म-दयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं, दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा, अप्पडिहय-

वर-नाण-दंसण-धराणं विअट्ट-छउमाणं, जिणाणं जावयाणं, तिण्णाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं, सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं, सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति-सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं संपत्ताणं। नमोऽत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थ-गरस्स...जाव संपाविउ कामस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोव-देसगस्स।

वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इह गए, पासइ मे (मे से) भगवं तत्थगए इहगयं;—ति कट्टु वंदइ णमंसइ।

अरिहंत—इन्द्रों से पूजित या परम शक्तिमान् अथवा कर्मशत्रु को नष्ट करने वाले।

भगवान्—परम ऐश्वर्यशाली, परम पूज्य।

आदिकर—आचारादि श्रुतधर्म सम्बन्धी अर्थ की आदि के करने वाले।

तीर्थङ्कर—जिसके द्वारा संसार समुद्र से तिरा जाय वह तीर्थ अर्थात् प्रवचन और प्रवचन से अभिन्न होने के कारण चतुर्विध संघरूपी तीर्थ के कर्त्ता।

स्वयं संबुद्ध—बिना किसी के उपदेश के स्वयं जन्म से ही हेय ज्ञेय और उपादेय पदार्थों को अच्छी तरह से जानने वाले।

**पुरुषोत्तम**—संसार के सभी पुरुषों में अतिशयादि से उन्नत उत्तमोत्तम

**पुरुषसिंह**—सिंह उत्कृष्ट शौर्यवान माना जाता है, उसी प्रकार पुरुषों में शौर्यादि गुणों में सिंह के समान।

**पुरुषवर पुण्डरीक**—जिस प्रकार पुण्डरीक मल हजार पंखुड़ियोंवाला, निर्मल श्वेत रंग का श्रेष्ठ पुष्प होता है, उसी प्रकार सभी प्रकार के अशुभ मल से रहित और सभी शुभभावों—निर्मलताओ से युक्त। अथवा—'पुरुष' अपने आराधक जीवों के संताप रूपी ताप को दूर करने में 'वरपुंडरीक'—श्रेष्ठ छत्र रूप।

**पुरुषवर गंधहस्ती**—हाथियो में गंधहस्ती ऐसा होता है कि जिसकी गंध से दूसरे सभी हाथी भाग जाते है, उसी प्रकार गंध हस्ती की तरह श्रेष्ठ पुरुष, जिनके विहार क्षेत्र के ईति—धान्यादि की फसलों को हानि पहुँचाने वाले चूहे टीढ़ आदि, भीति—परचक्र भय, दुर्भिक्ष दुष्काल, लूटपाट आदि और महामरी महारोग आदि दुरित नष्ट हो जाते हैं।

**लोकोत्तम**—लोक के सभी प्राणियो में परम उत्तम।

**लोकनाथ**— संज्ञी भव्य प्राणियो के स्वामी। उन्हें सम्यग्-दर्शनादि के द्वारा योग क्षेम प्राप्त कराने वाले। अनाथ को नाथ बनाने वाले लोकनाथ।

**लोकहितंकर**—लोक के हित में निमित्त बनने वाले

लोक के जीवों को शाश्वत सुख प्राप्त करवाने में उत्कृष्ट सहायक।

**लोक प्रदीप**—जीवों के हृदय में भरे हुए अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञान का दीपक प्रकटाने वाले उत्तम प्रदीप।

**लोक प्रद्योतकर**—सूर्य के समान। समस्त लोक और अलोक के स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले। जीव अजीव आदि तत्त्वों के भेद प्रभेद के रहस्य को प्रकट करनेवाले।

**अभयदाता**—किसी को भय नहीं देने वाले और सभी जीवों के भय को दूर करने वाली अहिंसा = अभया के धारक, प्रसारक। निर्भयता प्रदायक।

**चक्षुदाता**—श्रुतज्ञान रूपी चक्षु प्रदान करके हेय ज्ञेय और उपादेय को जानने की दृष्टि खोलने वाले। जिस प्रकार किसी धनिक को भयानक अटवी में डाकुओ ने लूटकर आंखों पर पट्टी बांधकर धकेल दिया हो और वह अन्धे की तरह इधर उधर भटक रहा हो, उस समय कोई उपकारी पुरुष उसके आँखों की पट्टी खोलकर रास्ते पर लगावे और इच्छित स्थान पर पहुंचा दे, तो वह उपकारी माना जाता है, उसी प्रकार संसार रूपी भयानक अटवी में भटकते हुए जीवों को ज्ञानरूपी चक्षु प्रदान कर मोक्षरूपी परम सुखमय स्थान को प्राप्त कराने वाले।

**मार्गदाता**—मोक्षरूपी महानगर को प्राप्त करनें के ज्ञानादि मार्ग को बताने वाले।

**शरणदाता**–अनेक प्रकार के रोग, शोक, मरण और उपद्रव रूपी दुःख से भरे हुए संसार से भव्य प्राणियों को निरुपद्रव एकान्त शाश्वत सुख के स्थान को प्राप्त कराने वाले।

**जीवनदाता**–जन्ममरण के दुःख से दूर कर शाश्वत अखण्ड जीवन प्रदान करने वाले।

**बोधिदाता**–शुद्ध समझ के देने वाले। सम्यक्त्व रत्न के दाता।

**धर्मदाता**–चारित्र रूपी धर्म का दान करने वाले।

**धर्मदेशक**–श्रुत और चारित्र धर्म का उपदेश करनेवाले।

**धर्म नायक**–धर्म रूप संघ एवं तीर्थ के नायक।

**धर्म सारथि**–धर्मरूपी रथ के चालक। धर्मरूपी रथ में बैठकर मोक्षनगर की ओर जाने वाले भव्यात्माओं को और धर्म रथ को रक्षापूर्वक आगे बढ़ाने वाले–कुशल रथि।

**धर्मवर चातुरंत चक्रवर्ती**–जिस प्रकार तीन ओर समुद्र और एक ओर हिमाचल पर्वत पर्यन्त पृथ्वी का स्वामी 'चातुरंत चक्रवर्ती कहलाता है, उसी प्रकार लोक में भगवान् धर्म के चातुरन्त चक्रवर्ती–एक छत्र स्वामी है। अन्य प्रवर्त्तकों से अत्यधिक श्रेष्ठ धर्मशासक। अथवा–चतुर्गतिरूप संसार का अंत करने वाले धर्मचक्रवर्ती।

**द्वीप-त्राण-सरण-गतिप्रतिष्ठारूप**–संसाररूप समुद्र में डूबते हुए जीवों के लिए द्वीप के समान आधारभूत, तारक, शरण-

प्रद, उत्तमगति और प्रतिष्ठा रूप।

**अप्रतिहत-वर-ज्ञान-दर्शनधर**—दिवाल पर्वत्त आदि किसी भी प्रकार की ओट से नही रुकनेवाले, विशुद्ध, अविसंवादी, क्षायक एवं प्रधान केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक।

**व्यावृत्त छद्म**—जिनकी छद्मस्थता—ज्ञान का आवरण नष्ट होगया, जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं।

—राग द्वेष रूपी शत्रुओ को जीत कर विजयी हुए।

**जापक**—दूसरों को जिन बनाने वाले।

**तिरक**—संसार समुद्र से तिरगये।

**तारक**—भव्य जीवो को संसार समुद्र से तिराकर पार पहुंचाने वाले।

**बुद्ध**—जीवादि तत्त्वों को संपूर्णरूप से जानने वाले।

**बोधक**—भव्य जीवो को तत्त्व का बोध देने वाले।

**मुक्त**—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त, अथवा संसार के मूल ऐसे मोहनीय आदि घातिकर्म से मुक्त।

**मोचक**—भव्य जीवों को मुक्त करनेवाले।

**सर्वज्ञ सर्वदर्शी**—समस्त पदार्थों, उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्थाओ—भूत भविष्य और वर्त्तमान की सभी अनन्तानन्त पर्यायों को विस्तार से और सामान्यरूप से जानने वाले।

शिव—सभी प्रकार के उपद्रवों से रहित, अचल—स्थिर नीरोग, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध ( बाधा पीड़ा से रहित )

अपुनरावर्तित (जहा से फिर आना नही होता ऐसे) सिद्धिगति नामवाले स्थान को प्राप्त (शुद्धात्मा) को नमस्कार हो।

श्रमण भगवान् महावीर,–( जो कि ) आदिकर, तीर्थङ्कर... (यावत्) सिद्धिगति नामवाले स्थान को पाने के इच्छुक (=भावी सिद्ध) है, मेरे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक है (उन्हे) नमस्कार हो।

यहाँ पर स्थित (मे) वहाँ पर स्थित भगवान् को वन्दना (=स्तुति) करता हूँ। वहाँ पर स्थित भगवान् यहाँ पर स्थित मुझे देखते है।

इस प्रकार (वह कूणिक राजा) वन्दना-नमस्कार करता है।

टिप्पण–२ 'वंदामि णं भगवन्तं.....इहगयं'–इस सूत्रांश में अगोपन-भाव की साधना का सङ्केत है। भगवान् की स्तुति करते हुए इस भावावेश को साक्षीभाव के रूप में धारण किया जाता है कि–'मेरी समस्त क्रियाएँ भगवान् के ज्ञान में प्रत्यक्ष है'। यह भाव जब अभ्यास से स्थायी बन जाता है तब भगवान् की आज्ञा का सदा स्मरण बना रहता है और छिप कर अनाचार-सेवन की वृत्ति–मायाचार की भावना मिट जाती है। अतः सम्यक्त्व की शुद्धि के साथ ही उन्चतम चारित्र्य मार्ग में गमन के वेग की वृद्धि होती है।

३ यहाँ सिद्ध और अर्हन्त दोनों के लिये प्रणिपात सूत्र कहे गये हैं। वस्तुतः सिद्धों के प्रणिपात पूर्वक धर्माचार्य को प्रणिपात किया गया है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि जब जब परोक्ष रूप में स्थित अर्हन्त या धर्माचार्य को वंदन नमस्कार किया जाता है, तब उससे पहले सिद्धों को प्रणिपात करना चाहिए। यह विषय तत्त्वज्ञों के लिये विचारणीय है।

वंदित्ता णमंसित्ता सीहासण-वर-गए पुरत्थाभिमुहे निसीअइ। निसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउअस्स अद्दुत्तर सयसहस्सं पीइदाणं दलयइ। दलइत्ता सक्कारेइ सम्माणेइ। सक्कारित्ता सम्माणित्ता एवं वयासी–'जया णं देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे इहमागेच्छा–इह समोसरिज्जा, इहेव चंपाए णयरीए बहिया पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरेज्जा, तया णं मम एअमट्ठं निवेदिज्जासि'–त्तिकट्टु विसज्जिए।

वह वन्दना-नमस्कार करके, पूर्व की ओर मुख रखकर, सिंहासन पर ठीक तरह से बैठा। उस प्रवृत्ति-निवेदक को एक लाख आठ हजार (रजतमुद्रा) का प्रतिदान दिया (श्रेष्ठ वस्त्रादि से) सत्कार किया, (आदर-सूचक वचनों से) सन्मान किया। पुनः इस प्रकार बोला–'हे देवानुप्रिय! जब श्रमण भगवान् महावीर यहाँ आवे–यहाँ समवसरे, इस चम्पा नगरी के बाहर पूर्णभद्र चैत्य में संयमियो के योग्य आवासस्थान को ग्रहण करके, संयम और तपसे आत्मा को भावित करते हुए विचरें, तब यह सूचना मुझे देना'।

इस प्रकार कह कर उस प्रवृत्ति-निवेदक को विसर्जित किया।



## भगवान् का आगमन

१३—तए णं समणे भगवं महावीरे कल्लं पाउप्प-भायाए रयणीए फुलुप्पल-कमल-कोमलुम्मिलियम्मि अह पंडुरे पहाए-रत्तासोगप्पगास किंसुअसुअ-मुह-गुंजद्ध-राग-सरिसे कमलागर-संड-बोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते, जेणेव चंपा णयरी, जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता अहा-पडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तब श्रमण भगवान् महावीर, फैलते हुए प्रकाश से (विदाई लेती हुई) रात्रि में—ऊषाकाल में फूलते हुए पद्मों की कोमल पँखुरियाँ और हरिणो की सुकुमार आँखे खुल रही थी—ऐसे उजले प्रभात में, लाल अशोक के समान प्रभावाले, पलाश (=खाँखरे) के फूल, शुक की चोंच और गुंजाफल के आधे भागकी लाली के समान (अरुण-लाल), कमलाकरो (=जला-शयो) के कमल वन के चेतना-प्रदायक, हजार किरणोंवाले, दिन के स्रष्टा, तेज से ज्वाजल्यमान सूर्य के उदय होने पर, जहाँ चम्पा नगरी थी—जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ पधारे। पधारकर संयम मार्ग के अनुकूल आवास को ग्रहण करके, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

## भगवान् के अन्तेवासी

१४—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे समणा भगवंतो, अप्पेगइया उग्गपव्वइया भोगपव्वइया राइण्णपव्वइया णायपव्वइया कोरव्वपव्वइया खत्तिअपव्वइया, भडा जोहा सेणावई पसत्थारो सेट्ठी इब्भा अण्णे य बहवे एवमाइणो, उत्तम-जाइ-कुल-रूव-विणय-विण्णाण-वण्ण-लावण्ण-विक्कम-पहाण-सोहग्ग-कंति-जुत्ता बहु-धण धण्ण-णिचय-परियाल-फिडिआ णरवइ-गुणाइरेगा इच्छिअ भोगा सुह-संपललिआ, किंपाग-फलोवमं च मुणिअ विसयसोक्खं, जलबुब्बुअ-समाणं कुसग्ग-जलबिंदु-चंचल जीवियं च णाऊण, अद्धुवमिणं रयमिव पडग्गलग्गं संविधुणित्ता णं चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइआ, अप्पेगइया अद्धमास-परिआया अप्पेगइआ मासपरिआया एवं दुमास-तिमास...जाव एक्कारस-मास-परिआया अप्पेगइया वासपरिआया दुवास......तिवास-परिआया, अप्पेगइया अणेगवास-परिआया, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

उस काल और उस समय में श्रमणभगवान् महावीर के अन्तेवासी (=शिष्य) बहुत-से श्रमण भगवन्त..संयम और

तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे। उनमें से कई उग्रवंशवाले प्रव्रजित (=दीक्षित) हुए थे, तो कई भोगवंशवाले, राजन्यवंशवाले, ज्ञात या नागवंशवाले, कुरुवंशवाले और क्षत्रियवंशवाले दीक्षित हुए थे। भट, योधा, सेनापति, धर्मनीति-शिक्षक, श्रेष्ठि (=स्वर्णपट्टाङ्कित धनिक), इभ्य (=हस्ति ढँक जाय इतनी धन राशिवाले धनिक) और ऐसे ही और भी बहुत से जन-जिनकी जाति (=मातृपक्ष) और कुल (पितृपक्ष) उत्तम थे; जिनका रूप (=शरीर का आकार), विनय, विज्ञान, वर्ण (=काया की छाया), लावण्य, विक्रम, सौभाग्य और कान्ति अत्युत्तम थी, जो विपुल धन-धान्य के संग्रह और परिवार से विकसित (खुशहाल) थे, जिनके यहां राजा से प्राप्त पांचों इन्द्रियों के सुख का अतिरेक था, अतः इच्छित भोग भोगते थे और जो सुख से क्रीड़ा करने में मस्त थे-वे विषयसुख को विषवृक्ष (=किंपाक) के फल के समान समझकर और जीवन को पानी के बुदबुदे के समान तथा कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चञ्चल (=क्षणिक) जानकर, इन ऐश्वर्य आदि अध्रुव पदार्थों को कपड़े पर लगी हुई रज के समान झाड़कर-विपुल रूपा, सुवर्ण (=घड़ा हुआ सोना), धन (=गौ आदि), धान्य, बल (=चतुरंग सैन्य), वाहन, कोश, कोष्ठागार, राज्य, राष्ट्र, पुर, अन्तःपुर, धन (=गणिमादि चार तरह के पदार्थ), कनक (=बिना घड़ा हुआ सोना), रत्न (कर्केतन आदि), मणि (चन्द्रकान्त आदि), मौक्तिक, शंख,

शिलाप्रवाल (=विद्रुम-मूंगे), पद्मराग आदि पदार्थों को छोड़-कर—दीक्षित बन गये। कई को दीक्षित हुए आधा महिना ही हुआ था, कई को महिने, दो महिनें, तीन महिने यावत् ग्यारह महिने, एक वर्ष, दो वर्ष और तीन वर्ष हुए थे तो कई को अनेक वर्ष हो गये थे।

टिप्पण—'...चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइआ'....इस सूत्रांश में स्थित 'जाव' शब्द से निम्न लिखित पद संगृहीत किये गये हैं—'चिच्चा सुवण्णं चिच्चा धणं एवं धण्णं बलं वाहणं कोसं कोट्ठागारं रज्जं रट्ठं पुरं अंतेउरं, चिच्चा विपुल-धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिअ-संख-सिलप्पवाल-रत्तरयण माईयं संत-सारसावतेज्जं विच्छड्डइत्ता विगोवइत्ता, दाणं च दाइयाणं परिभायइत्ता, मुण्डा भवित्ता, अगाराओ अणगारियं'—

इनमें से कुछ पदों के अर्थ ऊपर दिये जा चुकें हैं। कुछ पदों के अर्थ निम्न-लिखित हैं—'...विद्यमान प्रधान द्रव्य को विशेष रूप से छोड़-कर या वमन के समान करके, खुला छोड़कर के या अपना स्वामित्त्व हटाकर-प्रकट करके या अपनें कुटुम्बियों आदि देनें योग्य व्यक्तियों को देकर—बांटकर और मुण्ड होकर, अगारी से अनगार वनें थे'।

'विछड्डइत्ता' पद से विषयभोगों की तरफ तीव्र अरुचि का भाव 'विगोवइत्ता' पद से धन-धान्यादि के प्रति निर्ममत्त्व का भाव और 'परिभायइत्ता' पद से उदारता एवं करुणा का भाव दर्शित होता है।



# निर्ग्रन्थों की ऋद्धि

भगवान् के साथ जो श्रमण थे, वे कैसे थे, सो उनका वर्णन किया जाता है-

**१५——तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे निग्गंथा भगवंतो;**

—उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत-से निर्ग्रन्थ (=बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित) (भगवान् के साथ में) थे।

**अप्पेगइया आभिणिबोहियणाणी जाव केवलणाणी**

—(जिनमे) कई आभिनिबोधिकज्ञानी (=इन्द्रियों और मन के द्वारा, योग्य देश में स्थित पदार्थों को जाननेवाले) यावत् केवलज्ञानी (=आत्मप्रदेशों से सम्पूर्ण द्रव्यों और उनकी तीनों काल की समस्त अवस्थाओं को जाननेवाले) थे।

टिप्पण—'जाव' शब्द से 'सुयणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी' पदों का संग्रह किया गया है। वे श्रुतज्ञानी (=अंगादि सिद्धांतों के ज्ञाता), अवधिज्ञानी (=मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मा से ही रूपी पदार्थों के ज्ञाता) और मनःपर्यवज्ञानी (=मन की अवस्थाओं से मनः चिन्तित बातों के ज्ञाता) थे। अर्थात् कई दो ज्ञान के (=मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के) धारक थे, तो कई तीन ज्ञान (=मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मन-पर्यवज्ञान) के, चार ज्ञान (=मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान) के और एक ज्ञान (=केवलज्ञान) के धारक थे।

अप्पेगइया मणबलिआ वयबलिआ कायबलिआ +

—कई मनोबली (=मन की स्थिरता के धारक), वचनबली (=प्रतिज्ञात अर्थ=कहे हुए आशय का निर्वाह करनेवाले या परपक्ष को क्षोभकारी वचनशक्ति के धारक) और कायबली (=भूख, प्यास, शरदी, गर्मी आदि परीषह के सहने में ग्लानि से रहित रहने की कायिक शक्ति के धारक) थे।

टिप्पण—कई तीनों बल के, तो कई दो बल के (=मन-वचन बली या मन-काय बली या वचन-मन बली या वचन-काय बली) और कई एक-एक बल के धारक थे।

अप्पेगइया मणेणं सावाणुग्गह-समत्था वएणं सावाणुग्गह समत्था, काएणं सावाणुग्गह समत्था

—कई मन से शाप (=अपकार) और अनुग्रह (=उपकार) करने में समर्थ थे। कई वचन से शाप और कृपा करने में समर्थ थे और कई काया से शाप और कृपा करने में समर्थ थे।

अप्पेगइया खेलोसहि-पत्ता।

—कई खेलौषधि (=खंकार से ही सभी रोगादि मिटाने की शक्ति) को पाये हुए थे।

एवं जल्लोसहिपत्ता विप्पोसहिपत्ता आमोसहिपत्ता सव्वोसहिपत्ता।

---

+ वाचनान्तराधीतं चेद विशेषणत्रयम्—'नाणबलिया, दंसणबलिया चारित्तबलिया'।

–इसी प्रकार जल्लोषधि (=शरीर के मैल से रोग आदि अनर्थ उपशान्त करने की शक्ति ) विप्रुडौषधि(=मूत्रादि की बूंदों रूप औषधि, अथवा वि का अर्थ विष्ठा और प्र का अर्थ प्रश्रवण (मूत्र) है, ये दोनों औषधिरूप), आमर्ष (=हस्तादि स्पर्श ) औषधि, सर्वौषधि ( केश, नख, रोम, मल आदि सभी का औषधि रूप बन जाना ) लब्धि को प्राप्त थे।

**अप्पेगइया कोट्ठबुद्धी एवं बीअबुद्धी पडबुद्धी ।**

–कई कोष्ठबुद्धिवाले (=कोठार में भरे हुए सुरक्षित धान्य की तरह प्राप्त हुए सूत्रार्थ को धारण करने में समर्थ मतिवाले ) थे। इसी प्रकार बीजबुद्धिवाले ( =बीज के समान विस्तृत और विविध अर्थ के महावृक्ष को उपजानेवाली बुद्धि के धारक ) और पटबुद्धिवाले ( वस्त्र में संगृहीत पुष्प-फल के समान, विशिष्ट वक्ताओं द्वारा कथित प्रभूत सूत्रार्थ का संग्रह करने में समर्थ बुद्धिवाले ) थे।

**अप्पेगइया पयाणुसारी । अप्पेगइया संभिन्नसोआ ।**

–कई पदानुसारी (=सूत्र के एक ही पद के ज्ञात होने पर, उस सूत्र के अनुकूल सैकड़ो पदों का स्मरण कर लेने की–जान लेने की शक्ति के स्वामी) थे। कई संभिन्न श्रोत (=बहुत-से भिन्न-भिन्न जाति के शब्दों को, अलग-अलग रूप से, एक साथ श्रवण करने की शक्तिवाले या सभी इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि पाचों विषयों को ग्रहण करने की शक्ति वाले अर्थात् किसी भी एक इन्द्रि से पांचों विषयों को ग्रहण कर

की शक्तिवाले) थे।

**अप्पेगइया खीरासवा। अप्पेगइया महुआसवा। अप्पेगइआ सप्पिआसवा। अप्पेगइया अक्खीणमहाणसिआ।**

—कई क्षीराश्रव (=श्रोताओं के लिये दूध के समान मधुर, कान और मन को सुखकर वचन शक्तिवाले) थे। कई मधु-आश्रव (=मधु के समान सभी दोषों को मिटाने मे निमित्त रूप और प्रसन्नकारक वाचिक शक्तिवाले) थे। कई सर्पिराश्रव (=घी के समान अपने विषय में श्रोताओं का स्नेह सम्पादित करनें की वाचिक शक्तिवाले) थे। कई अक्षीण-महानसिक (=प्राप्त अन्न को जहाँ तक स्वयं न खा ले, वहां तक सैकडों-हजारों को देने पर भी वह अन्न समाप्त न हो, ऐसी लब्धि के धारक) थे।

**एवं उज्जुमई। अप्पेगइआ विउलमई।**

—इसी प्रकार ऋजुमति (=मात्र सामान्य रूप से मन की ग्राहिका मतिवाले) थे। कई विपुलमति (=विशेषता सहित चिन्तित-द्रव्य को जानने की शक्तिवाले) थे।

टिप्पण—ये दोनों मनःपर्यायज्ञानी के भेद हैं। ऋजुमति ढ़ाई अंगुल कम मनुष्य क्षेत्र में स्थित संज्ञी जीवों कें मन को सामान्य रूप से जानते है और विपुलमति सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र में स्थित संज्ञी जीवों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशेषता सहित चिन्तक मन को जानते हैं अथवा मनः चिन्तित द्रव्य को विशेषता सहित जानते हैं। (टीका०)

**विउव्वणिड्ढिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासाइवाइणो।**

—कई विकुर्वणऋद्धि(=नाना भाँति के रूप बनानें की शक्ति ) से सम्पन्न थे। कई चारण (=गति सम्बन्धी ऋद्धिवाले), विद्याधर (=प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं के धारक), आकाशातिपाती (=गगन गामिनी शक्तिवाले)थे।

टिप्पण—चारण लब्धि दो प्रकार की है। जंघाचारण और विद्याचारण। जंघाचारण—अष्टम (=तेला)—अष्टम की तपश्चर्या करनेवाले यति को यह लब्धि उत्पन्न होती है। जिससे जंघा से सम्बन्धित किसी एक व्यापार के द्वारा एक उड़ान में तेरहवें रुचकवर नामक द्वीप तक और मेरु पर्वत पर जा सकते हैं और वहाँ से आने में दो उड़ान लगानी पड़ती है। विद्याचारण लब्धि—षष्ठ (=दो दिन के उपवास ) षष्ठ की तपश्चर्या करनेंवाले यति को पैदा होती है। जिससे श्रुत—विहित ईषत् उपष्टंभ (=अवलम्बन) से दो उड़ान के द्वारा आठवें नन्दीश्वर द्वीप तक और मेरु पर्वत पर जाने में समर्थ होते हैं और वहाँ से वापिस एक ही उड़ान में आ सकते हैं।

'आगासातिवाइणो' की संस्कृतच्छाया दो तरह से बनती है—'आकाशातिपातिनः' और 'आकाशादिवादिनः'। आकाशातिपाती=विद्या या पादलेप के प्रभाव से आकाश में गमन करनेंवाले अथवा आकाश से रजत आदि इष्ट या अनिष्ट वर्षा करनें की शक्तिवाले। आकाशादिवादी =आकाश आदि अमूर्त पदार्थों के साधने में समर्थ वादी।(—टीका.)

## निर्ग्रन्थों का तप

अप्पेगइया कणगावलिं तवोकम्मं पडिवण्णा। एवं एकावलिं।

—कई कनकावली तपः कर्म और इसी प्रकार एकावली तप करनेंवालें थे।

टिप्पण–

कनकावली तप * स्वर्ण मणियों के भूषण विशेष के आकार की कल्पना से किया गया तप। इस तप में क्रमशः चतुर्थ (=उपवास), षष्ठ (=दो दिन के उपवास) और अष्टम (=तीन दिन के उपवास) करते हैं। फिर चार-चार की दो पक्तियों के रूप में या चार रेखाओं से नव कोष्ठक में बीच के कोष्ठक खाली रखते हुए आठ अष्टम। इसके बाद चतुर्थ से लगाकर दो–दो भक्त की वृद्धि करते हुए क्रमशः चौंतीस भक्त (=सोलह दिन के उपवास) तक चढ़ना। हार के मध्य भाग की कल्पना के रूप में (=२, ३, ४, ५, ६, ५, ४, ३, २ या आठ और छह रेखाओं से निर्मित पंतीस कोष्ठकों को, मध्य के कोष्ठक को खाली रखते हुए) चौंतीस अष्टमों की स्थापना। फिर चौंतीस भक्त से क्रमशः दो–दो भक्त कम करते हुए चतुर्थ तक करना। इसके बाद पूर्ववत् आठ अष्टम और क्रमशः अष्टम, षष्ठ और चतुर्थ। यह एक परिपाटी। पूरे तप में ऐसी चार परिपाटी की जाती है।

एक परिपाटी, १ वर्ष, ५ महिने, और १२ दिन में पूरी होती हैं।
चार परिपाटी, ५ वर्ष, ९ महिने और १८ दिन में पूरी होती है।

पहली परिपाटी में पारणे में विकृति (=दूध आदि) लेते हैं। दूसरी में विकृति का त्याग। तीसरी में लेप का त्याग। चौथी में आयंबिल।

एकावली तप–क्रमशः चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम। आठ चतुर्थ। चतुर्थ से लगाकर चौंतीस भक्त तक क्रमशः चढ़ना। चौंतीस चतुर्थ भक्त। चौंतीस भक्त से क्रमशः चतुर्थ तक उतरना। आठ चतुर्थ। फिर क्रमशः अष्टम, षष्ठ और चतुर्थ।

---

* तप की स्थापना अंतगड़ सूत्र में देखें।

एक परिपाटी का काल–१ वर्ष, २ महिने और २ दिन।

चार परिपाटियों का काल–४ वर्ष, ८ महिने और ८ दिन।

पारणे में पूर्व=वत्।

**खुड्डाग-सीह-निक्कीलियं तवोकम्मं पडिवण्णा। अप्पेगइया महालयं सीह-निक्कीलियं तवोकम्मं पडिवण्णा।**

–कई लघुसिंहनिष्क्रीडित तपःकर्म के करनेवाले और कई महासिंहनिष्क्रीडित तपःकर्म के करनेवाले थे।

टिप्पण–जिस प्रकार सिंह, गमन करते हुए, पीछे छोड़े हुए प्रदेश को मुड़कर देखता जाता है, उसी प्रकार किये हुए तप को आगे बढ़कर पुनः करना, सिंहनिष्क्रीडित नाम का तपःकर्म कहा जाता है। इसके क्षुल्लक (=लघु) और महा-ये दो भेद हैं।

लघुसिंहनिष्क्रीडित तप–चतुर्थ, षष्ठ-चतुर्थ, अष्टम-षष्ठ, दशम (=चार दिन के उपवास)-अष्टम, द्वादश-दशम, चतुर्दश-द्वादश, षोडश-चतुर्दश, अष्टादश-षोडश, विंशतितम (=९ दिन के उपवास)-अष्टादश और विंशतितम। एवं षोडश (=७ दिन के उपवास)-अष्टादश (=आठ दिन के उपवास), चतुर्दश-षोडश, द्वादश-चतुर्दश, दशम-द्वादश, अष्टम-दशम, षष्ठ-अष्टम, चतुर्थ-षष्ठ और चतुर्थ। यह एक परिपाटी। ऐसी चार परिपाटियाँ करने पर, यह तप पूरा होता है।

एक परिपाटी का काल–६ महीने और ७ दिन।

चार परिपाटियों का काल–२ वर्ष और २८ दिन।

पहली परिपाटी में पारणे के दिन विकृति (=घी,

दूध, दही, तेल और मीठा ) ले सकते है। दूसरी परिपाटी के पारणो में विकृति का त्याग कर देते है। तीसरी परिपाटी के पारणों में (विकृति के) लेप का भी त्याग कर देते है और चौथी परिपाटी के पारणों में आयंबिल (=रांधा हुआ या भुना हुआ अचित्त अन्न, पानी में भिगोकर, मात्र एक समय खाना) करते है।

**महासिंहनिष्क्रीडित तप**—१ दिन का उपवास, दो दिन और एक दिन का उपवास, इसी प्रकार क्रमशः सोलह दिन और पन्द्रह दिन के उपवास और सोलह दिन के उपवास ( चतुस्त्रिशत्तम )एवं तीस भक्त-बत्तीस भक्त (=१४ और १५ दिन के उपवास),इसी प्रकार क्रमशः चतुर्थ-षष्ठ और चतुर्थ तक उतरना।

एक परिपाटीका काल—१ वर्ष ६ महीनें और १८ दिन।

चार परिपाटियों का काल—६ वर्ष २ महीनें और १२दिन।

पारणक-विधि पूर्ववत्।

**भद्दपडिमं महाभद्दपडिमं सव्वओभद्दपडिमं आयंबिलवद्धमाणं तवोकम्मं पडिवण्णा।**

—( कई ) भद्रप्रतिमा, महा भद्रप्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा और आयम्बिल-वर्द्धमान तपःकर्म करनेवाले थे।

टिप्पण—

**भद्रप्रतिमा**—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में मुख रखकर, क्रमशः प्रत्येक दिशा में चार-चार पहर तक ध्यान करना। यह प्रतिज्ञा दो दिन की है।

**महाभद्र प्रतिमा**--इसमें क्रमशः प्रत्येक दिशा में एक-एक अहोरात्रि तक, कुल चार अहोरात्रि तक कायोत्सर्ग किया जाता है।

**सर्वतोभद्र प्रतिमा**--टीकाकार इस प्रतिमा की दो विधियाँ बतलाते है-(१) क्रमशः दश दिशाओं में मुख करकें, एक-एक अहोरात्रि तक-कुल दश अहोरात्रि तक-कायोत्सर्ग करना। (२) दूसरी विधि के अनुसार इस प्रतिमा के दो भेद हैं-लघु और महा।

**लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा**- (जिस स्थापना में चारों ओर से अंकों की गिनती करने पर जोड़ बराबर आये उसे सर्वतोभद्र कहते है।) इस तप में क्रमशः चतुर्थ से लगाकर द्वादशम (=पाँच दिन के उपवास) तक चढ़ते है। फिर मध्य कें कोष्ठक में आये हुए अङ्क को आदि में रखकर, शेष चार पंक्तियाँ पूरी की जाती है।

एक परिपाटी का कालमान-७५ दिन तपश्चर्या और २५ पारणक। तीन महीनें, १० दिन।

चार परिपाटियों का कालमान-१ वर्ष, १महीना और १० दिन।

पारणक विधि पूर्ववत्।

**महासर्वतोभद्र प्रतिमा**-क्रमशः ७ अङ्क तक की तपश्चर्या। मध्य कोष्ठक गत अङ्क को आदि में रख कर, अगली-अगली पङ्क्तियों का निर्माण।

एक परिपाटी का कालमान-८महीनें और ५ दिन।

चारों परिपाटियो का कालमान-२वर्ष, ८ महीनें, २० दिन।

**आयम्बिल वर्द्धमान**-(जिसमें रांधा हुआ या भुना हुआ अचित्त अन्न, पानी में भिगो कर एक बार खाया जाता है, उसे आयम्बिल नामक तप कहा जाता है)। एक आयम्बिल-चतुर्थ। दो आयम्बिल, चतुर्थ। इस

प्रकार क्रमशः एक-एक आयम्बिल को बढ़ाते हुए,सौ आयम्बिल और चतुर्थ तक पहुँचते हैं। टीकाकार ने--चतुर्थ, फिर एक आयम्बिल, चतुर्थ--दो आयम्बिल, क्रमशः चतुर्थ-सौ आयम्बिल ऐसा विधान किया है, किन्तु पहले का क्रम ही ठीक है,क्योंकि अन्तगड़सूत्र में इसी प्रकार बतलाया गया है। इस तप में ५० ५० आयम्बिल और १०० उपवास होते हैं। कुल १४ वर्ष, ३महीने और२० दिन जितना काल होता है।

**मासिअं भिक्खुपडिमं, एवं दोमासिअं पडिमं, तिमासिअं भिक्खुपडिमं, जाव सत्तमासिअं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा।**

--कई निर्ग्रंथ मासिकी भिक्षुप्रतिमा (=एक महीने की साधु की प्रतिज्ञा विशेष), इसी प्रकार द्विमासिकी, त्रिमासिकी यावत् सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा के धारक थे।

टिप्पण--

**मासिकी भिक्षु प्रतिमा**--एक महीने तक एक दत्ति(=आहार-पानी के ग्रहण से सम्बन्धित विधि विशेष) आहार और एक दत्ति पानी ग्रहण करने की प्रतिज्ञा।

इसी प्रकार द्विमासिकी से सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा में क्रमशः २, ३, ४, ५, ६ और ७ दत्ति आहार-पानी ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की जाती है।

**अप्पेगइया पढमं सत्त-राइंदिअं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, जाव तच्चं सत्त-राइंदिअं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा।**

--कई निर्ग्रंथ प्रथम सप्त रात्रिदिवा भिक्षुप्रतिमा के धारक थे, यावत् तीसरी सप्त रात्रिन्दिवा भिक्षुप्रतिमा के धारक थे।

टिप्पण–तीन प्रतिमाओं का कालमान सात-सात दिन का है। अतः क्रमशः प्रथमा, द्वितीया और तृतीया उनकी नाम संज्ञा दी गई है।

**प्रथमा स० भि.**–सात दिन तक एकान्तर उपवास। उपवास में चारों आहार का त्याग, उत्तानक (=चित्त लेटना) या पार्श्वशायी (=बगल से लेटना) या निषद्योपगत होकर–पालठी लगाकर ग्रामादि से बाहर रहना।

**द्वितीया सप्त. भि.**–सात दिन पूर्ववत् तप करना। उत्कुटुक (=दोनों पञ्जों के बल, घुटने खड़े रखकर बैठना) या लगण्डशायी (=सिर्फ शिर और एडियों का ही पृथ्वी पर स्पर्श हो, इस प्रकार पीठ के बल लेटना), या दण्डायत (=सीधे डण्डे की तरह लेटना) होकर, ग्रामादि से बाहर रहना।

**तृतीया सप्त. भि.**–सात दिन तक पूर्ववत् तप करना। ग्रामादि से बाहर गोदूहासन (=गाय दूहने की स्थिति में बैठना) या वीरासन (=वीर पुरुष के बैठने के ढंग से बैठना अर्थात् कुर्सी पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जो स्थिति होती है उस आसन से बैठना) या आम्रकुब्जासन (=आम्रफल वत् वक्राकार स्थिति में बैठना) से रहना।

राइंदिअं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, एगराइयं भिक्खू-पडिमं पडिवण्णा।

कई निर्ग्रंथ एक रात और एक दिन की भिक्षु प्रतिमा के धारक थे और कई एक रात की भिक्षु प्रतिमा के धारक थे।

टिप्पण–यह पाठ टीकाकार के अभिप्राय के अनुसार है। 'समवायांग' में 'अहोराइया' और 'एगराइया' पाठ है। किन्तु 'उववाइय' के मूल में 'अहो राइंदिअं' और 'इक्कराइंदिअं' पाठ है।

**अहोरात्रि की भि०**—इस प्रतिमा में चौविहार षष्ठोपवास (=दो दिन के उपवास) किया जाता है। इस प्रतिमा का आराधक गाँव के बाहर रहकर इसकी आराधना करता है और प्रलम्बभुज (=दोनों हाथों को लटकते हुए स्थिर रखना) अवस्था में स्थित रहता है। (टी०)—

**एक रात्रि की भि०**—इस प्रतिमा की आराधना चौविहार अष्टम-भक्त (=तीन दिन के उपवास) के द्वारा की जाती है। इसका आराधक भी ग्रामादि के बाहर ही रहता है। जिनमुद्रा (=दोनों पैरो के बीच चार अंगुल का अन्तर रखते हुए, सम अवस्था में खड़े रहना), प्रलम्बभुज (=लटकते हुए स्थिर हाथ), अनिमिषनयन (=पलके झपकाने से रहित स्थिति=एक टक), एक पुद्गल निरुद्धदृष्टि (=किसी एक पुद्गल पर दृष्टि लगाना) और कुछ झुके हुए शरीर से स्थित रहकर एक रात तक इसकी आराधना की जाती है।

विशिष्ट संहनन आदि से युक्त व्यक्ति ही इन प्रतिमाओं की आराधना कर सकता है। कहा है—

> पडिवज्जइ एयाओ, संघयणधिइजुओ महासत्तो।
> पडिमाउ भावियप्पा, सम्मं गुरुणा अणुन्नाओ॥

संहनन (=शारीरिक बल) और धृति (=धैर्य=आत्मिकबल) से युक्त महासत्त्वशाली (=अतिशय पराक्रमी) सम्यक् रूप से भावित आत्मा (=संयम के संस्कारों से युक्त या संयम में तल्लीन शुद्ध आत्मा) और गुरु के द्वारा अनुज्ञात (=जिसे आज्ञा मिल गई हो या जिसे अधिकार प्राप्त हो गया हो ऐसा व्यक्ति) इन प्रतिमाओं को स्वीकार करता है।

(—टीका में उद्धृत गाथा)

सत्त-सत्तमिश्रं भिक्खुपडिमं, अट्ठ-अट्ठमिश्रं भिक्खुपडिमं, णव-णवमिश्रं भिक्खुपडिमं, दस-दसमिश्रं भिक्खुपडिमं+। खुड्डियं मोअ-पडिमं पडिवण्णा। महल्लियं मोअपडिमं पडिवण्णा। जवमज्झं चंदपडिमं पडिवण्णा। वइर (वज्ज) मज्झं चंदपडिमं पडिवण्णा* ।

—कई निर्ग्रन्थ सप्त-सप्तमिका भिक्षुप्रतिमा (=सात-सात दिन के सात दिन-समूहों की साधु की प्रतिज्ञा), अष्ट-अष्टमिका (=आठ-आठ दिन के आठ दिन समूहों की) भिक्षुप्रतिमा, नवनवमिका भिक्षुप्रतिमा, दशदशमिका भिक्षुप्रतिमा, क्षुल्लक मोक प्रतिमा के धारक, महामोक प्रतिमा के धारक, यव-मध्य-चन्द्र प्रतिमा के धारक और वज्र-मध्य चन्द्र प्रतिमा के धारक थे।

टिप्पण—

सप्त सप्तमिका भिक्षुप्रतिमा—यह ४९ दिन की प्रतिमा है। सात-सात दिन के सात सप्तक (वर्ग)। पहले सप्तक में पहले दिन एक-एक दत्ति अन्न-पानी, एवं क्रमशः सातवें दिन सात-सात दत्ति अन्न-पानी के ग्रहण की प्रतिज्ञा। इसी प्रकार शेष छह सप्तकों में भी। अथवा पहले सप्तक में प्रति दिन एक-एक दत्ति अन्न-पानी, एवं क्रमशः सातवें

---

+क्वचिदिह स्थाने 'भद्रा-सुभद्रा-महाभद्रा-सर्वतोभद्रा-भद्रोत्तराश्च भिक्षप्रतिमाः' पठ्यन्ते।

*वाचनान्तराधीतमथ पदचतुष्कं-'विवेग पडिमं विउस्सग्ग पडिमं उवहाणपडिमं पडिसंलीणपडिमं'।

सप्तक में प्रति दिन सात-सात दत्ति अन्न-पानी के ग्रहण की प्रतिज्ञा। दूसरा विधान अन्तगड सूत्र के मूलपाठ के अनुसार है। इसी प्रकार आगे अष्टअष्टमिका, नवनवमिका और दशदशमिका में भी समझ लेना चाहिए।

इसी प्रकार अष्टअष्टमिका, नवनवमिका और दशदशमिका भि० में क्रमशः ८ अष्टक, ९ नवक और १० दशक में विभाजित ६४, ८१ और १०० दिन होते है। आहार-पानी की दत्तियों में पूर्ववत् वृद्धि की जाती है।

**लघुमोक प्रतिमा**– (=प्रस्रवण सम्बन्धी अभिग्रह) द्रव्यतः–नियमानुकूल हो तो प्रस्रवण की दिन में अप्रतिष्ठापना, क्षेत्रतः–ग्रामादि से बाहर, कालतः–शीत या ग्रीष्म में भोगकर करे तो चतुर्दशभक्त से और बिना भोगे करे तो षोडशभक्त से पूर्ण होती है और भावतः–दिव्यादि उपसर्ग सहना।

इसी प्रकार महामोक प्रतिमा भी की जाती है। अन्तर इतना ही है कि यह षोडश भक्त से या अष्टादश भक्त से पूर्ण होती है।

**यवमध्यचन्द्र प्रतिमा**–शुक्लपक्ष की पडवा से प्रारंभ होकर, चन्द्रकला की वृद्धि-हानि के अनुसार दत्ति की वृद्धि-हानि से यव के मध्यभाग आकार में पूरी होनेवाली एक महीने की प्रतिज्ञा। जैसे सुदी पडवा को एक दत्ति, द्वितीया को दो दत्ति, इस प्रकार क्रमशः एक एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन पन्द्रह दत्ति। बदी पडवा को चौदह दत्ति फिर एक-एक दत्ति घटाते हुए, चतुर्दशी को एक दत्ति खाना। अमावस्या को उपवास।

**वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा**–कृष्ण पक्ष की पडवा के दिन प्रारंभ होकर, चन्द्रकला की हानिवृद्धि के अनुसार, दत्ति की हानिवृद्धि से वज्राकृति में पूर्ण होनेवाली एक महीने की प्रतिज्ञा। इसके प्रारम्भ में

१५ दत्ति, फिर क्रमशः घटाते हुए अमावस्या को एक दत्ति। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को दो, फिर क्रमशः एक एक बढ़ाते हुए चतुर्दशी को पन्द्रह दत्ति और पूर्णमासी को उपवास ।

(व्यवहार सूत्र के मूल पाठानुसार)

**संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।**

—इस प्रकार वे निर्ग्रन्थ संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे ।

## स्थविरों के बाह्य-आभ्यन्तर गुण

**१६—तेणं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी वहवे थेरा भगवंतो—**

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत-से स्थविर (=ज्ञान और चारित्र में वृद्धि-प्राप्त) भगवन्त उन के साथ थे ।

**जाइसंपण्णा कुलसंपण्णा बलसंपण्णा रूवसंपण्णा विणय-संपण्णा णाणसंपण्णा दंसणसंपण्णा चरित्तसंपण्णा लज्जा-संपण्णा लाघवसंपण्णा;**

—वे स्थविर भगवन्त जाति (=मातृपक्ष), कुल (=पितृ-पक्ष), वल, रूप, विनय, ज्ञान, दर्शन (=श्रद्धा या सामान्यज्ञान), चारित्र, लज्जा (=अपवाद से डरने का भाव) और लाघव

(=वस्त्र आदि अल्प उपधि की और ऋद्धि, रस और साता के गोरव से रहित अवस्था) से सम्पन्न युक्त थे।

टिप्पण--'जातिसम्पन्न' आदि विशेषणों का यह आशय है कि वे उत्तम जाति, कुलादि से युक्त थे। क्योंकि साधारण पुरुष भी मातृपक्षादि से संपन्न होते हे। इसमें कोई विशेषता नहीं है। अतः यहां इन भावों की उत्तमता को बताने के लिये ही यह विशेषणों का समूह आया है।

जाति और कुल की सम्पन्नता शुभ कर्म के उदय से ही प्राप्त हो सकती है। यदि मातृ-पितृपक्ष निर्दोष हो तो सुन्दर संस्कारों की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। जिससे आगे का उत्कर्ष सुगम हो जाता है। अतः श्रेष्ठ साधनों को सुलभ कर देनें में पूर्व के सुकृत् का उदय मानना असंगत नहीं है। बल और रूप की सम्पन्नता भी पहले के शुभ कर्म के उदय से ही प्राप्त हो सकती है। बलसम्पन्नता घोरतम कष्टो को सहनें में स्थिर बनाती है और रूपसम्पन्नता बाल जीवों को धर्ममार्ग में जोड़ने में निमित्त बन सकती है। ये चारो गुण बाह्य हैं।

विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और लाघव की सम्पन्नता, आत्मिक पुरुषार्थ को शुभोदय का सहकार मिलनें पर प्राप्त हो सकती है और लज्जा लोकसंज्ञा का संस्कृत रूपान्तर है। विनय से धर्म, ज्ञान से समझ, दर्शन से प्रतीति और रुचि एवं संसार के मिथ्या भावों के छेदन, चारित्र से निष्कम्प दशा, लज्जा से संयम में दृढ़ता और लाघव से मुक्तिमार्ग में तीव्र गति की प्राप्ति होती है। ये आन्तरिक गुण हैं।

**ओअंसी तेअंसी वच्चंसी जसंसी,**

--वे ओजस्वी, तेजस्वी, वचस्वी और यशस्वी थे।

टिप्पण--ओजस्=मानस-हृदय की स्थिरता। सुसम्बद्ध विचारों के

अभ्यास के कारण जो आत्मिक स्थिरता पैदा होती है, जिससे अन्य व्यक्तियों को अपने विचारो से तर कर देने की जो जोशीली शक्ति पैदा होती है, उसे 'ओजस्' कहा जाता है।

तेजस्=शरीर की प्रभा । साधना करते-करते साधक-शरीर के चारों ओर किरणें-सी निकलने लग जाती है, जिससे व्यक्ति दर्शन मात्र से एक मधुर शान्ति का अनुभव करता है, उसे 'तेजस्' कहते है।

वचस्=सौभाग्यादि से युक्त वाणी।

अथवा वर्चस्=प्रभाव । क्रिया या आचार में व्याप्त ऐसी शक्ति, जिसका लोहा अन्य भी मानते है और जो रोब की जननी है, उसे 'वर्चस् कहा जाता है।

यशस्=ख्याति । उपर्युक्त तीनों भावों के मिश्रण के द्वारा लोक में उस चुम्बकीय व्यक्तित्त्व के प्रति जो प्रशंसात्मक दृष्टि बनती है —उसकी जो स्तुति होती है, उसे 'यशस्' कहते है।

**जिअकोहा जिअमाणा जिअमाया जिअलोभा जिअ-इंदिआ जिअनिद्दा जिअपरीसहा,**

—वे क्रोध, मान, माया (=छल-कपट और लोभ के हृदय में उदय होने पर, उन्हें विफल कर देते थे—उनके प्रवाह में नहीं बहते थे। इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखते थे। निद्रा के वशीभूत नहीं होते थे और परीषहों (=अनुकूल या प्रतिकूल बाधाओं) को जीत लेते थे।

टिप्पण—'जित' शब्द से यहां पर यह भाव लिया गया है कि—'आत्म-सत्ता गत कर्मों के उदय (=फल देने के लिये प्रवृत्त)होने पर, उनपर क्रोधादि का आक्रमण अवश्य होता था, किन्तु आत्मजागृति के

द्वारा उन्हें अपने पर हावी नहीं होने देते थे। अतः पुनः वैसे कर्मों का इतना प्रबल सञ्चय आत्मा में नहीं होता था'।

**जीवियास-मरणभय-विप्पमुक्का**

—वे जीने की आशा और मरने के भय से बिलकुल मुक्त थे।

टिप्पण—जीने की आशा और मरने का भय, अनेक आत्मिक दोषों को पैदा करते हैं। जिसने इन दोनों को छोड़ दिया हो, वही क्रोधादि भावों पर सही विजय पा सकते हैं। जीना और मरना तो कर्माधीन है और आयुष्य कर्म पिछले जन्म में ही बांधकर लाया जाता है। अतः जीवनआशा और मरणभय से कुछ विशेष लाभ नहीं हो सकता। किन्तु कर्त्तव्य में शिथिलता ही पैदा होती है। अतः ज्ञानी इन भावों से मुक्त हो जाते हैं।

**वयप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा**

— वे उत्तम व्रत (=श्रेष्ठतम साधुता) के धारक थे। करुणा आदि श्रेष्ठ गुणों के स्वामी थे। आहार शुद्धि आदि श्रेष्ठ क्रिया (=करण) के पालक थे। महाव्रत आदि श्रेष्ठ आचार (=चरण) के धनी थे।

—टिप्पण — इस सूत्रांश का अर्थ इस प्रकार से भी होता है —'व्रत (=साधुता), गुण, करण (=पिण्डविशुद्धि आदि) और चरण (=महाव्रत आदि) के द्वारा, वे प्रधान (=श्रेष्ठ या मुखिया) थे।'

**णिग्गहप्पहाणा णिच्छयप्पहाणा अज्जवप्पहाणा मद्दवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा**

— वे अनाचार को रोकने में कुशल, श्रेष्ठ निश्चयवाले, माया (=छल कपट) और मान के उदय का निग्रह करने में कुशल, उत्तम लाघव (=क्रिया में दक्षता) के धारक एवं क्रोध और लोभ के उदय का निग्रह करने में चतुर थे।

टिप्पण—स्थविर भगवन्तों के हाथ में ही शासन की बागडोर रहती है। अतः उन्हें अनाचार प्रवृत्ति का निग्रह भी करना पड़ता है। क्रोध आदि को जीत लेने पर निग्रह कैसे संभव हो सकता है?—वस्तुतः क्रोध से अनाचार की वृद्धि नहीं रोकी जा सकती है। किन्तु ओज आदि गुण के द्वारा ही साधकों के हृदय को जीत कर उन्हें सदाचार में प्रवृत्त किया जा सकता है। इसमें निश्चयबल (=तत्त्वनिर्णय और विहित अनुष्ठानों को करने के लिये योग्य, विशुद्ध एवं दृढ़ सङ्कल्प बल) की आवश्यकता रहती है। इसका सङ्केत 'निश्चयप्रधान' विशेषण के द्वारा किया गया है। 'जितक्रोधादि' विशेषणों के द्वारा क्रोधादि के उदय को निष्फल करने का विधान किया है और 'आर्जव (=सरलता), मार्दव (=कोमलता, विनय), क्षान्ति (=क्षमा) और मुक्ति (=निर्लोभता) में प्रधानता' के द्वारा क्रोधादि को जीतनें के साधनों के प्रयोग में उनकी कुशलता का वर्णन किया है। 'आर्जवप्रधान' और 'मार्दवप्रधान' के बाद 'लाघवप्रधान' विशेषण रखनें का यह रहस्य हो सकता है कि—सरलता और विनय से युक्त होनें पर ही वास्तविक क्रियाकुशलता की प्राप्ति होती है। पहले आया हुआ 'लाघवसम्पन्न' विशेषण 'द्रव्य और भाव से हलकेपन' का बोधक है और 'लाघवप्रधान' विशेषण 'विहित क्रियाओं अथवा तत्त्वज्ञान की विविध शैलियों की दक्षता—चतुराई' का।

विज्जापहाणा मंतप्पहाणा वेअप्पहाणा बंभप्पहाणा नयप्पहाणा नियमप्पहाणा सच्चप्पहाणा सोअप्पहाणा

—वे प्रज्ञप्ति आदि विद्या के श्रेष्ठ धारक, उत्तम मंत्रज्ञ, श्रेष्ठ ज्ञानी, ब्रह्मचर्य मे या कुशलानुष्ठान में स्थित, नय (=नीति) में प्रधान, उत्तम अभिग्रहों के स्वामी, सत्यप्रधान और शौच (=निर्लेपता और दोष से रहित समाचारी) के श्रेष्ठ धारक थे।

टिप्पण—स्थविरों की विद्या, मन्त्र, वेद और ब्रह्म में प्रधानता के कथन से, सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि उनको रहस्यमयी लौकिक साधनाओं का ज्ञान था और परसिद्धान्त एवं उसमें से विकसित उत्तरवर्ती मानसिक साधनाओं का भी ज्ञान था। तथा वे उन्हें निवृत्ति मार्ग के अनुकूल भावों में परिणत करने की शक्ति रखते थे।

**चारुवण्णा लज्जा-तवस्सी-जिइंदिया सोही अणियाणा अप्पुस्सुआ अबहिल्लेसा अप्पडिल्लेस्सा सुसामण्णरया दंता * इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओकाउं विहरंति।**

—उनकी सब जगह भूरि-भूरि प्रशंसा होती थी। उनके लज्जा प्रधान और जितेन्द्रिय शिष्य थे। वे जीवो के सुहृद् (=सोही-मित्र) थे—किसी के भी प्रति उनके हृदय में कलुषित भावना नहीं थी। तपः संयम के बदले में पुण्य फल की इच्छा—याचना नहीं करते थे। उत्सुकता से रहित थे। संयम से बाहर की मनोवृत्तियों से रहित थे। अनुपम अथवा विरोध से रहित वृत्तियों के धारक थे। श्रमण की क्रियाओं में पूर्णतः लीन रहते

* क्वचिदेवं च पठ्यते-'बहूणं आयरिया बहूणं उवज्झाया दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा'-इति।

थे। गुरुओं के द्वारा दमन को ग्रहण करते थे–विनय के करने वाले थे और इस निर्ग्रन्थ प्रवचन (=जड-चेतन की ग्रन्थियाँ या उलझनों को सुलझाने के लिये वीतरागों के द्वारा कहे गये अनुशासन) को ही आगे रखकर विचरण करते थे।

टिप्पण– 'चारुवण्णा'=सत्कीर्ति या शरीर का गौर आदि सुन्दर वर्ण या सत्प्रज्ञा। 'लज्जा– तवस्सी–जिइंदिया'=लज्जाप्रधान जितेन्द्रिय शिष्यों के स्वामी या लज्जा और तप की शोभा के द्वारा इन्द्रियों के जीतने वाले। यद्यपि 'जिइंदिया' विशेषण पहले आ चुका है, तथापि लज्जा और तप के विशेष भाव से युक्त होने के कारण पुनरुक्ति नहीं है (–टी.)

वे स्थविर भगवन्त निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही दृष्टि समक्ष रखते थे। क्योंकि वे जानते थे कि छद्मस्थ व्यक्ति कितना ही ज्ञानी और स्थितात्मा क्यों न हो, किन्तु वह निर्ग्रन्थ प्रवचन से निरपेक्ष स्वतन्त्र बुद्धि से निर्दोष विचार नहीं कर सकता। वे निर्ग्रन्थप्रवचन की अनुगामिता को बुद्धि की गुलामी नहीं–किन्तु स्वच्छन्द बुद्धि रूपी जंगली घोड़े को वश में करने वाली सुन्दर लगाम मानते थे।

**तेसि णं भगवंताणं ×आयावाया वि विदिता भवंति। •पर-वाया विदिता भवंति। आयावायं जमइत्ता- ‡नलवणमिव मत्तमातंगा, अच्छिद्द-पसिण-वागरणा, रयण-करंडग-समाणा, कुत्तियावणभूया, +पर-वादिय-पमद्दणा, दुवालसंगिणो समत्त-गणि-पिडग-धरा,**

---

× आयावाइणो-पा०। • परवाइणो-पा०। ‡ नलवना-पा०।

+ वाचनान्तरम्- परवाईहिं अणोक्कंता, अण्णउत्थिएहिं अणोद्धंसिज्जमाणा, अप्पेगइया आयारधरा जाव विवागसुयधरा चोद्दसपुव्वी–इति।

–उन भगवन्तों को अपने सिद्धान्तों के प्रवाद भी ज्ञात थे और परवाद (=दूसरे मत- मतान्तर) भी ज्ञात थे। स्व-सिद्धांत को पुनः पुनः परावर्तन से अच्छी तरह जानकर, कमलवन में (रमण करनेवाले) मस्त हाथी के समान, वे लगातार प्रश्न-उत्तर के करनेवाले होकर विचरते थे। वे रत्न के करण्डक के समान और कुत्रिकापण (=तीनों लोक की प्राप्त होने योग्य वस्तुओं की देवाधिष्ठित दुकान) के तुल्य थे। परवादियों का (उनके मत का) मर्दन करनेवाले थे। बारह अंगों के ज्ञाता थे। समस्त (=अनन्त गम और पर्याय से युक्त) गणिपिटक के धारक थे।

टिप्पण–गणिपिटक=अर्थपरिच्छेदों का पिटक के तुल्य स्थान या अर्थ-निर्णयों के कोष-निधि =आचार्य का पिटक अर्थात् प्रकीर्णक, श्रुतादेश, श्रुतनिर्युक्ति आदि से युक्त जिनप्रवचन। बारह अंग के धारक होकर भी, प्रकीर्णकादि का ज्ञाता न हो। अतः इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये, 'दुवालसंगिणो' के बाद 'समत्त–' विशेषण आया है। –(टी०)

**सव्वक्खर-सण्णिवाइणो, सव्व- भासाणुगामिणो, अजिणा जिणसंकासा, जिणा इव अवितहं वागरमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।**

–वे अक्षरों के सभी संयोगों को जानते थे। सर्वभाषा को जानने वाले थे। जिन (=सर्वज्ञ) नहीं होते हुए भी जिन के समान थे। वे सर्वज्ञ के समान वास्तविक प्रतिपादन करते हुए, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

टिप्पण–सर्वाक्षर-सन्निपाती =सभी अक्षरों-उच्चारणध्वनियों के

एक -दो आदि विभिन्न संयोगों से, जितनें भी शब्द बनते हैं, उन सभी को जाननेवाले को 'सर्वाक्षर-सन्निपाती' लब्धि का धारक कहा जाता है।

सर्वभाषानुगामी = आर्य, अनार्य और देवादि की सभी भाषाओं के बोलनेंवाले अथवा अपनी भाषा में ही बोलते हुए भी लब्धिविशेष से सुननेवाले को अपनी-अपनी भाषा में बोलते हुए प्रतीत हो ऐसी शक्ति के धारक अथवा संस्कृत, प्राकृत, मागधी आदि भाषाओं में व्याख्यान करने वाले (टीकायाम्)

## अनगारों के गुण

**१७--ते णं काले णं तेणं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे अणगारा भगवंतो-**

-उस काल-उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के बहुत से अन्तेवासी अनगार भगवन्त उनके साथ थे, वे कैसे थे?

**ईरिआसमिआ भासासमिआ एसणासमिआ आदाण-भंड-मत्त-निक्खेवणासमिआ उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-पारिट्ठावणिया-समिआ मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता,**

-वे हलन-चलनादि क्रिया, भाषा के प्रयोग, आहारादि की याचना, पात्र आदि के उठाने-रखने और मल-मूत्र, खेंकार, नाक आदि के मैल को त्यागने में यतनावान् थे। मन, वचन और काया की क्रिया का निरोध करनेवाले थे।

टिप्पण-संयम के अनुकूल यतनापूर्वक की जानेवाली प्रवृत्ति को समिति और आत्म-रमण के लिये जिन क्रियाओं से निवृत्ति ली जाती है

वह गुप्ति कहलाती है। समिति केवल शुभ प्रवृत्ति रूप ही होती है और अशुभ क्रिया से निवृत्ति एवं शुभक्रिया में प्रवृत्ति रूप तथा अशुभ और शुभ क्रिया से सर्वथा निवृत्ति रूप गुप्ति होती है। इन दोनों को मिलाकर 'अष्ट प्रवचन माता' कहा जाता है।

## गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभयारी

–वे अनगार भगवत गुप्त (=अन्तर्मुख- सर्वथा निवृत्त), गुप्तेन्द्रिय (=इन्द्रियो को उनके विषयों के व्यापार में लगाने की उत्सुकता से रहित) और गुप्त ब्रह्मचारी (=नियमोपनियम सहित ब्रह्मचर्य के धारक अर्थात् सुरक्षित ब्रह्मचर्य वाले) थे।

टिप्पण–टीकाकार ने 'गुत्तिंदिया' के स्थान पर विकल्प से 'गुत्ता-गुत्तिंदिया' पाठ देकर यह अर्थ किया है–शब्दादि में रागादि नहीं करने के कारण 'गुप्त' और आगम-श्रवण, ईर्या समिति आदि में इन्द्रियों को प्रवृत्त करने के कारण 'अगुप्त' अर्थात् 'गुप्त-अगुप्त-इन्द्रिय'=प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप शुभ उभयपक्ष के धारक थे।

## अममा अकिंचणा* (छिण्णगंथा छिण्णसोआ) निरुवलेवा

अकिञ्चन (=द्रव्य से रहित) थे। वे ममत्व रहित थे। वे छिन्नग्रन्थ थे अर्थात् संसार से जोड़ने वाले पदार्थों से मुक्त थे। अतः छिन्नस्रोत थे अर्थात् शोक-आर्त्तता से रहित थे–संसार प्रवाह में नहीं बहते थे। तथा निरुपलेप अर्थात् कर्मबन्ध के हेतुओं से रहित थे।

---

* टीकाकार ने ये पद 'वाचनान्तर' में दिये है। वाचनान्तरे–अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिनिव्वुआ अणासवा अगंथा छिन्नसोआ।

## निर्ग्रंथों की उपमाएँ

×कंसपाती व मुक्क-तोया १

–काँस्य पात्री के समान स्नेह से मुक्त थे।

टिप्पण–काँसे के वर्तन में पानी का लेप नहीं लगता है। यद्यपि वह पानी को धारण करता है, तदपि कोरा का कोरा रहता है। इसी प्रकार वे अनगार भगवन्त शिष्यों के परिवार से युक्त थे; उपदेश आदि की प्रवृत्ति भी करते थे और व्यवहार में वत्सल भी दिखाई देते थे, किन्तु अन्तरंग में वे स्नेह-रहित थे। क्योंकि स्नेह बन्धन का कारण है।

संख इव निरंगणा २

शंख के समान नीरंगण (=रागादि रञ्जनात्मक भाव से रहित) थे।

टिप्पण–रंगण अर्थात् जो हमारे सामने जिस भाव से रंग कर आया हो, उसी भाव में स्वयं भी लीन हो जाना। जैसे-क्रोधी से क्रोध करना, द्वेषी से द्वेष करना, प्रेमी से प्रेम करना, अपनी स्तुति करनेवाले की प्रशंसा करना, अपनी निन्दा करनेवाले की निन्दा करना आदि। जो ऐसे भावों से मुक्त हो वह निरंगण है।

जीवो विव अप्पडिहयगई ३

---

× टीकाकार ने वाचनान्तर के अनुसार व्याख्या की है। वाचनान्तरे इमे संग्रहगाथे–'कंसे १ संखे २ जीवे ३ गयणे ४ वाए ५ य सारए सलिले ६ पुक्खरपत्ते ७ कुम्मे ८ विहगे ९ खग्गे य १० भारंडे ११ ॥१॥ कुंजर १२ वसहे १३ सीहे १४ नगराया चेव १५ सागरऽक्खोहे १६। चंदे १७ सूरे १८ कणगे १९ वसुंधरा चेव २० सुहुयहुए २१ ॥२॥

—जीव के समान अप्रतिहत (=रुकावट से रहित) गति वाले थे।

टिप्पण—गति अर्थात् अपने लक्ष्य को पाने की क्रिया। जब अपने जीवन-लक्ष्य का सही निर्णय हो जाता है और सही मार्ग की प्राप्ति का निश्चय हो जाता है, तो साधक दृढ़ता के साथ, लाखों विघ्नों से भी न घबराते हुए, अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ चला जाता है। गति की शिथिलता उसके विश्वास और मनोबल की कमजोरी की सूचक है। जिस प्रकार जीव को उसके उत्पत्ति-स्थान की ओर जाने से कोई भी नहीं रोक सकता है, उसी प्रकार वे अनगार भगवन्त भी मत-मतान्तर कृत शंका—कुशंका या आकांक्षा आदि रुकावटों से शिथिल गति नहीं होते थे।

जच्च कणगमिव जायरूवा ४

—अन्य कुधातुओं के मिश्रण से रहित सोने के समान जातरूप (=प्राप्त हुए निर्मल चारित्र में वैसे ही भाव से स्थित अर्थात् दोष से रहित चारित्रवाले) थे।

(आदरिस- फलगा इव पायड भावा)

—दर्पणपट्ट के समान प्रकट भाव वाले थे।

टिप्पण—प्रकट भाव अर्थात् शठता से रहित मन के परिणाम। जैसे कि दर्पण में, जैसे और जिस स्थिति में नयन, मुख आदि होते हैं, उसी रूप में उनकी प्रतिछाया दिखाई देती है, वैसे ही वे अनगार भगवन्त अन्तर में कपट-रहित थे और बाहरी क्रिया में भी निष्कपट-निश्छल थे।

कुम्मो इव गुत्तिंदिया ५

—कच्छप के समान गुप्तेन्द्रिय थे।

टिप्पण—जैसे हमला होने पर कछुआ अपने अंगों को ढ़ाल में संकुचित करके, वार को निष्फल बना देता है और सुरक्षित बन जाता है, वैसे ही वे अनगार भगवन्त विकारों का प्रहार होने पर, इन्द्रियों को विषयों से खींचकर, निवृत्ति भाव की ढ़ाल में संकुचित हो जाते थे-छिप जाते थे और विकारों के प्रहार को निष्फल बना देते थे। क्योंकि गतिशील पैर से कांटा नहीं निकाला जा सकता है, किन्तु गति से रहित स्थिर पैर में से ही कांटा निकाला जा सकता है।

## पुक्खर पत्तं व निरुवलेवा ६

—कमलपत्र के समान निर्लेप थे।

टिप्पण—कमल जल और पङ्क से उत्पन्न होकर भी उनसे भिन्न रहता है। यदि उसके ऊपर जल गिर भी जाय,तो बिन्दुरूप से वहीं स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार वे भगवन्त अपने स्वजनों की आसक्ति से रहित थे। यदि स्वजन उनके पीछे पड़ ही जाते, तो वे अपने स्वभाव से उनकी चञ्चल प्रकृति स्थिर बना देते थे और उनकी स्नेह वृत्तियों के फैलाव का अवकाश ही नहीं देते थे।

## गगणमिव निरालंबणा ७

—आकाश के समान निरवलम्ब थे।

टिप्पण—जैसे आकाश अपने-आपमें ही स्थित रहता है। किसी के भी अवलम्बन की, उसकी स्थिति में आवश्यकता नहीं रहती। उसी प्रकार वे अनगार भगवन्त भी ग्राम, नगर, उद्यान आदि में निरपेक्ष रहते हुए अपने आपमें लीन रहते थे।

## अणिलो इव निरालया × ८

× 'अपडिबद्धा'-क्वचिद्दृश्यते।

–वायु के समान निरालय (=घर से रहित) थे।

चंदो इव सोमलेस्सा ९

–चन्द्र के समान सौम्य लेश्यावाले (=किसी को कष्ट पहुँचाने के कारण रूप मन के परिणाम से रहित) थे।

सूरो इव दित्ततेश्रा १०

–सूर्य के समान दीप्त तेजवाले (=शारीरिक और आत्मिक तेज से तेजस्वी) थे।

सागरो इव गंभीरा ११

–समुद्र के समान गंभीर थे।

टिप्पण–गंभीरता अर्थात् हर्ष–शोक आदि के कारण उपस्थित होने पर भी चित्त का निर्विकार रहना।

विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का १२

–पक्षी के समान पूर्णतः विप्रमुक्त थे।

टिप्पण–जैसे पक्षी परिवार से या सेवक आदि से घिरे हुए नहीं रहते हैं–उनके वासस्थान नियत नहीं रहते हैं, इसी प्रकार वे अनगार भी सेवकादि और नियत वास से मुक्त थे।

मंदर इव अप्पकंपा १३

–मेरु पर्वत के समान अप्रकम्प (=अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों–कष्टों में अडोल) थे।

सारयसलिलं व सुद्ध-हिअया १४

—शरद् ऋतु के जल के समान शुद्ध हृदयवाले थे।

**खग्गि-विसाणं व एगजाया १५**

—गैंडे के सिंग समान एक जात (=रागादि के सहायक भावों के अभाव के कारण एकभूत) थे।

**भारंड पक्खी व अप्पमत्ता १६**

—भारण्डपक्षी के समान अप्रमत्त (=सदा जागृत) थे।

टिप्पण—भारण्डपक्षी के एक शरीर, दो ग्रीवा और तीन पैर होते हैं। उसके दोनों मस्तिष्क भिन्न होते हैं। अतः वह अत्यन्त जागृत रह कर ही जीवनयात्रा का निर्वाह करता है।

**कुंजरो इव सोंडीरा १७**

—हाथी के समान शूर (=कषायादि भाव शत्रुओं को जीतने में बलशाली) थे।

**वसभो इव जायत्थामा १८**

—वृषभ के समान जातस्थाम (=धैर्यवान्) थे।

टिप्पण—जैसे वृषभ धीरता के साथ भार वहन करते हैं, वैसे ही वे ली हुई प्रतिज्ञा का भार धैर्य के साथ वहन करते थे।

**सीहो इव दुद्धरिसा १९**

—सिंह के समान दुर्धर्ष (=परीषहादि मृगों से नहीं हारनेवाले) थे।

**वसुंधरा इव सव्व-फास-विसहा २०**

—पृथ्वी के समान सभी (शीत-उष्ण आदि) स्पर्शों को सहनेवाले थे।

**सुहुअ-हुआसणो इव तेअसा जलंता २१**

—घृत आदि से अच्छी तरह हवन की हुई हुताशन (=अग्नि) के समान (ज्ञान और तप रूप) तेज से जाज्वल्यमान थे।

## अनगारों का अप्रतिबंध विहार

**नत्थि णं तेसि णं भगवंताणं कत्थइ पडिबंधे भवइ।**

—उन भगवन्तो के कहीं पर किसी प्रकार का प्रतिबंध (=अटकाव, रोक या आसक्ति का कारण) नहीं था।

**से अ पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते**

—वह प्रतिबंध (आसक्ति) चार प्रकार का कहा गया है।

**तं जहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ।**

—वे चार प्रकार ये है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से।

**दव्वओ णं सचित्ताचित्त-मीसिएसु दव्वेसु, खेत्तओ गामे वा णयरे वा रण्णे वा खेत्ते वा खले वा घरे वा अंगणे वा, कालओ समये वा आवलियाए वा जाव अयणे वा अण्णतरे वा दीह-काल-संजोगे, भावओ कोहे वा माणे वा मायाए**

वा लोहे वा भए वा हासे वा–एवं तेसिं ण भवइ ।

–द्रव्य से सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों में, क्षेत्र से ग्राम, नगर, जंगल, खेत, खला, घर और आंगन में, काल से समय, आवलिका यावत् अयन और अन्य भी दीर्घकालीन संयोग में और भाव से क्रोध, मान, माया, लोभ, भय या हास्य मे–उनका ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही था ।

टिप्पण–'यावत्' पद से 'आणपाणू वा थोवे वा लवे वा मुहुत्ते वा अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा' पदों का संग्रह किया गया है। 'अणपाण=उच्छ्वास-निःश्वास काल । थोव=७ आणपाण । लव=७ थोव । मुहूर्त=७७ लव । अयन=छ महीनें । दीहकाल संजोग=सौ वर्ष आदि । समय=काल का अविभाज्य (=जिसका फिर भाग न किया जा सके ऐसा) विभाग । आवलिका=असंख्यात समय । एक मुहूर्त, १ क्रोड़, ६७ लाख, ७७ हजार, २ सौ सोलह आवलिका के बराबर होता है ।

ते णं भगवंतो वासावासवज्जं अट्ठ-गिम्ह-हेमंतिआणि मासाणि गामे एगराइआ, णयरे पंचराइआ–

–वे अनगार भगवन्त, वर्षावास को छोड़कर, ग्रीष्म और शीतकाल के आठ महिनों तक, गाँव में एक रात और नगर में पाँच रात रहते थे ।

टिप्पण–'गाँवों में एक रात्रि और नगर में पांच रात्रि' इसमें 'एक रात्रि' का अर्थ वासर क्रम से 'एक सप्ताह' और 'पांच रात्रि का अर्थ 'पांचवें सप्ताह' में विहार (२९ दिन) करते है । जो मास कल्प के अनुकूल है ।

## वासी-चंदण-समाण-कप्पा

—वे वासी चन्दन के समान कल्पवाले थे ।

टिप्पण—चन्दन अपने काटनेवाले वशुले की धार को भी सुगन्धित बना देता है। क्योंकि चन्दन का स्वभाव ही सुगन्ध देना है । इसी प्रकार अपकारी के प्रति भी उपकार बुद्धि रखना अथवा अपने प्रति 'वासी' के समान बरताव करनेवाले अपकारी और चन्दन के समान शीतलता प्रदाता उपकारी के प्रति समान भाव रखना—राग द्वेष नहीं करना अथवा शस्त्र से दुःख देनेवाले और चंदन से पूजने वाले के प्रति समभाव रखना 'वासी—चंदण-समाण-कप्प' कहा जाता है ।

## सम-लेट्ठु-कंचणा सम-सुह-दुक्खा

—मिट्टी के ढेले और सोने को एक समान (उपेक्षणीय) समझने वाले तथा सुख और दु.ख को समभाव से सहनेवाले थे ।

टिप्पण—ढेला और सोना दोनों ही पुद्गल है । मिट्टी सोने में वदल सकती है और सोना मिट्टी वन सकता है । अतः दोनों में एक ही तत्त्व है । आत्मिक भाव वृद्धि में उनसे सहयोग नहीं मिल सकता । अतः उनमें लोभ आदि नहीं करना—समभाव है ।

सुख-दु.ख कर्म के उदय से ही होता है । दूसरे तो निमित्त मात्र है। अतः सुख-दुःख को समभाव से सहने से ही कर्म का क्षय हो सकता है।

## इहलोग-परलोग-अप्पडिबद्धा संसार-पारगामी कम्म-णिग्घा-यणट्ठाए अब्भुट्ठिआ विहरंति ।

—वे इहलोक और परलोक सम्बन्धी आसक्ति से रहित और संसार-पारगामी (चतुर्गति रूप संसार के पार पहुँचने

वाले) कर्म-नाग के लिये तत्पर होकर विचरण करते थे।

टिप्पण–इस पूरे सूत्र में अनगार का स्वरूप वर्णित है। भगवान् महावीर देव के शिष्यों की संयम यात्रा, निर्लिप्तता, उपमाओं द्वारा स्तुति-प्रशंसा, अप्रतिबद्ध विहार की क्रमवद्धता, समभावना और ऐसी कठोर चर्या के उद्देश्य का वर्णन सुन्दर ढंग से हुआ है।

आगारवास में आसक्त व्यक्ति की हलन चलनादि क्रिया में, भाषा-प्रयोग में, आकांक्षा आदि में संयम नहीं रह सकता। उसकी वृत्ति प्रायः वहिर्मुख ही रहती है। उन्हें इहलौकिक स्वार्थ-परमार्थ की चिन्ताएँ सताती रहती हैं। जीवनलक्ष्य के प्रति भी उनका सही विचार नहीं वन सकता। अन्तर्-व्यथा और उलझनों से भ्रान्तियाँ वढ़ती ही जाती हैं। जव कि अनगार-अवस्था में आस्थावान् व्यक्ति इन कठिनाइयों से सहज में पार हो जाता है और हो जाता है अपने लक्ष्य की ओर उसका वायुवेग-सा गमन। वे घरवार को छोड़कर अनगार वन जाते हैं। अतः घर से सम्वन्धित तमाम आसक्तियाँ छोड़ देते हैं। स्वयं के लिये जिन्हें असार समझकर छोड़ दिया हो, फिर 'अन्य को वे ही वस्तुएँ प्राप्त हों'–ऐसे चिन्तन या ऐसी झञ्झट में, वे कैसे पड़ सकते हैं और भविष्य में उन्हीं वस्तुओं की प्राप्ति की कामनाएँ उनके हृदय में कैसे रह सकती हैं? अतः अनगार सहज ही ऐहिक-पारलौकिक आसक्तियों से मुक्त हो जाते हैं। जो सभी आसक्तियों को छोड़कर, आत्मिक लक्ष्य के अनुकूल जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है तो वह अपकारी-उपकारी व्यक्तियों के प्रति, शुभ-अशुभ वस्तुओं के प्रति और अपनी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रति समभाव रखने पर ही संसार-पारगामी होकर, कर्मक्षय के लिये तत्पर वन सकता है। अर्थात् स्पष्ट आत्मिक लक्ष्य की सतत स्मृति, वहिर्वृत्ति से मुक्ति, समभावना, अनासक्ति, निर्लिप्तता और क्रिया में यतना के अस्तित्त्व से ही अनगार जीवन का निर्माण होता है।

# अनगारों की तपश्चर्या

१८—तेसि णं भगवंताणं एएणं विहारेणं विहरमाणाणं इमे एआरूवे+ अब्भिंतर-बाहिरए तवोवहाणे होत्था। तं जहा-अब्भिंतरए छव्विहे, बाहिरए वि छव्विहे।

—इस प्रकार के विहार से विचरण करनेवाले उन अनगार भगवंतों का यों इस रूप से बाह्य और आभ्यन्तर तपाचरण था। जैसे कि—आभ्यन्तर तप के छह प्रकार और बाह्य तप के भी छह प्रकार।

टिप्पण—अन्तर्-साधनों से बहिराचरण को प्रभावित करके, अन्तर्मुख होने या आत्मिक दोषों को त्यागने की आन्तरिक क्रिया को आभ्यन्तर तप कहते हैं और बाहरी साधनों से आत्मक्रिया को प्रभावित करने अर्थात् जिन बाहरी साधनों से आत्मक्रिया दूषित होती हो उन साधनों के त्याग को बाह्यतप। मोक्षमार्ग में दोनों प्रकार के तप का स्थान है। शास्त्रों में वर्णित महापुरुषों के जीवन चरित्र भी इस बात की पुष्टि करते हैं। मोक्ष भावना से निरपेक्ष दोनों प्रकार के तप अकाम-निर्जरा में ही परिगणित होते हैं। आत्मलक्ष्य और आत्मज्ञान से शून्य निर्जरा (=तप) पुण्य-बन्ध में ही सहायक होकर रह जाती है। इसके प्रमाण स्वरूप में अभव्य जीव की साधना कही जा सकती है। सम्यग्-दृष्टि की साधना की अपेक्षा से ही बाह्य और आभ्यन्तर भेद किये गये हों—ऐसा लगता है; क्योंकि विकलदृष्टि कृत आभ्यन्तर तप भी वस्तुतः बाह्यतप ही है और उस तप की संज्ञा अकामनिर्जरा (=आत्मशुद्धि

---

+ पाठान्तरे-'जायामायावित्ति अदुत्तरं वा'।

रूप फल की प्राप्ति न हो वैसा तप) है। टीकाकारकृत व्याख्या भी इस बात को पुष्ट ही करती है। यथा-'भीतरी ही शरीर को तपाने के कारण और सम्यग्दृष्टि के द्वारा ही तपरूप से प्रतीत होने के कारण तप की 'आभ्यन्तर' संज्ञा है और बाहरी ही शरीर को तपाने के कारण तथा मिथ्यादृष्टि के द्वारा भी तपरूप से प्रतीत होने के कारण तप को बाह्य संज्ञा है'।

शक्ति होते हुए भी आभ्यन्तर तप के बहाने यदि बाह्यतप की उपेक्षा की जाती है तो आत्मा मिथ्या छल में फँसकर, बहिर्मुख बन जाता है और आभ्यन्तर तप की अवहेलना करके, बाह्यतप किया जाता है तो क्रोधादि कषायों की वृद्धि होती है, जिससे पौद्गलिक ऋद्धियो में उलझने की वृत्ति का निर्माण होता है। परस्पर निरपेक्ष दोनों प्रकार के तप केवलिप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट कर दे-यह भी संभव है। अतः दोनों प्रकार के तप के सामञ्जस्य पूर्ण आराधन में ही सम्यग्दृष्टि और चारित्र की सुरक्षा है।

शक्ति के बहाने से भी बाह्यतप की उपेक्षा होती है। किन्तु मनोबल की दृढ़ता के साथ विविध बाह्य तपों का विधि सहित प्रयोग करने पर तपःशक्ति स्वतः ही विकसित हो सकती है और श्रमण अनेक अनिष्टों से बच सकता है। क्योंकि आत्मा के परिस्पंद से वीर्य पैदा होता है और जब तक आत्मा योग (=मन, वचन और काया की क्रिया) से युक्त है तब तक वह निःस्पन्द नहीं हो सकता। अतः वीर्य (=क्रिया करने का उत्साह) पैदा होगा ही। यदि उसका उपयोग नहीं किया जाता है तो आत्मा का अधःपतन होता है-आकुलता बढती है और वृथा क्रियाएँ जन्म लेती है। इसलिये उस वीर्य का बाह्य और आभ्यन्तर तप में उपयोग करके, आत्मविकास को पूर्णता के चरम शिखर पर पहुँचाया जा सकता है।

## बाह्य तप

१६--से किं तं बाहिरए ? बाहिरए छव्विहे पण्णत्ते; तं जहा-अणसणे १, †अवमोयरिया २, भिक्खायरिया ३, रसपरिच्चाए ४, कायकिलेसे ५, पडिसंलीणया ६ ।

बाह्यतप किसे कहते है ?-बाह्यतप छह प्रकार का कहा गया है । जैसे-१ अनशन ( =नही खाना ), २ अवमोदरिका (=कम खाना अथवा द्रव्य-भाव साधनो को कम काम में लेना), ३ भिक्षाचर्य्या (=याचना से प्राप्त सयमी जीवन के योग्य साधनो को लेना या वृत्ति=आजीविका के साधनों को घटाना), ४ रस-परित्याग (=रसास्वाद को छोड़ना), ५ काय-क्लेश (=सुकुमारता त्यागने के लिये कायिक दमन के योग्य उपायो को स्वीकार करना ) और ६ प्रतिसंलीनता (=अन्त-र्बाह्य चेष्टाओ का संवरण करनें के लिये किये जानेवाले बाहरी उपाय) ।

टिप्पण-यदि ये बाह्यतप मुक्ति की अभिलाषा से तीव्र आन्तरिक रुचि से किये जाते है तो गौण रूप से आभ्यन्तर तप की साधना भी होती है और आत्मिक गुणों का विकास तो होता ही है। अनशन से मैत्री भावना का पोषण, कामुकता के उद्दीपन का अभाव, अन्नमोह का त्याग दैहिक ममता पर विजय आदि गुण प्राप्त होते हैं। न्यूनोदरता से इच्छा-निरोध, इन्द्रिय-निरोध, मनोबल की दृढ़ता आदि गुण सधते है। भिक्षा-

† ऊणोअरिया-पा० ।

चर्य्या से आवश्यकता की पूर्ति या अपूर्ति की विविध स्थितियों में सम भाव की साधना की जा सकती है। रसपरित्याग से अनासक्ति की पुष्टि की जा सकती है और असातावेदनीय का क्षय किया जासकता है। कायक्लेश से सुकुमारता के परिहार, सुखशीलियापन के त्याग, ऋतु के अनुकूल शरीर को वनाने, कष्टसहिष्णुता आदि की सावना में सहायता ली जा सकती है। और प्रतिसंलीनता से चित्तशान्ति, एकाग्रता आदि की वृद्धि की जा सकती है।

**से किं तं अणसणे? अणसणे दुविहे पण्णत्ते; तं जहा-इत्तरिए य आवकहिए य।**

अनशन किसे कहते है ?-अनशन के दो भेद कहे गये है। जैसे-१ इत्वरिक (=मर्यादित समय के लिये आहार छोड़ना) और २ यावत्कथिक (=जीवन पर्यन्त आहार-त्याग)।

**से किं तं इत्तरिए?-इत्तरिए अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा--चउत्थभत्ते छट्ठभत्ते अट्ठमभत्ते दसमभत्ते बारसभत्ते चउद्दस-भत्ते सोलसभत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते दोमासिए भत्ते, तेमासिए भत्ते, चउमासिए भत्ते, पंचमासिए भत्ते, छम्मासिए भत्ते। से तं इत्तरिए।**

इत्वरिक अनशन किसे कहते है ?-इत्वरिक अ० के अनेक भेद कहे है। जैसे-चतुर्थभक्त (=एक दिनरात के लिये आहार त्याग), षष्ठभक्त (=दो दिन के उपवास), अष्टम-भक्त (=तीन दिन के उपवास), दशमभक्त (=चार दिन के उपवास), द्वादशभक्त (=पाँच दिन के उपवास), चतुर्दश-

भक्त (=छह दिन के उपवास), षोडशभक्त (=सात दिन के उपवास), अर्द्धमासिकभक्त (=पंदरह दिन के उपवास), मासिकभक्त, द्विमासिकभक्त, त्रैमासिकभक्त, चातुर्मासिकभक्त, पञ्चमासिकभक्त और षण्मासिकभक्त (=छह महीने के उपवास)। यह ऐसा इत्वरिक तप है।

**से किं तं आवकहिए ?–आवकहिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।**

यावत्कथिक किसे कहते हैं ?–यावत्कथिक के दो भेद कहे गये हैं। जैसे–१ पादपोपगमन (=वृक्ष के समान जीवन पर्यन्त स्थिर शरीर से रहकर, आहार को त्याग देना) और २ भक्तप्रत्याख्यान (=जीवन पर्यन्त आहार का त्याग)।

**से किं तं पाओवगमणे ?-पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–वाघाइमे अ निव्वाघाइमे अ। नियमा अप्पडिकम्मे। से तं पाओवगमणे।**

पादपोपगमन किसे कहते है ?–पादपोपगमन के दो भेद कहे गये है। जैसे–१ व्याघातिम (=सिंह, दावानल आदि उपद्रवों के आने से निःस्पंद–निराहार रहना) और २ निर्व्याघातिम (=सिंह आदि के उपद्रवों के नही होने पर भी मरण-काल को समीप जानकर, स्वेच्छा से जीवनपर्यन्त निःस्पंद-निराहार रहना)। इस अनशन में प्रतिकर्म (=शरीर संस्कार खुजालना, हलन-चलन आदि) करते नहीं हैं। यह ऐसा पादपोपगमन यावत्कथिक अनशन है।

**से किं तं भत्तपच्चक्खाणे ?–भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–वाघाइमे य निव्वाघाइमे य। नियमा सप्पडिकम्मे। से तं भत्तपच्चक्खाणे। से तं अणसणे।**

भक्तप्रत्याख्यान किसे कहते है ?–भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद कहे गये है। जैसे–१ व्याघातिम (=सिंह आदि के उपद्रवो के आने पर, उन्हे सहते हुए, जीवनभर के लिये तीन या चार आहार का त्याग करना) और २ निर्व्याघातिम (=उपद्रवों के नही आने पर भी जीवनभर के लिये तीन या चार आहार का त्याग करना)। भक्तप्रत्याख्यान में प्रतिकर्म (=शरीर-शुद्धि, हलन-चलन, गमन आदि) अवश्य होता है। यह ऐसा भक्तप्रत्याख्यान है। इस प्रकार यह अनशन का स्वरूप कहा गया है।

टिप्पण–साधकों के लिये मरण भी महोत्सव वन जाता है। आगे-पीछे देह का त्याग अवश्य करना पड़ता है। यह जानते हुए भी मरण के समय धैर्य रखना बड़ा कठिन हो जाता है। किन्तु साधक प्रतिपल उस काल के लिये तैयार रहते है। फिर भी अपनी शारीरिक शक्ति आदि से अपने अन्तकाल को नजदीक जानकर, विशेष प्रकार की तैयारी प्रारम्भ कर देते है और जीवनपर्यन्त आहारादि को छोड़ देते है। जब इस देह से अब संयम-साधना आदि नहीं हो सकती है तव इससे चिपटने में क्या लाभ ?–दूसरों की देहों से अब इस देह का पोषण क्यों किया जाय ? ऐसा विचार करकें, जीने-मरने की आकांक्षा को छोडकर, दैहिक भाव से दूर हो जाते है-आत्मभाव में तल्लीन बन जाते है।

**से किं तं ओमोयरिया ?–ओमोयरिया दुविहा पण्णत्ता।**

तं जहा—दव्वोमोयरिया य, भावोमोयरिया य।

अवमोदरिका किसे कहते है?—अवमोदरिका (=पेट को पूरा नही भरना) के दो भेद कहे गये है। १ द्रव्य-अवमोदरिका (=अपने से भिन्न बाहरी साधनो का पेट भरकर उपयोग नही करना) और भाव अवमोदरिका (=आवेशात्मक भावो का जी भरकर सेवन नही करना)।

से किं तं दव्वोमोयरिया? दव्वोमोयरिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—उवगरण-दव्वोमोयरिया, भत्त-पाण-दव्वोमोयरिया य।

द्रव्य अवमोदरिका किसे कहते हैं?—द्रव्य अवमोदरिका के दो भेद कहे गये है। जैसे—१ उपकरण द्रव्य अवमोदरिका (=वस्त्र आदि का अल्प उपयोग) और २ भक्तपान अवमोदरिका (=आहार-पानी अल्प मात्रा में लेना)।

से किं तं उवगरण-दव्वोमोयरिया?—उवगरण दव्वोमोयरिया तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—एगे वत्थे, एगे पाए, चियत्तोवगरण-साइज्जणया। से तं उवगरण-दव्वोमोयरिया।

उपकरण द्रव्य अवमोदरिका किसे कहते है?—उपकरण द्रव्य अवमोदरिका के तीन भेद कहे गये है। जैसे—१ एक वस्त्र, २ एक पात्र और ३ प्रीतिकारी, विश्वासकारी और दोषरहित उपकरण रखना। यह ऐसी उपकरण-द्रव्य अवमोदरिका है।

टिप्पण–'चियत्त उवगरण' के विभिन्न अर्थ मिलते है–(१) दोषों से जो छोड दिये गये हों–ऐसे उपकरण, (२)संयमियों के द्वारा छोड़े गये उपकरण,(३) जूनें-पुरानें वस्त्रादि और (४) प्रतीतकारी उपकरण।

**से किं तं भत्तपाण-दव्वोमोयरिआ ?–भत्तपाण-दव्वोमोयरिआ-अणेगविहा पण्णत्ता। तंजहा–अट्ठ-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे अप्पाहारे।**

भक्तपान द्रव्य अवमोदरिका किसे कहते है ?–भक्तपान द्रव्य अवमोदरिका के अनेक भेद है। जंसे–१ मुर्गी के अण्डे के बराबर (मुख में आसानी से समा सके ऐसे ) आठ कवल प्रमाण मात्र आहार करना अल्पाहार है।

**दुवालस–कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे अवड्ढोमोयरिआ।**

२ बारह कवल प्रमाण आहार करना उपार्द्ध (आधी से अधिक) अवमोदरिका है।

**सोलस-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे दुभाग-पत्तो मोयरिआ।**

३ सोलह कवल प्रमाण आहार करना द्विभाग (=आधी) अवमोदरिका है।

**चउव्वीस-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे पत्तोमोयरिआ।**

४ चोवीस कवल प्रमाण आहार करना प्राप्त (=चोथाई) अवमोदरिका है।

**एक्कतीस-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण मेत्ते कवले आहारमाणे किंचूणोमोयरिआ ।**

५ इकत्तीस कवल प्रमाण आहार करना किञ्चिन्न्यून (=कुछ कम) अवमोदरिका है ।

**बत्तीस-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे पमाण-पत्ता । एत्तो एगेण वि घासेण ऊणयं आहार-माहारेमाणे समणे णिग्गंथे णो पकाम-रस-भोईत्ति वत्तव्वं सिया । से तं भत्तपाण-दव्वोमोयरिआ । से तं दव्वोमोयरिआ ।**

बत्तीस कवल प्रमाण आहार करनेवाला प्रमाण प्राप्त (=पूर्ण आहार करनेवाला ) है । इससे ( बत्तीस कवल से) एक ग्रास भी कम खानेवाला श्रमण-निर्ग्रन्थ प्रकाम-रस-भोजी (=बहुत अधिक खानेवाला) कहे जाने योग्य नही है । यह ऐसी भक्तपान द्रव्य अवमोदरिका है । इस प्रकार यह द्रव्यअवमोदरिका का स्वरूप है ।

टिप्पण—अवमोदरिका के अन्दर कहा गया कवल का प्रमाण, स्वस्थ और एक समय खानेवाले पुरुष की अपेक्षा से है । कोई ऐसा भी कहते हैं कि—जिसका जितना आहार प्रमाण हो, उसके बत्तीस हिस्से करके, अपनी-अपनी न्यूनोदरता का प्रमाण निश्चित्त करना चाहिए ।

कम आहार करने में भी इच्छा का निरोध करना पड़ता है । बिलकुल नहीं खाना कुछ सरल है । किन्तु खाने बैठकर, आधे पेट खाकर ही उठ जाना कुछ कठिन है । जो न्यूनोदरता तप को करता रहता है, वह अपनी खाने की इच्छा के निरोध के साथ ही साथ आवेशों पर भी

विजय-प्राप्त करने की क्षमता की वृद्धि कर सकता है। व्यक्ति विना खाये रह सकता हो, तो कोई झञ्झट नहीं, किन्तु ऐसा संभव नहीं है। अतः खाते हुए भी खाने की इच्छा पर काबू रहे-इस ध्येय की पूर्ति बहुत कुछ इस तप के द्वारा होती है।

**से किं तं भावोमोयरिया ?-भावोमोयरिया अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा-अप्पकोहे अप्पमाणे अप्पमाए अप्पलोहे अप्पसद्दे अप्पझंझे। से तं भावोमोयरिया। से तं ओमोयरिया।**

भाव अवमोदरिका किसे कहते हैं ?-भाव अवमोदरिका के अनेक भेद हैं। जैसे-अल्प क्रोध, अल्प मान, अल्प माया, अल्प लोभ, अल्प शब्द (=कलह अर्थात् क्रोध से होनेवाली शब्द की प्रवृत्ति की कमी), अल्प झञ्झ (=अविद्यमान कलह विशेष)। यह ऐसी भाव अवमोदरिका है। इस प्रकार अवमोदरिका का स्वरूप कहा गया है।

टिप्पण-अल्प शब्द =(१) कलह नहीं करना या (२) वचन का अभाव। यहाँ अल्प शब्द का अर्थ अभाव लिया गया है। इसका यह आशय प्रतीत होता है कि क्रोध आदि का उदय तो हो जाता है, किन्तु उन्हें किन्हीं उपायों से टाल देना या इनके निमित्तों से अलग हट जाना।

**से किं तं भिक्खायरिया ?-भिक्खायरिया अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा-दव्वाभिग्गहचरए-**

भिक्षाचर्या किसे कहते हैं ?-भिक्षाचर्या के अनेक भेद हैं। जैसे १ द्रव्य (=खाने-पीने की वस्तु आदि) से सम्बन्धित

प्रतिज्ञा को धारण करनेवाले।

टिप्पण—द्रव्य अभिग्रह=अमुक वस्तु मिले तो लेनें की, द्रव्यों की संख्या आदि की प्रतिज्ञा।

**खेत्ताभिग्गहचरए कालाभिग्गहचरए भावाभिग्गहचरए**

२ स्व-पर ग्रामादि से सम्बन्धित प्रतिज्ञा का सेवन करनेवाले, ३ पूर्वाह्ण (=पहला पहर) आदि विषय का अभिग्रह (=प्रतिज्ञा) करनेवाले, ४ गान-हसन-वार्त्तादि में प्रवृत्त स्त्री-पुरुषादि से सम्बन्धित अभिग्रह करनेवाले।

**उक्खित्तचरए णिक्खित्तचरए उक्खित्त-णिक्खित्त-चरए णिक्खित्त-उक्खित्त-चरए वट्टिज्जमाण-चरए साहरिज्ज-माणचरए।**

५ भोजन पकाने के पात्र से गृहस्थ के अपनें प्रयोजन के लिये निकाले हुए आहार के प्राप्त होने की प्रतिज्ञा करने वाले, ६ पाकभाजन (=भोजन के पात्र) से नहीं निकाले हुए आहार को लेने की प्रतिज्ञा करनेवाले, ७ पाकभाजन से निकालकर वहीं या अन्यत्र रखे हुए आहार की अथवा स्व-प्रयोजन के लिये निकाले हुए और नहीं निकाले हुए दोनों तरह के आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले, ८ पाकभाजन में रहे हुए भोजन में से गृहस्थ के स्व-प्रयोजन के लिये निकाले जाते हुए अर्थात् एकाध चम्मच निकाला हो और कुछ निका-लना बाकी हो ऐसे आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले, ९ खाने के लिये परोसे हुए भोजन मे से लेनें की प्रतिज्ञावाले, १० जो

भोजन ठंडा करनें के लिये वस्त्र-पात्रादि में फैलाया गया हो और वह पुनः समेट कर पात्रादि मे डाला जा रहा हो—ऐसे आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले (भगवान् महावीर के भिक्षुक शिष्य थे)।

टिप्पण—'निक्षिप्त उत्क्षिप्त' का अर्थ विकल्प—(१) उस पात्र से निकालकर, पुनः उसी पात्र में डाले हुए भोजन को अपने लिये निकाल कर देना।

## उवणीअचरए अवणीअचरए उवणीयावणीयचरए अवणीय-उवणीय-चरए

११ किसी के द्वारा किसी के लिये भेजी हुई भेंट या उपहार-सामग्री में से लेने की प्रतिज्ञावाले, १२ किसी के लिये दी जानेवाली या एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखी हुई आहार-सामग्री में से लेने की प्रतिज्ञावाले, १३ उपहार-सामग्री जो कि स्थानान्तरित कर दी गई हो, उसमें से लेने की प्रतिज्ञा-वाले। अथवा उपनीत और अपनीत दोनों प्रकार का आहार, अथवा दायक के द्वारा पहले गुण और वाद में अवगुण कथन सहित दिये जानेवाले आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले, १४ किसी के लिये भेजने के लिये या उपहार देनें के लिये अलग रखे हुए आहार अथवा पहले अपनीत और बादमें उपनीत-इस क्रम से दोनों प्रकार का आहार, अथवा दाता के द्वारा प्रथम अवगुण और वाद में गुण कथन सहित दिये जानेवाले आहार को लेनेवाले।

**संसट्ठचरए असंसट्ठचरए तज्जायसंसट्ठचरए**

१५ भरे हुए हस्तादि से दिये जानेवाले आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले. १६ स्वच्छ हस्तादि से दिये जानेवाले आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले, १७ दिये जानेवाले पदार्थ से भरे हुए हस्तादि से दिये जानेवाले आहार को लेनेवाले।

**अण्णायचरए मोणचरए दिट्ठलाभिए अदिट्ठलाभिए पुट्ठ-लाभिए अपुट्ठलाभिए भिक्खालाभिए अभिक्खलाभिए**

१८ अज्ञात (=जिसके द्वारा अपने प्रति अपनेपन की भावना से रहित आचरण होता हो ऐसे व्यक्ति) से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करनेवाले, १९ मौन रूप से या मौन दाता से आहार लेनेवाले, २० दिखाई देनेवाले आहारादि को लेनेवाले अथवा पहले देखे हुए दाता के हाथ से आहार-लाभ करने की प्रतिज्ञावाले, २१ अदृष्ट भक्तादि अथवा पहले से अनुपलब्ध-नही देखे हुए दाता के आहार के लाभ की प्रतिज्ञा वाले। २२ 'हे साधु ! तुम्हें क्या दें ?'—इस प्रकार पूछकर दिये जानेवाले आहार को लेनेवाले । २३ विना प्रश्न किये ही दिये जानेवाले आहार को लेनेवाले, २४ भिक्षा के समान भिक्षा (=तुच्छ आहार) लेनेवाले, २५ जो भिक्षा के तुल्य नहीं है ऐसी भिक्षा (=सामान्य आहार) लेनेवाले।

**अण्णगिलायए ओवणिहिए परिमिय-पिंड-वाइए सुद्धेसणिए संखादत्तिए। से तं भिक्खायरिया।**

२६ अन्नग्लायक (=अभिग्रह विशेष से सुबह में ही रातबासी ठण्डा आहार लेनेवाले ), २७ उपनिहित (=भोजन करने को बैठे हुए गृहस्थ के समीप में रखे हुए) आहार में से लेनेवाले, २८ अल्प आहार लेनेवाले, २९ शुद्ध आहार (=व्यञ्जन से रहित या शङ्कादि दोष से रहित आहार) लेने-वाले और ३० दत्ति (=पात्र में आहार क्षेपण—डालने ) की गिनती से आहार लेनेवाले थे। यह भिक्षाचर्या का स्वरूप है।

टिप्पण—'अन्नग्लायक' की व्याख्या—'स चाभिग्रह विशेषात् प्रातरेव दोषान्नभुगिति' की गई है। यहाँ पर जो 'दोषा' शब्द आया है उसका अर्थ 'रात्रि' होता है। अतः दोषान्न का अर्थ है—रातवासी रहा हुआ भोजन लेने की प्रतिज्ञा व ले साधु।

**से किं तं रस-परिच्चाए?—रस--परिच्चाए अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—णिव्वियतिए पणीय-रस-परिच्चाई आयंबिलए आयामसित्थभोई अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे+ । से तं रसपरिच्चाए**

रस-परित्याग किसे कहते है?—रसपरित्याग के अनेक भेद है। जैसे—१ विकृति(=घी, तेल, दूध, दही, गुड़-शक्कर) से रहित आहार करनेवाले, २ जिसमें से घी दूध चासनी आदि के बिन्दु टपकते हों ऐसे आहार को छोड़नेवाले, ३ मिर्च-मसाले से रहित रोटी-भात आदि रूखा-सूखा अन्न या भुना हुआ अन्न, पानी में भिगोकर खानेवाले, ४ ओसामन और

+'—तुच्छाहारे' त्ति क्वचिद् दृश्यते

उसमें गिरे हुए कण आदि को लेनेवाले, ५ अरस (=हिंग आदि से विना छौका हुआ) आहार करनेवाले, ६ विरस (=पुराना धान्य, जो स्वभाव से ही बे स्वाद हो गया हो–ऐसा) आहार करनेवाले, ७ अन्त (=हलको जाति का वल्लादि अन्न का) आहार करनेवाले, ८ प्रान्त (खाने के बाद बचा हुआ वल्लादि अन्न का ) आहार करनेवाले और ९ रूक्ष (=रूखा-सूखा, जीभ को अप्रिय लगनेवाला ) आहार करनेवाले (भगवान् के शिष्य) थे । यह रसपरित्याग का स्वरूप है ।

**से किं तं कायकिलेसे?–कायकिलेसे अरोगविहे पण्णत्ते । तं जहा–ठाणट्ठिइए* उक्कुडु-आसणिए पडिमट्ठाई वीरासणिए**

कायक्लेश किसे कहते है ?–कायक्लेश के अनेक भेद हैं । जैसे–१ स्थान (=खड़े या वैठे हुए एक आसन) से स्थिर रहनेवाले, २ उत्कटासन (=पुट्ठों को जमीन पर न टिकाते हुए, केवल पैरों पर ही वैठने की स्थिति ) से रहनेवाले, ३ मासिकी आदि प्रतिमा करनेवाले, ४ वीरासन (=भूमि पर पैर रखकर, सिंहासन के समान वैठने की स्थिति ) से रहनेवाले,

**नेसज्जिए× आयावए अवाउडए अकंडुयए‡ अणिट्ठुहए सव्व-गाय-परिकम्म-विभूस-विप्पमुक्के । से तं कायकिलेसे ।**

---

*'ठाणाइए'–पाठा० । ×दंडायए लगडसाई-त्ति क्वचिद् दृश्यते ।
‡धुय केस मंसु लोम–त्ति क्वचिद् द० ।

५ निषद्या (=पुट्ठे टिकाकर या पलाँठी) से बैठनेवाले, ६ आतापना (=शीतादि से देह को तापित करना) लेनेवाले, ७ शरीर को वस्त्रादि से नही ढँकनेवाले, ८ नही खुजालनेवाले, ९ नही थूकनेवाले और १० शरीर के सभी संस्कारों और विभूषा से मुक्त रहनेवाले भगवान् के शिष्य थे। यह काय-क्लेश का स्वरूप है।

टिप्पण—आतापना के तीन भेद हैं—१ उत्कृष्टा अर्थात् निष्पन्न (=सोये हुए व्यक्ति की) आतापना, २ मध्यमा अर्थात् अनिष्पन्न (=बैठे हुए व्यक्ति की) आतापना, ३ जघन्या अर्थात् ऊर्ध्वस्थित (=खड़े हुए व्यक्ति की) आतापना। इनके भी तीन-तीन भेद हैं। यथा—निष्पन्न—१ अधोमुखशायिता (=औंधे मुख से सोकर ली जानेवाली), २ पार्श्व-शायिता (=करवट से सोकर ली जानेवाली) और ३ उत्तानशायिता (पीठ के बल-सीधे सोकर ली जानेवाली) आतापना। अनिष्पन्न—१ गोदोहिका (=गाय दूहने की स्थिति में बैठकर ली जानेवाली), २ उत्कुटुकासनता (दोनों पैरों पर बैठकर ली जानेवाली) और ३ पर्यङ्का-सनता (=पलाँठी से बैठकर ली जानेवाली) आतापना और ऊर्ध्वस्थित—१ हस्तिशौण्डिका (=दोनों कूल्हों को जमीन पर टिका कर बैठना और फिर एक पैर हाथी की सूंड की तरह ऊंचा रखना), २ एकपादिका (=एक पैर से खड़े रहकर ली जानेवाली) और ३ समपादिका (=सीधे खड़े रहकर ली जानेवाली) आतापना।—(टी०)

से किं तं पडिसंलीणया ?-पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा—इंदिअ-पडिसंलीणया, कसाय-पडिसंलीणया, जोग-पडिसंलीणया, विवित्त-सयणासण-सेवणया।

प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?—प्रतिसलीनता के चार भेद कहे गये हैं। जैसे—१ इन्द्रियप्रतिसंलीनता (=इंद्रियों की चेष्टाएँ रोकना), २ कषायप्रतिसंलीनता (=आवेशों को रोकना), ३ योगप्रतिसलीनता (=प्रवृत्ति को रोकना) और ४ विविक्त-शयनासन-सेवनता (=एकान्त स्थान में रहना)।

**से किं तं इंदिय-पडिसंलीणया ?—इंदिय-पडिसंलीणया पंचविहा पण्णत्ता।**

इन्द्रियप्रतिसंलीनता किसे कहते है ? इन्द्रियप्रति-संलीनता के पाँच भेद कहे गये है।

**तं जहा—सोइंदिय-विसय-पयार-निरोहो वा, सोइंदिय-विसय पत्तेसु अत्थेसु राग-दोस-निग्गहो वा।**

जैसे—१ श्रोत्रेन्द्रिय (=कान) के विषय (शब्द) में प्रवृत्ति को रोकना अर्थात् शब्दो को नही सुनना अथवा श्रोत्रे-न्द्रिय को प्राप्त हुए विषय में राग-द्वेष नहीं होने देना।

टिप्पण—कई पूछते हैं कि—'कान को बंद करने का उपाय क्या ?' वस्तुतः कान में शब्द नहीं पड़ने देना कठिन है। किन्तु अपने कार्य की तल्लीनता, इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त होने से बहुत कुछ रोक सकती है। यदि कदाचित् प्रिय या अप्रिय शब्द कान में गिर भी गये हों तो उनके प्रति उदासीनता रखने से राग-द्वेष की प्रवृत्ति रुक सकती है।

**चक्खिदिय-विसय-पयार-निरोहो वा, चक्खिदिय-विसय-पत्तेसु अत्थेसु राग-दोस-निग्गहो वा।**

२ चक्षु इन्द्रिय (=आँख) के विषय (रूप) में प्रवृत्ति को रोकना—अच्छे-बुरे रूप नहीं देखना अथवा चक्षुइन्द्रिय को प्राप्त हुए विषय में राग-द्वेष नहीं करना।

**घाणिंदिय-विसय-पयार-निरोहो वा, घाणिंदिय-विषय-पत्तेसु अत्थेसु राग-दोस-निग्गहो वा।**

३ घ्राणइन्द्रिय (=नाक) के विषय (गंध) में प्रवृत्ति को रोकना अथवा घ्राणइन्द्रिय को प्राप्त हुए अर्थ (=गंध) में राग-द्वेष नहीं करना।

**जिब्भिंदिय-विसय-पयार-निरोहो वा, जिब्भिंदिय-विसय-पत्तेसु अत्थेसु राग-दोस-निग्गहो वा।**

४ जिव्हा इन्द्रिय (=जीभ) के विषय में प्रवृत्ति को रोकना अथवा जिव्हाइन्द्रिय को प्राप्त हुए अर्थ (=रस) में राग-द्वेष नहीं करना।

**फासिंदिय-विसय-पयार-निरोहो वा, फासिंदिय-विसय-पत्तेसु अत्थेसु राग-दोस-निग्गहो वा। से तं इंदिय-पडिसंलीणया।**

५ स्पर्श इन्द्रिय (=त्वचा) के विषय (=स्पर्श) में प्रवृत्ति को रोकना अथवा स्पर्शइन्द्रिय को प्राप्त हुए अर्थ (स्पर्श) में राग-द्वेष नहीं करना। यह इन्द्रियप्रतिसंलीनता का स्वरूप है।

टिप्पण—इन्द्रियों के अर्थ (शब्दादि) के साथ होनेवाले सम्बन्ध को 'विषय' और उन विषयों में होनेवाली प्रीति-अप्रीति को 'विकार'

कहते हैं। इन्द्रियों को शून्य या स्तब्ध कर देना—यह साधना-मार्ग नहीं है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति पर अंकुश रखना ही सही साधना है। इन्द्रियों को उनके अनुकूल विषयों को अधिक देनें से उनपर काबू नहीं पाया जा सकता। इन्द्रियों का स्वच्छंद विचरण वैषयिक प्रवृत्ति है। किन्तु उन्हें आत्महितकर कार्यों में लगाना साधना है। इन्द्रियों का स्वभाव चपल है। अतः वे विषय की ओर दौड़ती रहती हैं। उस दौड़ को तेज होने से रोकने को ही 'प्रचारनिरोध' कहते हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ तो अनायास ही 'विषययुक्त' बन जाती हैं। किन्तु उन विषयों के साथ आत्मा को नहीं जोड़ना चाहिए। अनुत्सुक भाव से इन्द्रियों को उनसे हटा लेना चाहिए। किन्तु अनायास ही जिन-अर्थों की प्राप्ति हुई हैं या लाचारी से अर्थ प्राप्ति करनी पड़ती हैं, उनमें प्रीति या द्वेष के भाव नहीं करने को ही 'इन्द्रियनिग्रह' कहते हैं। जब 'विकार' का विष निकल जाता है, तब विषय 'अर्थ' मात्र रह जाते हैं। इन्द्रियप्रतिसंलीनता का आशय यही है कि 'अपने-अपने विषयों में दौड़ती हुई इन्द्रियों को खींच लेना' अर्थात् उनकी तल्लीनता के वेग को मोड़कर आत्मस्थ कर देना। अतः इसके मुख्यतः दो भेद हैं—१ विषयों के प्रति अनुत्सुकता और २ प्राप्त अर्थों में उदासीनता।

से किं तं कसाय-पडिसंलीणया ?-कषायपडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता।

कषायप्रतिसंलीनता किसे कहते हैं ?-कषायप्रतिसंलीनता के चार भेद कहे गये हैं।

तं जहा-कोहस्सुदय- निरोहो वा उदय-पत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं।

जैसे—१ क्रोध के उदय को रोकना या उदय में आये हुए क्रोध को निष्फल करना।

माणस्सुदय-निरोहो वा उदय-पत्तस्स वा माणस्स विफली करणं।

२ मान के उदय को रोकना या उदय में आये हुए मान को निष्फल करना।

माया-उदय-निरोहो वा उदय-पत्ताए वा मायाए विफली करणं।

३ माया के उदय को रोकना या उदय में आई हुई माया को निष्फल करना।

लोहस्सुदय-निरोहो वा उदय पत्तस्स वा लोहस्स विफली करणं। से तं कसाय-पडिसंलीणया।

४ लोभ के उदय को रोकना या उदय में आये हुए लोभ को निष्फल करना। यह कषाय प्रतिसंलीनता का स्वरूप है।

टिप्पण—क्या संसारी और क्या साधक, सभी के जीवन में आवेशों को रोकने का प्रश्न उठता रहता है। क्योंकि आवेश, बनते हुए कार्यों को बिगाड देते है। आवेशों के वशीभूत नहीं होना सहज नहीं है। बड़े-बड़े साधक भी इनके चक्कर में फँस जाते हैं। फिर साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या?—एक तरफ से इन्हें रोका जाता है, तो दूसरी तरफ से दूसरे विविध रूपों में प्रकट होते हैं। किन्तु दृढ़ मनोबली साधक इनसे हारता नहीं है। वह कषायों के विरोधी भावों में स्थिर होने का अभ्यास करता रहता है। उसे ही कषाय प्रतिसंलीनता कहते हैं।

कषाय-प्रतिसंलीनता के साधारणतः दो रूप हैं—१ उदय-निरोध और २ उदय विफलीकरण। क्रोधादि की अनिष्टता के भावों का विचार करना, इन्हें नहीं करने का बार-बार सङ्कल्प करना, अक्रोधादि गुणों से होनेवाले लाभों को बार-बार याद करना, क्रोधादि के निमित्तों को सन्मुख नहीं आने देना, जैसे अपने आधीन व्यक्तियों को दृढ़ता पूर्वक आदेश दिये जाते हैं, वैसे ही अपने-आपको इन्हे नहीं करने का आदेश देना, त्रिकाल महापुरुषों की शरण-ग्रहण पूर्वक इन अध्यात्म-दोषों की निन्दा-भर्त्सना करना और गुणीजनों के गुणों की प्रशंसा करते हुए, उन गुणों की प्राप्ति की कामना करना आदि को 'उदयनिरोध' कहते हैं। क्रोधादि का उदय होने पर, उन भावों से योगों को हटा लेना, उन भावों से विपरीत भावों को धारण करना, जैसे—क्रोध आने पर, क्षमा के—मैत्री के भाव धारण करना, इसी तरह मान के विरोधी मार्दव (=नम्रता विनय) भाव, माया के विरोधी ऋजुता (=सरलता) भाव और लोभ के विरोधी संतोष भाव से युक्त योगों को धारण करना आदि से 'उदय विफलीकरण' होता है।

**से किं तं जोग-पडिसंलीणया ?—जोग-पडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—मण-जोगपडिसंलीणया, वय-जोगपडि-संलीणया, काय-जोगपडिसंलीणया।**

योग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?—योग प्रतिसंलीनता के तीन भेद कहे गये हैं। जैसे—१ मनोयोग-प्रतिसंलीनता, २ वचन योग प्रतिसंलीनता और ३ काय योग प्रतिसंलीनता।

**से किं तं मण-जोगपडिसंलीणया ?—मण-जोगपडिसंलीणया अकुसल-मणणिरोहो वा, कुसल-मण-उदीरणं वा। से तं मण-जोगपडिसंलीणया।**

मनोयोग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?—अकुशल मन का निरोध (=बुरे विचारों को नहीं आने देना) या कुशल मन की उदीरणा करना (=शुभ विचारों का अभ्यास करना)—यह मनोयोग प्रतिसंलीनता (=मन की एकाग्रता का अभ्यास) है।

**से किं तं वय-जोगपडिसंलीणया?—वय-जोगपडिसंलीणया अकुसल-वयणिरोहो वा, कुसल-वय-उदीरणं वा। से तं वय-जोगपडिसंलीणया।**

वचन योग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?—अकुशल (=अशुभ) वचन का निरोध करना (=अशुभ वचन की प्रवृत्ति को रोकना) या कुशल वचन की उदीरणा करना (=शुभ वचन का अभ्यास करना)—यह वचन योग प्रतिसंलीनता (=वाणी एक रूपता की साधना) है।

**से किं तं काय-जोगपडिसंलीणया?—कायजोग-पडिसंलीणया जण्णं सुसमाहिय-पाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिदिए सव्व-गाय-पडिसंलीणे चिट्ठइ। से तं कायजोगपडिसंलीणया। (से तं जोगपडिसंलीणया)।**

काय योग प्रतिसंलीनता किसे कहते है?—हाथ-पैर को स्थिर करके, कछुए के समान इन्द्रियों को गुप्त करके, सारे शरीर के अगों को संवृत्त करके बैठना काय योग प्रति-संलीनता (=कायिक एकाग्रता की साधना है।

टिप्पण—दैनिक कार्यों में प्रायः योगों की प्रवृत्ति अस्त-व्यस्त और बिखरी हुई रहती है और कभी-कभी मनुष्य अनिद्रा आदि रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। क्योंकि गलत और वृथा प्रवृत्ति के कारण मन आदि को विश्रान्ति नहीं मिलती है। वैषयिकता के कारण योगो में तनाव बना रहता है। जिससे मनुष्य चिडचिडा, उतावला और बावला बन जाता है। तब वह अपने सांसारिक कार्यों को भी ठीक से नहीं कर पाता—साधना की तो बात ही दूर रही। जीव अनादि काल से योग-प्रवृत्ति करता रहा है। प्रवृत्ति की अतिशयता में आत्मानुभव होना सहज नहीं है। अतः योगों के प्रवृत्ति-जनित तनाव को दूर करने के लिये—उनकी क्रिया व्यवस्थिता और शक्ति शालिनी बनानें के लिये—उन्हें शिथिल करना पड़ता है। यह कार्य 'योग-प्रतिसंलीनता' से सम्पादित होता है। 'काययोग प्रतिसंलीनता' के साथ साथ जब मन योग प्रतिसंलीनता और वचन योग प्रतिसंलीनता का अभ्यास दृढ होकर सहज बननें लगता है, तब अनुपम शान्ति का अनुभव होता है और प्रवृत्ति व्यवस्थित बनती जाती है। बड़े बड़े रोगों का भी शमन हो सकता है। आधुनिक मानस शास्त्रियों का 'शिथिलीकरण' इससे साम्य रखता है।

से किं तं विवित्त-सयणासण-सेवणया ?—विवित्त-सयणासण सेवणयाए जं णं आरामेसु उज्जाणेसु देवकुलेसु सभासु पवासु पणियगिहेसु पणियसालासु—इत्थी-पसु-पंडग-संसत्त-विरहियासु वसहीसुफासुएसणिज्ज-पीढ फलग-सेज्जा-संथारगं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। से तं पडिसंलीणया। से तं बाहिरए तवे।

विविक्त-शयनासन-सेवनता किसे कहते है ?—आराम (=पुष्प प्रधानवन फूलवाडी) उद्यान (=फूल-फलादि से युक्त

महावृक्षों का समुदाय–वगीचा ), देवकुल (=छतरियाँ या मन्दिर), सभागृह (लोगों के वैठने का स्थान) प्रपा (=जलदान स्थान–प्याउएँ). पणितगृह (=वर्तन आदि रखने के घर–गोदाम) पणितशाला (=वहुत-से ग्राहक=खरीदार और दायक=व्यापारी जनों के योग्य घर विशेष–जो कि स्त्री, पशु, पंडग (=नपुंसक) की संसक्तता अर्थात् युक्ततासे रहित हो, ऐसे स्थानों में निर्दोष-और निर्जीव अर्थात् संयमी जीवन में ग्रहण करने योग्य पीठ, फलक (=पटियें), शय्या (=पैर फैलाकर सो सके ऐसा विछौना) संस्तारक (=शय्या से छोटा तृणादि का विछौना ) को प्राप्त करके विचरने को विविक्त-शयनासन-सेवनता कहते है। यह प्रतिसंलीनता का स्वरूप है। यह बाह्य तप का स्वरूप पूर्ण हुआ।

टिप्पण–श्रमण भगवान् महावीर देव के शिष्यों के विशेषण रूप से इस सूत्र में बाह्य तप का विवेचन किया गया है।

## आभ्यन्तर-तप

**२०–से किं तं अब्भितरए तवे?-अब्भितरए तवे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं, सज्झाओ, झाणं, विउस्सग्गो।**

आभ्यन्तर तप किसे कहते है?–आभ्यन्तर तप के छह भेद कहे गये हैं। जैसे १ प्रायश्चित्त (=अतिचार आदि की

विशुद्धि), २ विनय (=कर्म दूर हटाने के लिये प्रवृत्ति), ३ वैयावृत्य (=आहारादि से संयमियों की सेवा), ४ स्वाध्याय (शुद्ध ज्ञान का मर्यादा से युक्त पठन-पाठन), ५ ध्यान (=एकाग्र शुभ चिन्तन या चित्तवृत्ति-निरोध) और ६ व्युत्सर्ग (=हेय का त्याग)।

टिप्पण—साधक के जागृत रहते हुए भी साधना में किसी न किसी प्रकार के दूषण लग ही जाते हैं। उन दोषों के कारण उसके हृदय में पश्चात्ताप होता है। उनकी शुद्धि करना चाहता है। अतः वह गुरुजनों के समक्ष नतगात होकर, शुद्धि के उपायों को पूछता है। इस प्रकार दो आभ्यन्तर तपों का क्रम बनता है। पहला प्रायश्चित्त और दूसरा विनय। जो विनयवान् होता है, वैयावृत्य कर सकता है। वैयावृत्य से इतर समय में स्वाध्याय की जाती है। स्वाध्याय करते हुए एकाग्र-चिन्तन होता है—ध्यान-दशा की प्राप्ति होती है। शुभध्यान से ही हेय का त्याग (=व्युत्सर्ग) होता है। यह आभ्यन्तर-तप के क्रम-विधान का रहस्य है। (—टी०)

से किं तं पायच्छित्ते ?—पायच्छित्ते दसविहे पण्णत्ते।

प्रायश्चित्त किसे कहते हे ?—प्रायश्चित्त के दस भेद कहे गये हैं।

तं जहा—आलोयणारिहे १

जैसे—१ आलोचनार्ह (=प्रकट करने से होनेवाला प्रायश्चित्त अर्थात् विशुद्धि के लिये गुरु से निवेदन करना)।

टिप्पण—भिक्षा, स्थंडिल, गमनागमन, प्रतिलेखना आदि दैनिक कृत्यों में लगनेवाले दोषों के विषय में यह प्रायश्चित्त किया जाता है।

गुरु या रत्नाधिक के समीप में अपने दोषों को निष्कपट भाव से प्रकट किया जाता है। इसीलिये इससे होनेवाली विशुद्धि को भी 'आलोचनार्ह' कहा है।

पडिक्कमणारिहे २,

प्रतिक्रमण (=मिथ्या दुष्कृत-पाप से पीछे लौटने) से होने वाला प्रायश्चित्त प्रतिक्रमणार्ह।

टिप्पण-पाँच समिति, तीन गुप्ति के सम्बन्ध में सहसाकार आदि से लगनेवाले दोषों के विषय में यह प्रायश्चित्त है। इसमें 'मिच्छा मि दुक्कडं' दिया जाता है अर्थात् 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो-निष्फल हो। आदि चिन्तन पूर्वक दोषों के विषय में पश्चात्ताप होता है।

तदुभयारिहे ३,

आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से होने वाला प्रायश्चित्त तदुभयार्ह होता है।

टिप्पण-निद्रावस्था में साधारण दुःस्वप्न से महाव्रतों में दोष लगे हैं-ऐसी शङ्का आदि दोषों के विषय में यह प्रायश्चित्त है। जिसमें गुरु के समक्ष आलोचना पूर्वक 'मिथ्यादुष्कृत' दिया जाता है।

विवेगारिहे ४,

त्याग के द्वारा होनेवाला प्रायश्चित्त विवेकार्ह कहलाता है।

टिप्पण-अनजान में आधाकर्म आदि दोष से युक्त आहारादि आ जाय और यह बात विदित हो जाय, तब उसे उपभोग में न लेकर, त्याग देने से यह प्रायश्चित्त होता है।

विउस्सग्गारिहे ५,

कायोत्सर्ग के द्वारा होनेवाला प्रायश्चित्त व्युत्सर्गार्ह कहलाता है।

टिप्पण—उच्चार आदि के परिष्ठापन में, नदी उतरनें आदि में विवशतावश लगे हुए, दोषों की शुद्धि के लिये यह प्रायश्चित्त है। जिसमें विभिन्न दोषों के लिये, विभिन्न प्रमाणयुक्त श्वास-उच्छ्वास के कायोत्सर्ग विहित हैं। जैसे स्वप्नादि में लगे हुए दोषों के लिये १०० या १०८ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग (=शरीर को निश्चल रखना)।

तवारिहे ६,

तप के द्वारा होनें योग्य विशुद्धि तपार्ह कहलाता है।

टिप्पण—सचित्तवस्तु कें स्पर्श से, आवश्यकी आदि समाचारी को नहीं करने से, प्रतिलेखना-प्रमार्जना आदि नहीं करने से लगे हुए दोषों की विशुद्धि के लिये बाह्यतप अनशनादि रूप प्रायश्चित्त होता है।

छेदारिहे ७,

छेद (=दीक्षापर्याय को कम करनें) से होनेवाली विशुद्धि छेदार्ह कहलाती है।

टिप्पण—सचित्त पृथ्वी आदि की विराधना और प्रतिक्रमण नहीं करनें आदि से लगे हुए दोषों की शुद्धि के हेतु छेद (=दीक्षाकाल को घटा देना) दिया जाता है।

मूलारिहे ८,

पुनः व्रतों की स्थापना के द्वारा होनेवाला प्रायश्चित्त मूलार्ह कहलाता है।

टिप्पण—तीन वार प्रायश्चित्त स्थान के सेवन, हस्तकर्म, मैथुन, रात्रीभोजन आदि के द्वारा चरित्र-भंग और किसी भी महाव्रत का जानबूझ कर भंग करने पर, जो पुनः नई दीक्षा दी जाती है, उसे 'मूलार्ह' प्रायश्चित्त कहते है।

अणवठ्ठप्पारिहे ९,

प्रायश्चित्त रूप मे दिये हुए अमुक प्रकार के विशिष्ट तप को जबतक न करले तबतक उसका सम्बन्धविच्छेद रखना और गृहस्थभूत बनाकर वापिस दीक्षा भी नही देना—अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।

टिप्पण—इस प्रायश्चित्त के आने के तीन बडे कारण है जो कि ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में और वृहत्कल्प के चौथे उद्देशे में बताये है।

पारंचियारिहे १०। से तं पायच्छित्ते।

सम्बन्ध विच्छेद करके तप विशेष कराने के बाद गृहस्थ-भूत बना कर व्रत-स्थापना के द्वारा होनेवाला प्रायश्चित्त—पारञ्चितार्ह कहलाता है। यह प्रायश्चित्त का स्वरूप है।

टिप्पण—इसकें तीन कारण भी ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में और वृहत्कल्प के चौथे उद्देशे में बतलाये गये है।

से किं तं विणए?—विणए सत्तविहे पण्णत्ते। तं जहा—णाण-विणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, वइविणए, कायविणए, लोगोवयारविणए।

विनय किसे कहते है? विनय के सात भेद कहे गये

है। जैसे-१ ज्ञानविनय, २ दर्शनविनय, ३ चारित्रविनय, ४ मनोविनय, ५ वचनविनय, ६ कायविनय और ७ लोकोपचार विनय(=लोकव्यवहार से सम्बन्धित आत्मगुण-पोषक मृदु आचरण)।

**से किं तं णाणविणए?-णाणविणए पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-आभिणिबोहियणाणविणए, सुयणाणविणए, ओहिणाणविणए, मणपज्जवणाणविणए, केवलणाणविणए। (से तं णाणविणए।)**

ज्ञानविनय किसे कहते है? ज्ञानविनय के पाँच भेद कहे गये है। जैसे-१ आभिनिबोधिक ज्ञान(=मतिज्ञान)विनय, २ श्रुतज्ञान विनय, ३ अवधिज्ञान विनय, ४ मनःपर्यवज्ञान विनय और ५ केवलज्ञान विनय (इन ज्ञानों को यथार्थ मानते हुए इनके लिए यथा शक्ति पुरुषार्थ करना)

**से किं तं दंसणविणए?-दंसणविणए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सुस्सुसणाविणए, अणच्चासायणाविणए।**

दर्शन विनय किसे कहते हैं?-दर्शन विनय के दो भेद कहे गये हैं। जैसे-१शुश्रूषाविनय और २ अनत्याशातना विनय।

**से किं तं सुस्सुसणाविणए?-सुस्सुसणाविणए अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा-अब्भुट्ठाणे इ वा, आसणाभिग्गहे इ वा, आसणप्पदाणे इ वा,**

शुश्रूषणाविनय (=सम्यक् श्रद्धा का अविरोधी सेवा रूप विनम्र आचारण) किसे कहते हैं ? शुश्रूषणाविनय के अनेक भेद कहे गये हैं। जैसे–१ गुरुजन या गुणाधिक के अपने समीप आने पर, उन्हें आदर देने के लिये खड़े होना, २ जहाँ जहाँ गुरुजन की बैठने की इच्छा हो, वहां वहां आसन ले जाना, ३ और उन्हें आसन देना,

**सक्कारे इ वा, सम्माणे इ वा किइकम्मे इ वा, अंजलीपग्गहे इ वा,**

४ सत्कार देना (=वस्त्रादि से निमन्त्रित करना), ५ सन्मान (=बड़प्पन) देना, ६ विधि सहित वन्दना-नमस्कार करना, ७ स्वीकृति या अस्वीकृति करते समय हाथ जोड़ना,

**एंतस्स अणुगच्छणया, ठिअस्स पज्जुवासणया, गच्छंतस्स पडिसंसाहणया। से तं सुस्सुसणाविणए।**

आते हुए गुरुजन के सामने जाना, ९ बैठे हुए की पर्युपासना और १० जाते हुए को पहुँचाने जाना। यह शुश्रूषा-विनय है।

**से किं तं अणच्चासायणा विणए?–अणच्चासणा विणए पणतालीसविहे पण्णत्ते। तं जहा–अरहंताणं अणच्चासायणया, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अणच्चासायणया,**

अनत्याशातना विनय किसे कहते है ? अनत्याशातना विनय के पैंतालीस भेद कहे गये हैं। १ अरिहन्त की आशातना (=आत्मगुण घातक आचरण) नहीं करना, २ अरिहन्त के

द्वारा कहे गये धर्म की आशातना नही करना,

**आयरियाअणच्चासायणया, एवं उवज्झायाणं थेराणं कुलस्स गणस्स संघस्स किरियाणं संभोगिअस्स**

३ आचार्यो की आशातना नहीं करना, इसी प्रकार ४ उपाध्यायों की, ५ स्थविरों (ज्ञानचारित्रवय वृद्धों) की, ६ कुल की, ७ गणकी, ८ संघ (=साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) की, ९ क्रियावान् की, १० सांभोगिक (=जिसके साथ वन्दना आदि व्यवहार किया जाता हो, उस गच्छ के साधु या एक समाचारी वाले ) की।

**आभिणिबोहियणाणस्स सुयणाणस्स ओहिणाणस्स मण-पज्जवणाणस्स केवलणाणस्स।**

११ मतिज्ञान की, १२ श्रुतज्ञान की, १३ अवधिज्ञान की, १४ मन.पर्यवज्ञान की और १५ केवलज्ञान की आशातना नही करना।

**एएसिं चेव भत्ति-बहुमाणे, एएसिं चेव वण्णसंजलणया। से तं अणच्चासायणा-विणए।**

१६ से ३० इन पन्द्रह की भक्ति (सेवा-पूजा)-बहुमान (=गुणानुराग का ऐसा तीव्र भावावेश—जिसमें पूज्य के प्रति सर्वस्व समर्पण कर देने की भावना रहती है) करना और ३१ से ४५ इन पन्द्रह के यश को प्रकाशित करना-फैलाना। यह अनत्याशातना या अनाशातना विनय का स्वरूप है।

से किं तं चरित्तविणए ?—चरित्तविणए पंचविहे पण्णत्ते ।

चारित्र विनय किसे कहते है ?—चारित्र विनय के पांच भेद कहे गये हैं ।

तं जहा—समाइय-चरित्तविणए, छेओवट्ठावणिय-चरित्तविणए, परिहारविसुद्धि-चरित्तविणए, सुहुम-संपराय चरित्तविणए, अहक्खाय-चरित्तविणए । से तं चरित्तविणए ।

जैसे—१ सामायिक चारित्र विनय, २ छेदोपस्थापनीय चारित्र विनय, ३ परिहार-विशुद्धि चारित्र विनय, ४ सूक्ष्म सम्पराय चारित्र विनय और ५ यथाख्यात चारित्र विनय । यह चारित्र विनय है ।

से किं तं मणविणए ?—मणविणए दुविहे पण्णत्ते । तंजहा-पसत्थमणविणए, अपसत्थमणविणए ।

मनोविनय किसे कहते हैं ?—मनोविनय के दो भेद कहे गये है । जैसे—१ प्रशस्त (अच्छा) मनोविनय और २ अप्रशस्त (=बुरा ) मनोविनय ।

से किं तं अपसत्थमणविणए ?-अपसत्थमणविणए जेअ मणे सावज्जे सकिरिए सकक्कसे कडुए णिट्ठुरे फरुसे अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे परितावणकरे उद्दवणकरे भूओवघाइए, तहप्पगारं मणो णो पहारेज्जा । से तं अपसत्थ मणोविणए ।

अप्रशस्त मनोविनय किसे कहते है ? जो मन १ सावद्य(=पापमय), २ सक्रिय(=कायिकी आदि क्रियायुक्त), ३ सकर्कश, ४ कटुक, ५ निष्ठुर (=कठोर–अकोमल), ६ परुष (=स्नेहरहित ), ७ आश्रवकारी (=अशुभ कर्म को ग्रहण करनेवाला), ८ छेदकर (=अंगादि को काटने के भाव करनेवाला ), ९ भेदकर ( अंगादि को बिंधने के भाव ) १० परितापन कर,( =प्राणियों को सतापित करने के भाव ) ११ उद्रवण कर (=मारणान्तिक वेदनाकारी या धनहरणादि उपद्रवकारी) और १२ भूतोपघातिक (=जीवो के घात की भावनावाला) हो–ऐसे मन को धारण नही करना, अप्रशस्त मनोविनय है। यह अप्रशस्त मनोविनय है ।

**से किं तं पसत्थमणोविणए ?–पसत्थमणोविणए तं चेव पसत्थं णेयव्वं । एवं चेव वइविणओ वि एएहिं पएहिं चेव णेअव्वो । से तं वइविणए ।**

प्रशस्त मनोविनय किसे कहते है ?–इसी प्रकार प्रशस्त मनोविनय का स्वरूप भी समझना चाहिए। इसी प्रकार वचन-विनय भी इन्ही पदों के द्वारा समझ लेना चाहिए । यह वचन-विनय है ।

टिप्पण–प्रशस्त मनोविनय, अप्रशस्त से विपरीत स्वरूपवाला है। अर्थात् १ असावद्य २ निष्क्रिय, ३ अकर्कश, ४ अकटुक (=मधुर), ५ अनिष्ठुर (कोमल ), ६ अपरुष (=करुणामय ), ७ अनाश्रवकारी, ८ अछेदकर, ९ अभेदकर, १० अपरितापनकर, ११ दयार्द्र और १२ जीवों

के प्रति शाताकारी मन को धारण करना-प्रशस्त मनो-विनय है। मन-विनय की तरह वचनविनय के भी भेद समझ लेना चाहिए अर्थात् सावद्यादि वचन छोडना और असावद्यादि वचन बोलना।

**से किं तं कायविणए? कायविणए दुविहे पण्णत्ते। तंजहा-पसत्थकायविणए अपसत्थकायविणए।**

कायविनय किसे कहते है? कायविनय के दो भेद कहे गये है। जैसे-१ प्रशस्त कायविनय और २ अप्रशस्त। कायविनय

**से किं तं अपसत्थकायविणए?--अपसत्थकायविणए सत्तविहे पण्णत्ते।**

अप्रशस्त कायविनय किसे कहते है? अप्रशस्त काय-विनय के सातभेद कहे गये है।

**तं जहा--अणाउत्तं गमणे,अणाउत्तं ठाणे,अणाउत्तं निसीयणे, अणाउत्तं तुयट्टणे, अणाउत्तं उल्लंघणे, अणाउत्तं पल्लंघणे, अणाउत्तं सव्विंदिय--काय जोग- जुंजणया। से तं अपसत्थ-कायविणए।**

जैसे- १ विना उपयोग (=असावधानी) से चलना, २ ठहरना, ३ बैठना, ४ सोना, ५ लाँघना, ६ वारम्बार लांघना या कूदना और ७ विना यत्न के सभी इन्द्रियों और काया को प्रवृत्ति में लगाना। यह अप्रशस्त काय विनय है। इन असाव-धानी की प्रवृत्तियों को छोड़ना विनय है।

टिप्पण—अप्रशस्त मनविनय में 'तहप्पगारं मणो णो पहारेज्जा' पाठ आया है। उसकी भलामण अप्रशस्त वचन विनय के लिए भी दी है। अप्रशस्त काय विनय में ऐसी भलामण नहीं दी है, तथापि उसी प्रकार समझ लेना चाहिए, क्योंकि उत्तराध्ययन के चौवीसवें अध्ययन की पचीसवीं गाथा से यह बात स्पष्ट होती है। उस अध्ययन में संरम्भादि में प्रवृत्त होते हुए मन वचन काया को रोकने के लिए समान रूप से पाठ आया है।

**से किं तं पसत्थकायविणए ?—पसत्थकायविणए एवं चेव पसत्थं भाणियव्वं। से तं कायविणए।**

प्रशस्त कायविनय किसे कहते है ?—इसी प्रकार प्रशस्त कायविनय के विषय में कहना चाहिए (=अर्थात् उपयोग पूर्वक सातो क्रियाएँ करना—प्रशस्त कायविनय है)। यह कायविनय है।

**से किं तं लोगोवयारविणए ? लोगोवयारविणए सत्तविहे पण्णत्ते।**

लोकोपचारविनय किसे कहते है ? लोकोपचारविनय के सात भेद कहे गये हैं।

**तं जहा—अब्भास वत्तियं १, परच्छंदाणुवत्तियं २, कज्जहेउं ३, कयपडिकिरिया ४, अत्त-गवेसणया ५, देस-कालण्णुया ६, सव्वट्ठेसुअपडिलोमया ७। से तं लोगोवयारविणए। से तं विणए।**

जैसे-१ गुरु आदि के समीप बैठना, २ गुरुजन की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना, ३ ज्ञानादि के लिये सेवा-भक्ति करना,४ कृतज्ञता से (=अपने ऊपर किये हुए उपकारों का स्मरण में रखकर) सेवाभक्ति करना, ५ वृद्ध-रोगी आदि पीड़ित संयतियों से, उनके सुख-दुःख की बात पूछना या उनकी सार-सम्हाल करना, ६ देश और काल को जानकर, अपने ध्येय को हानि न पहुँचे, इस प्रकार से आचरण करना और ७ सभी विषयों में-आराध्य सम्बन्धी सभी प्रयोजनों में-विपरीत आचरण का निवारण करना-अनुकूल बनना। यह लोकोपचार विनय है। यह विनय का स्वरूप है।

टिप्पण-लौकिक प्रवृत्ति की सदृशता होने के कारण, इसे लोकोपचार विनय कहा गया है। गुरुओं के समीपवर्ती रहने पर, उनके सेवा का योग साधा जा सकता है। गुरुजन की इच्छानुसार प्रवृत्ति करने से अपनी इच्छा का निरोध होता है। स्वच्छन्दता नम्रता में परिणत होती है और गुरुजन प्रसन्न रहते हैं। ज्ञानादि के लिये सेवाभक्ति करने पर, गुरुजनों को और स्वयं को चित्त-प्रसाद होता है। जिससे ज्ञानादि की प्राप्ति सुगम बनती है। आर्त्त से सुख-दुःख की बात पूछने पर, उन्हें अनाथता की अनुभूति नहीं सताती है और स्वयं को भी, उनके दुःख में हिस्सा बँटाने से, मधुर शान्ति का अनुभव होता है। देश-कालज्ञता और सर्वार्थ में अप्रतिलोमता से स्व-पर का कल्याण, सहज में साधा जा सकता है।

से किं तं वेयावच्चे ?-वेयावच्चे दसविहे पण्णत्ते।

वैयावृत्य (=भात-पानी आदि से सेवा करना) किसे कहते है ?-वैयावृत्य के दस भेद कहे गये हैं।

तं जहा–आयरियवेयावच्चे १, उवज्झायवेयावच्चे २, सेह-वेयावच्चे ३, गिलाणवेयावच्चे ४, तवस्सिवेयावच्चे ५, थेर-वेयावच्चे ६ साहम्मियवेयावच्चे ७, कुलवेयावच्चे ८, गण-वेयावच्चे ९, संघवेयावच्चे १०, से तं वेयावच्चे।

जैसे–१ आचार्य की वैयावृत्य, २ उपाध्याय की ३ शैक्ष (=नवदीक्षित) की ४ ग्लान (=पीडित) की ५ तपस्वी (=अष्टम आदि करनेवाले) की ६ स्थविर (=वय आदि से वृद्ध) की ७ सार्धमिक (=साधु या साध्वी) की ८ कुल (=गच्छों के समुदाय की ९ गण (=कुलों के समुदाय) की और १० संघ (=गणों के समुदाय) की वैयावृत्य (=सेवा)। यह वैयावृत्य का स्वरूप है।

टिप्पण–भगवती सूत्र आदि में बतलाया गया है कि एक आचार्य के या एक गुरु के शिष्यों को कुल कहते हैं।

से किं तं सज्झाए?–सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते।
तं जहा–वायणा १, पडिपुच्छणा २, परियट्टणा ३, अणुप्पेहा ४, धम्मकहा ५। से तं सज्झाए।

स्वाध्याय किसे कहते है? स्वाध्याय के पांच भेद कहे गये हैं। जैसे–१ वाचना (=सूत्रों का पढ़ना-पढ़ाना), २ प्रति-पृच्छना (शंका-समाधान), ३ परिवर्तना (=जाने-सीखेहुए ज्ञान की पुनरावृत्ति, ४ अनुप्रेक्षा (=सूत्र के अवलम्बन से युक्त चिन्तन-मनन) और ५ धर्मकथा। यह स्वाध्याय का स्वरूप है।

से किं तं झाणे ?–झाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–अट्ट-ज्झाणे १, रुद्दज्झाणे २, धम्मज्झाणे ३, सुक्कज्झाणे ४ ।

ध्यान (=एकाग्रचिन्तन) किसे कहते हैं ?–ध्यान चार तरह का कहा गया है । जैसे–१ आर्त्त (=रागादि भावना से युक्त) ध्यान, २ रौद्र (=हिंसाभावना से रञ्जित) ध्यान, ३ धर्म (=धर्मराग से रञ्जित) ध्यान और ४ शुक्ल (=निरञ्जन-शुद्ध) ध्यान ।

अट्टज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–अमणुण्ण-संपओग-संपउत्ते, तस्स विप्पओग-स्सइ-समण्णागए यावि भवइ १, मणुण्ण-संपओग-संपउत्ते, तस्स अविप्पओग-स्सइ-समण्णागए यावि भवइ २,

आर्त्तध्यान के चार भेद कहे गये हैं । जैसे १ अमनोज्ञ (=मन को नहीं भानेवाले) साधनों के प्राप्त होने पर, उनके वियोग की स्मृत्ति (=दूर हटाने के लिये लगातार चिन्तन) करना, २ मनोज्ञ (=मन को प्रिय लगनेवाले) साधनों के प्राप्त होने पर, उनके अवियोग की स्मृति (=सदा अपने पास सुरक्षित बने रहने का लगातार चिन्तन) करना,

आयंक-संपओग-संपउत्ते, तस्स विप्पओग-स्सइ-समण्णागए यावि भवइ ३, परि-जूसिय-काम-भोग-संपओग-संपउत्ते, तस्स अविप्पओग-स्सइ-समण्णागए यावि भवइ ४ ।

३ आतङ्क (=रोगों) के आने पर, उनके वियोग की स्मृति से युक्त होना और ४ सेवित और प्रीतिकर काम भोगो की प्राप्ति होने पर, उनके अवियोग की स्मृति से युक्त होना।

**अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा– कंदणया १, सोयणया २, तिप्पणया ३, विलवणया ४।**

आर्त्तध्यान के चार लक्षण कहे गये है। जैसे–१ क्रन्दनता (=जोरों से रोना), २ शोचनता (=दीनता), ३ तेपनता (=आँसू गिराना) और ४ विलपनता (=विलखना, चित्त को क्लेश पहुँचानेवाले वचन बारम्बार बोलना)।

**रुद्दज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–हिंसाणुबंधी १, मोसाणुबंधी २, तेणाणुबंधी ३, सारक्खणाणुबंधी ४।**

रौद्रध्यान के चार भेद कहे गये हे। जैसे–१ हिंसानुबन्धी (=हिंसा से सम्बन्धित एकाग्र चिन्तन), २ मृषानुबन्धी (=असत्य से सम्बन्वित एकाग्र चिन्तन), ३ स्तेनानुबन्धी (=चौर्य कर्म से सम्बन्धित एकाग्र चिन्तन) और ४ संरक्षणानुबन्धी (=धनादि के रक्षण से सम्बन्धित भयङ्कर चिन्तन या किसी को कैदखाना आदि में डलवाने सम्बन्धी चिन्तन।)

**रुद्दस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा– उसण्णदोसे १, बहुदोसे २, अण्णाणदोसे ३, आमरणंतदोसे ४।**

रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। यथा–१ ओसन्न दोष (=हिंसा आदि दोषों में से किसी भी दोष में, अधिकता से लगातार लगे रहना—उनसे जरा भी अप्रीति नहीं होना), २ बहुदोष (=हिंसादि बहुत-से या सभी दोषों में प्रवृत्ति), ३ अज्ञानदोष (=कुशास्त्र के संस्कार से, अधर्म स्वरूप हिंसादि में, धर्मबुद्धि से प्रवृत्ति करना), ४ आमरणान्तदोष (=मरण पर्यंत दोषों के प्रति अनुताप नहीं होना)।

टिप्पण–आर्त और रौद्र ध्यान-अशुभ ध्यान हैं। यहां भगवान् के श्रमणों के विशेषणों के रूप में तप का वर्णन हो रहा है। अतः इन ध्यानों के वर्णन से यह आशय लेना चाहिए कि–'इन अशुभ ध्यानों को छोड़कर, धर्म-शुक्ल रूप प्रशस्त ध्यान के ध्याता थे।' इसीप्रकार अशुभ विनय के विषय में यही समझना चाहिए। तपोवर्णन में अप्रशस्त का वर्णन इसीलिये है कि इनका स्वरूप समझकर, प्रशस्त ध्यान को अप्रशस्त ध्यान होने से रोका जा सके। क्योंकि जरा-से लक्ष्य-भेद से क्रिया-भेद उपस्थित हो जाता है। अतः अप्रशस्त को छोड़ना और प्रशस्त को स्वीकार करना, ये दोनों ही निर्जरा हैं।

**धम्मज्झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते।**

धर्मध्यान का चार भेदवाला चार प्रकार का स्वरूप कहा गया है।

**तं जहा–आणाविजए १, अवायविजए २, विवागविजए ३ संठाणविजए ४।**

धर्मध्यान के चार भेद हैं। जैसे–१ आज्ञाविचय

(=चिन्तन के द्वारा—सूत्रज्ञान के द्वारा जिनेन्द्र की सूत्रधर्म और चारित्रधर्म सम्बन्धो आज्ञा का निर्णय करना), २ अपायविचय (=चिन्तनादि के द्वारा राग-द्वेषादि से होनेवाले अनर्थों का निर्णय करना या स्मृतिकोष में उन निर्णयों का संग्रह करना), ३ विपाकविचय (=चिन्तन आदि के द्वाग कर्म-फल का निर्णय करना और ४ संस्थान विचय (=लोक-द्वीप आदि पदार्थों की आकृतियो का चिन्तन करना)।

टिप्पण—आज्ञा के दो भेद हैं—१ स्वरूपज्ञापनी आज्ञा और २ आदेश आज्ञा। वस्तु-स्वरूप का जो कथन, वीतरागों के द्वारा कहा गया हो-उसे स्वरूपज्ञापनी आज्ञा कहते हैं और आचरण से सम्बन्धित वचनों को आदेश-आज्ञा कहते हैं।

धर्मध्यान के चारो भेदों का स्वरूप—

आप्तवचन प्रवचनं, चाज्ञाविचयस्तदर्थ-निर्णयनम्।
आश्रव-विकथा-गौरव-परीषहाद्येष्वपायस्तु ॥२४७॥
अशुभ-शुभ-कर्म-विपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयःस्यात्।
द्रव्य-क्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्तु ॥२४८॥

—प्रशमरतौ

—आप्तवचन प्रवचन है। उसके अर्थ के निर्णय को आज्ञाविचय कहते हैं। आश्रव, विकथा, गौरव, परीषहादि में दोषभावना के चिन्तन को अपायविचय, अशुभ-शुभ कर्म के विपाक के वार वार चिन्तनरूप अर्थ को विपाकविचय और द्रव्य-क्षेत्र आदि की आकृतियों में वृत्तियों को रमाने को संस्थानविचय कहते हैं।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—आणारुई १, णिसग्गरुई २, उवएसरुई ३, सुत्तरुई ४।

धर्मध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। जैसे—१ आज्ञा-रुचि (=वीतराग की आज्ञा में श्रद्धा-रुचि), २ निसर्गरुचि (=स्वभावतः ही धर्म में रुचि होना), ३ उपदेशरुचि (=साधु आदि के उपदेश से धर्म में रुचि होना या धर्म-उपदेश सुनने में रुचि) और ४ सूत्ररुचि (=आगमों से तत्त्वरुचि होना या आगमों में श्रद्धा होना)।

**धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता।**

**तंजहा—वायणा १, पुच्छणा २, परियट्टणा ३, धम्मकहा ४।**

धर्मध्यान के चार आलम्बन (=धर्मध्यान के शिखर पर चढ़ने के लिये, सहायता लेने योग्य साधन) कहे गये हैं। यथा—१ वाचना (=जीव-अजीव के वास्तविक स्वरूप को बतानेवाले आगम; ग्रन्थ, शास्त्रादि को पढना), २ पृच्छना (=शंका-समाधान या पढ़े हुए—जाने हुए विषय के सम्बन्ध में विविध प्रश्न उठाना और स्वतः ही समाधान करना या दूसरों से उत्तर प्राप्त करके, जिज्ञासावृत्ति का संस्कार करना अथवा अपने आपके विषय में, अपने आपसे, पूर्ण जिज्ञासा के साथ उत्तर की राह देखते हुए, प्रश्न करना), ३ परिवर्तना (=सीखे हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति करना—घुमा-फिराकर बार बार एक ही विषय पर, योगों—मन, वचन और काया की क्रिया-को लगाना) और ४ धर्मकथा (=उपदेश देना; आप्तपुरुषों की जीवनियों, उपदेशप्रद गाथाओं के द्वारा आत्मानुशासन करना-अपने आपको आदेश देना)।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–अणिच्चाणुप्पेहा १, असरणाणुप्पेहा २ एगत्ताणुप्पेहा ३, संसाराणुप्पेहा ४।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ(=भावनाएँ–ध्यान साधने के लिये विचारों के अभ्यास) कही गई हैं। यथा–१ अनित्यानुप्रेक्षा (=इष्टजन– सातादि के संयोग, ऋद्धि, विषयसुख, सम्पद्, आरोग्य, देह, यौवन और जीवन अर्थात् जितने भी इन्द्रिय-गम्य पदार्थ है वे सभी अनित्य है–ऐसे विचारों का अभ्यास करना।), २ अशरणानुप्रेक्षा (=जन्म, जरा और मरणादि के भय में–व्याधि और वेदना में–जिनवर के वचन के सिवाय, लोक में कही पर कोई भी शरण नहीं है अथवा हे 'आत्मन्! बाहरी पदार्थो से रक्षित होने की तेरी आशा व्यर्थ है। कोई किसी को कर्मभोग से बचा सके–ऐसा वस्तु स्वरूप ही नही है। तू अपने आपमें पूर्ण है। निजबल के विकास के द्वारा ही कष्टसागर से पार पहुँच सकता है। अतः हे आत्मन्! तू अपने-आपमें स्थित हो जा। वीतराग-वचन मार्ग-प्रदर्शन कर रहे है'......आदि विचारों का अभ्यास।), ३ एकत्वानुप्रेक्षा (=जन्म-मरण में और शुभ अशुभ भवरूपी भँवर में अकेले का ही गमन होता है। अतः अकेले से ही आत्मा का हित करना योग्य है अथवा हे आत्मन्! तू अपनी वृत्तियों को अनेकधा क्यों बना रहा है! तू अकेला है-एक है; अतः इन वृत्तियों को अपने से बाहर मत जाने दे। आत्मा ही

कर्त्ता है। आत्मा ही भोक्ता है....आदि अकेलेपन के आत्मावलम्वी विचारो का अभ्यास करना।) और ४ संसारानुप्रेक्षा (=जीव ने सभी जीवो के साथ सभी तरह के सम्बन्ध किये है। जीव माता होकर पुत्री, पत्नी होकर बहिन, पुत्र होकर पिता और पिता होकर पुत्र-इस संसार में हो जाता है...आदि संसार के स्वरूप सम्बन्धी विचारो का अभ्यास करना)।

**सुक्कज्झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते। तं जहा-पुहुत्तवियक्के सवियारी १, एगत्तवियक्के अवियारी २, सुहुमकिरिए अप्पडिवाई ३, समुच्छिन्नकिरिए अनियट्टी ४।**

शुक्लध्यान चार-चार भेदों से युक्त चार समवतार वाला कहा गया है। यथा-शुक्लध्यान के चार प्रकार १ पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी (=अर्थादि में योगों के विचरण से युक्त भेद सहित वितर्क-विकल्प अर्थात् ऐसा ध्यान जिसमें एक द्रव्य के आश्रित उत्पाद आदि पर्यायों के भेद से युक्त, पूर्वगत श्रुत के आलम्बन से विविध नयों का अनुसरण करने वाला विकल्प हो और अर्थ से व्यंजन में और व्यजन से अर्थ मे तथा मन आदि योगो का एक से दूसरे में विचरण हो), २ एकत्व-वितर्क अविचारी (=शब्दार्थ और योगो के निज-संक्रमण से रहित अभेद-विकल्प अर्थात् ऐसा ध्यान, जिसमें किसी भी एक योग में स्थित ध्याता का, भेद से रहित-द्रव्य के एक पर्याय का अनुसरण करनेवाला,-पूर्वगत शब्द या अर्थ रूप विकल्प हो।), ३ सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती (=निर्वाण काल के समय,

योग-निरोध करते हुए, अर्द्धनिरुद्ध काययोग की स्थिति में, उन्नति की गतिशील उर्ध्वमुखी अवस्था।) और ४ समुच्छिन्न-क्रिया अनिवर्ती (=तीनों योगों के निरुद्ध हो जाने पर शैलेश-सी निष्कम्प-निष्क्रिय स्थिति, जहां से फिर लौटना नहीं होता है।)

**सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तंजहा-विवेगे १, विउसग्गे २, अव्वहे ३, असम्मोहे ४।**

शुक्लध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। यथा-१ विवेक (=देह से आत्मा का और आत्मा से सभी संयोगिक पदार्थों का, बुद्धि से पृथक्करण), २ व्युत्सर्ग (=निःसंगता से देह और उपधि का त्याग), ३ अव्यथा (=देवादि के उपसर्ग से चलित नहीं होना-पीडा का आत्मा पर असर नहीं होने देना) और ४ असंमोह (=देवादिकृत माया और जिनप्रणीत सूक्ष्म पदार्थों के विषयों में मुग्ध नहीं होना अर्थात् भ्रांत नहीं होना)।

टिप्पण-कभी कभी ध्यान करते समय-जब कि ध्यान में कुछ स्थिरता आने लगती है, तब-पांचों इन्द्रियों के लिये लुभावने दृश्य खड़े हो जाते है, संभवतः उन्हें 'सूक्ष्मपदार्थविषय' कहा गया हो या दूरश्रवण आदि शक्तियों को यह संज्ञा प्रदान की गई हो।

**सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता तंजहा--खंती १, मुत्ती २, अज्जवे ३, मद्दवे ४।**

शुक्लध्यान के चार आलम्बन कहे गये हैं। जैसे–१ क्षान्ति (=अक्रोध–सहिष्णुता), २ मुक्ति (=निर्लोभता), ३ आर्जव (=कपट-त्याग) और ४ मार्दव (=मानत्याग)।

**सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ। अवायाणुप्पेहा १, असुभाणुप्पेहा २, अणंत-वत्तियाणुप्पेहा ३, विप्परिणामाणुप्पेहा ४। से तं झाणे।**

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ (=चिन्तन प्रणालियां) कही गई हैं। यथा–१ अपायानुप्रेक्षा (=आत्मा में कर्म-प्रवेश से होनेवाले अनर्थों का वार वार चिन्तन), २ अशुभानुप्रेक्षा (=संसार की अशुभता का पुनः पुनः चिन्तन), ३ अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा (=भव-परम्परा के अनन्त चक्र का चिन्तन) और ४ विपरिणामानुप्रेक्षा (=प्रतिक्षण पलटते हुए वस्तु के विविध परिणामों के चिन्तन का अभ्यास)। यह ध्यान(का स्वरूप) है।

**से किं तं विउस्सग्गे?–विउस्सग्गे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–दव्वविउस्सग्गे भावविउस्सग्गे य।**

व्युत्सर्ग (=आत्मा से भिन्न पदार्थों का त्याग) किसे कहते है?–व्युत्सर्ग के दो भेद कहे गये हैं–१ द्रव्यव्युत्सर्ग और २ भावव्युत्सर्ग।

**से किं तं दव्वविउस्सग्गे?–दव्वविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–सरीरविउस्सग्गे १, गणविउस्सग्गे २, उवहिविउस्सग्गे ३, भत्तपाणविउस्सग्गे ४। से तं दव्वविउस्सग्गे।**

द्रव्यव्युत्सर्ग (=आत्मा से भिन्न द्रव्यो का त्याग) किसे कहते है ?—द्रव्यव्युत्सर्ग के चार भेद कहे गये है। जैसे—१ शरीरव्युत्सर्ग (=शरीर का और देह की ममता के वर्धक साधनों का त्याग), २ गणव्युत्सर्ग (=गण का और गण के मिथ्याभिमान-वर्धक साधनों का त्याग), ३ उपधिव्युत्सर्ग (=साधन-सामग्रियों का और उनको मोहक बनाने के साधन आदि का त्याग) और ४ भक्तपानव्युत्सर्ग (=आहार-पानी का और उनकी आसक्ति का त्याग)। यह द्रव्यव्युत्सर्ग का स्वरूप है।

**से किं तं भाव-विउस्सग्गे ?—भाव-विउस्सग्गे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—कसायविउस्सग्गे १, संसारविउस्सग्गे २, कम्म-विउस्सग्गे ३।**

भावव्युत्सर्ग (=आत्मभाव से भिन्न भावो का त्याग) किसे कहते है ?—भावव्युत्सर्ग के तीन भेद कहे गये है। जैसे—१ कषायव्युत्सर्ग, २ संसारव्युत्सर्ग और ३ कर्मव्युत्सर्ग।

**से किं तं कसायविउस्सग्गे ?—कसायविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—कोह-कसाय-विउस्सग्गे १, माण-कसाय-विउस्सग्गे २, माया-कसाय-विउस्सग्गे ३, लोह-कसायविउ-स्सग्गे ४। से तं कसाय-विउस्सग्गे।**

कषायव्युत्सर्ग किसे कहते है ?—कषायव्युत्सर्ग (=आत्म-भाव से भिन्न आवेशात्मक भावों के त्याग) के चार भेद कहे

गये है। यथा-१ क्रोध कषाय व्युत्सर्ग २ मान क० ३ माया (=छल कपट) और ४ लोभ कषाय व्युत्सर्ग। यह कषाय-व्युत्सर्ग का स्वरूप है।

**से किं तं संसारविउस्सग्गे ? -संसारविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-नेरइय-संसार-विउस्सग्गे १, तिरिय-संसार-विउस्सग्गे २, मणुय-संसार-विउस्सग्गे ३, देव-संसारविउस्सग्गे ४। से तं संसारविउस्सग्गे।**

संसारव्युत्सर्ग (=आत्म दशा से विपरीत परिणति का त्याग) किसे कहते है ? ससारव्युत्सर्ग के चार भेद कहे गये हैं। यथा-१ नैरयिक संसारव्युत्सर्ग (=नरकगति के बन्ध के कारणों, का त्याग), २ तिर्यञ्च संसार व्युत्सर्ग (=आत्मा के तिर्यञ्च अवस्था में परिणत होने के कारणादि का त्याग ३ मनुष्य संसार व्युत्सर्ग (=मनुष्यगति के बन्ध के कारणों का त्याग) और ४ देव संसार व्युत्सर्ग (देवगति के बंध के कारणो का त्याग)। यह संसारव्युत्सर्ग का स्वरूप है।

**से किं तं कम्मविउस्सग्गे ?-कम्मविउस्सग्गे अट्ठविहे पण्णत्ते तंजहा-णाणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे १, दरिसणावरणिज्ज-कम्मविउस्सग्गे २ वेयणीयकम्मविउस्सग्गे ३, मोहणीय-कम्मविउस्सग्गे ४, आऊयकम्मविउस्सग्गे ५, णामकम्म-विउस्सग्गे ६, गोयकम्मविउस्सग्गे ७, अंतराय कम्म-विउस्सग्गे ८। से तं कम्म विउस्सग्गे। से तं विउस्सग्गे।**

कर्मव्युत्सर्ग (आत्मा के बन्धक भावों का त्याग) किसे कहते हैं?–कर्मव्युत्सर्ग के आठ भेद कहे गये हैं। जैसे–१ ज्ञानावरणीय कर्म व्युत्सर्ग (–ज्ञानगुण के आवरण रूप में कर्मपुद्गलों का जीव प्रदेशो के साथ सम्बन्धित होजाने के कारणों का त्याग), २ दर्शनावरणीयकर्म व्युत्सर्ग (सामान्य ज्ञान गुण के आवरण रूप में, कर्मपुद्गलो का जीवप्रदेशों के साथ बँध जाने के कारणो का त्याग), ३ वेदनीय कर्म व्युत्सर्ग (=साता असाता की वेदना के कारण रूप कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ बद्ध होने के हेतुओं का और साता-असाता से आत्म-अभेदता की प्रतीति का त्याग), ४ मोहनीय कर्म व्युत्सर्ग (=स्व-प्रतीति और स्वभाव-रमण में बाधक कर्म-पुद्गलों का जीव के साथ वद्ध होने के हेतुओं का त्याग), ५ आयुष्य कर्म व्युत्सर्ग ( =जीव की अमरत्व शक्ति के बाधक कर्मपुद्गलों का जीव के साथ वद्ध होने के हेतुओ का और उस कर्म के उदय से होनेवाली अवस्थाओं में अपनेपन के भान का त्याग),६ नाम कर्म व्युत्सर्ग ( =आत्मा के अमूर्तता-गुण को विकृत करनेवाले कर्म पुद्गलो का जीव से बद्ध होने के कारणों का और उस कर्म के उदय से होनेवाली दशाओं में अपनेपन की भ्रान्ति का त्याग), ७ गोत्र-कर्म-व्युत्सर्ग ( =जीव के अगुरु लघु-न हलकापन और न भारीपन रूप-गुण को विकृत करनेवाले कर्मपुद्गलो के जीव के साथ बद्ध होने के कारणों का और उस कर्म के उदय से होनेवाली दशाओं

में अपनेपन की भ्रान्ति का त्याग) और ८ अंतरायकर्म व्युत्सर्ग (=जीव के अनन्त शक्ति गुण को सीमित करनेवाले कर्म-पुद्गलो का जीव से बद्ध होने के कारणों का त्याग)। यह कर्मव्युत्सर्ग है। यह भावव्युत्सर्ग का स्वरूप है।

टिप्पण-योग के पहले अंग 'यम' को छोड़कर, शेष २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम (=प्राण+आयाम=प्राणों का व्यायाम अर्थात् श्वास-उच्छ्वास के नियमन के द्वारा मानसिक और कायिक शिथिलीकरण की साधना), ५ प्रत्याहार (=प्रति+आहार=विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों को रोकना), ६ धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधि—इन सप्तांगों का समावेश दोनों प्रकार के तपों में हो सकता है। किन्तु जैनशासन में प्राणायाम अंग, जिस रूप में योग ग्रंथों में वर्णित है, उस रूप में मान्य नहीं है। क्योंकि प्राण-निरुंधन से आर्तता उत्पन्न होती है और वहिर्दृष्टि का भी आविर्भाव होजाता है। काय-प्रतिसंलीनता और ध्यानासन में श्वास की सहज गति में ही ध्यान लगाना विहित है। उसका भी अलग से विधान नहीं है। क्योंकि एकाग्रतापूर्वक अनुप्रेक्षादि की साधना करते हुए, प्राण की गति स्वभावतः ही अनुलोम हो जाती है। योगांगों की अपेक्षा इनमें विशेषता भी है। योगांगों में दोषों की शुद्धि के लिये स्पष्टरूप से विधान नहीं हैं। उनमें व्यक्ति के निज के प्रति किये जानेवाले व्यवहारों पर ही अधिक जोर देते हुए, ध्यान के विकास का मार्ग ही सूचित किया है। किन्तु इस तपोवर्णन में जीवन के समस्त व्यवहारों को ही तपरूप से परिवर्तित कर देने की विधि बतलाई गई है। जिससे साधना समस्त जीवन-स्पर्शी और सर्वकालिकी होकर, साध्य से सहज ही मिला दे। अर्थात् इस तपोविधान का यही ध्येय है कि साधक पलभर के लिये भी साध्य-भान से मुक्त होकर, तप से शून्य न बने।

व्युत्सर्ग तप में ममकार-त्याग का चरम विकास हुआ है। इसकी व्याख्या सब तप के अन्त में हुई है। शास्त्रकार कहीं-कहीं ऐसी शैली का अवलम्बन लेते है, कि-जिसमें व्याप्यभावों का वर्णन पहले और व्यापक भावों का वर्णन बादमें आता है। जैसे पञ्च-परमेष्ठी के वर्णन में अन्त में साधुपद; सम्यक्त्व के लक्षणों में अन्त में आस्तिक्य लक्षण। जिस प्रकार साधुत्व के बिना आचार्यत्व-उपाध्यायत्व नहीं आ सकता है और न अर्हद्-दशा एवं सिद्ध दशा ही प्राप्त हो सकती हैं तथा आस्तिक्य के बिना प्रशमादि की वास्तविक स्वरूप में प्राप्ति ही नहीं हो सकती है, आते भी है तो स्थिर नहीं रह सकते है। उसी प्रकार व्युत्सर्ग के अभाव में कोई भी तप, मुक्तिमार्ग के अनुकूल साधना संभव नहीं है। अतः तप का सार व्युत्सर्ग है। क्योंकि व्युत्सर्ग की साधना सम्पूर्ण होनें पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। व्युत्सर्ग की साधना से साधक परमोज्ज्वल दशा को प्राप्त कर लेता है।

भगवान् महावीर के शिष्यों का जीवन तप की सुवासना से सुवासित था।

## अनगारों की सक्रियता

**२१—ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अणगारा भगवंतो—**

उस काल और उस समय में (=जब चम्पा में पधारे थे तब) श्रमण भगवान् महावीर के (साथ) बहुत से अनगार भगवन्त थे।

**अप्पेगइया आयारधरा जाव विवागसुयधरा + ।**

---

+ क्वचिद् दृश्यते-तत्थ तत्थ तहिं तहिं गच्छागच्छि गुम्मागुम्मि फड्डाफड्डि च।

उनमें कई आचारश्रुत के धारक यावत् विपाकश्रुत के धारक थे। अर्थात् आचारांग से लेकर विपाकश्रुत तक ग्यारह अंगों के धारक थे।

**अप्पेगइया वायंति। अप्पेगइया पडिपुच्छंति। अप्पेगइया परियट्टंति। अप्पेगइया अणुप्पेहंति।**

ऐसे उन अनगारों में से, वहां कई वाचना करते थे। कई प्रतिपृच्छा (=प्रश्नोत्तर-शंका समाधान) करते थे। कई पुनरावृत्ति करते थे और कई अनुप्रेक्षा करते थे।

**अप्पेगइया अक्खेवणीओ विक्खेवणीओ संवेयणीओ णिव्वेयणीओ चउव्विहाओ कहाओ कहंति।**

कई आक्षेपणी (=मोह से हटाकर, तत्त्व की ओर आकर्षित करनेवाली), विक्षेपणी (=कुमार्ग से विमुख बनाने वाली), सवेगनी (=मोक्षसुख की अभिलाषा उत्पन्न करनेवाली) और निर्वेदनी (=संसार से उदासीन बनानेवाली)—ये चार प्रकार की धर्मकथाएँ कहते थे।

**अप्पेगइया उड्ढं जाणू अहोसिरा झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।**

कई ऊँचे घुटने और नीचा शिर रखकर, ध्यानरूप कोष्ठ (=कोठे) में प्रविष्ट होकर, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे।

## संसार-सागर में तैरना

**संसार-भउव्विग्गा भीया**

वे संसार के भय से उद्विग्न और डरे हुए थे।

**जम्मण-जर-मरण-करण-गंभीर-दुक्ख-पक्खुब्भिय-पउर-सलिलं**

संसार-सागर जन्म, जरा और मरण के द्वारा उत्पन्न हुए गंभीर दु:ख रूप क्षुभित अपार जलसे भरा हुआ है।

**संजोग-विओग-विची - चिंता-पसंग-पसरिय-वह-बंध -महल्ल-विउल-कल्लोल-कलुण-विलविय-लोभ-कलकलंत-बोल-बहुलं**

उस दु:ख रूप जल में संयोग-वियोग रूप लहरे पैदा होती है। वे तरंगें चिन्ता-प्रसगों से फैलती है। वध और बन्धन रूप बड़ी मोटी कल्लोले है; जो कि करुण विलाप और लोभ रूप कलकलायमान ध्वनि की अधिकता से युक्त है।

**अवमाणण-फेण-तिव्व-खिंसण-पुलंपुल- प्पभूअ-रोग - वेयण-परिभव-विणिवाय-फरुस -धरिसणा-समावडिय -कढिण-कम्म-पत्थर-तरंग-रंगंत - निच्च -मच्चुभय तोयपट्ठं- कसाय-पायाल-संकुलं**

भवसागर में भरे हुए दु:ख रूप जल का ऊपरी भाग नित्य मृत्युभय है। वह तिरस्कार रूप फेन से फेनिल रहता है। क्योंकि तीव्र निन्दा, निरन्तर होनेवाली रोग-वेदना, पराभिभव के सम्पर्क, कठोर वचन और भर्त्सना से बद्ध-मजबूत बने हुए

कर्मोदय रूप कठिन पत्थरों पर (संयोग-वियोगादि रूप) तरंगे टकराती रहती है। भवसागर चार कषाय रूप पाताल कलशों से (अथवा तले की भूमि से) व्याप्त है।

**भव-सय-सहस्स-कलुस-जल-संचयं पइभयं**

संसार सागर में सेकड़ो–हजारो लाखों भवों के कलुष (=पाप) जल संचय (=जल-राशि की वृद्धि के कारणों से युक्त) है। वह प्रत्यक्ष भयङ्कर है।

**अपरिमिय-महिच्छ-कलुस-मइ-वाउ-वेग- उद्धुम्म - माण-दग-रय-रयंधयार-वर-फेण-पउर-आसा-पिवास-धवलं**

संसारसागर अपार महेच्छा से मलिन बनी हुई मति रूप वायु के वेग से ऊपर उठते हुए जलकणों के समूह के वेग (=रय=आवेश) से अन्धकार युक्त और (वायु वेग से उत्पन्न होते हुए) सुन्दर (अवमाननादि रूप) फेन से छाई हुई (या फेन के सदृश) आशा (=अप्राप्त पदार्थो के प्राप्ति की संभावना) और पिपासा (=अप्राप्त पदार्थों के प्राप्ति की आकांक्षा) से धवल है। इसलिये–

**मोह-महावत्त-भोग,भममाण-गुप्पमाणुच्छलंत -पच्चोणियत्त-पाणिय-पमाय-चंड-बहुदुट्ठ-सावय -समाहउद्धायमाण-पब्भार-घोर-कंदिय-महारव-रवंत-भेरव-रवं।**

(ससारसागर) में मोह रूप बड़े बड़े आवर्त है। आवर्त में भोग रूप भँवर (=पानी के गोल घुमाव) उठते हैं। अतः

दुःख रूप पानी चक्कर लेता हुआ, व्याकुल होता हुआ, ऊपर उछलता हुआ और नीचे गिरता हुआ दिखाई देता है। वहाँ प्रमाद रूप भयंकर एवं अतिदुष्ट जलजन्तु हैं। जल के उठाव गिराव और जल जन्तुओं से घायल होकर, इधर उधर उछलते हुए (क्षुद्र जीवों के) समूह हैं, जो क्रन्दन करते रहते हैं। इस प्रकार संसारसागर गिरते हुए दुःख रूप जल, प्रमाद रूप जलजन्तु और आहत संसारी जीवों के प्रतिध्वनि सहित होते हुए महान् कोलाहल रूप भयानक घोष से युक्त है।

**अण्णाण-भमंत-मच्छ-परिहत्थ-अणिहुयिंदिय-महामगर-तुरिय चरिय- खोखुब्भमाण- नच्चंत-चवल-चंचल -चलंत- घुम्मंत- जल-समूहं**

संसारसागर में भमते हुए अज्ञान रूपी चतुर मत्स्य हैं और अनुपशान्त इन्द्रियाँ रूप महामगर हैं। ये (मत्स्य-मगर) जल्दी-जल्दी हलन-चलन करते हैं। जिससे (दुःख रूप) जल समूह क्षुभित होता है—नृत्य-सा करता हुआ चपल है—एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता हुआ एवं घूमता हुआ चञ्चल है।

**अरइ-भय-विसाय-सोग मिच्छत्त-सेल-संकडं**

अरति (=अरुचि—सयम स्थानों में निरानन्द का भाव), भय, विषाद, शोक और मिथ्यात्व (=मिथ्याभाव=कुश्रद्धा) रूप पर्वतों से भवसागर व्याप्त है।

**अणाइ-संताण-कम्म-बंधण-किलेस-चिक्खिल-सुदुत्तारं**

वह भवसागर अनादि कालीन प्रवाहवाले कर्मबन्धन और क्लेश रूप कीचड़ से अति ही दुस्तर बना हुआ है।

**अमर-नर-तिरिय-निरय-गइ-गमण-कुडिल-परिवत्त-विउल-वेलं**

वह देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गति में गमन रूप कुटिल परिवर्तन (भँवर) से युक्त विपुल ज्वारवाला है।

**चउरंत-महंत-मणवदग्गं + रुद्दं संसारसागरं**

चार गतिरूप चार अन्त (=दिशा) वाला महान्, अनन्त और विस्तीर्ण (या रौद्र) संसारसागर है।

**भीमदरिसणिज्जं तरंति धीई-धणिय-निप्पकंपेण तुरिय चवलं संवर-वेरग्ग-तुंग-कूवय-सुसंपउत्तेणं णाण-सित-विमल-मूसिएणं समत्त-विसुद्ध-लद्ध-णिज्जामएणं धीरा संजमपोएण सीलकलिया।**

वे धीर और शीलवान् अनगार, भयंकर दिखाई देनेवाले संसारसागर को संयम रूपी जहाज से शीघ्रगति से पार कर रहे थे। वह संयमयान धैर्यरूप रस्सी के बन्धन से बिलकुल निष्कम्प बना हुआ था। संवर (=हिंसादि से विरति) और वैराग्य (=कषायनिग्रह) रूप ऊँचा कूपक (=मस्तूल, स्तम्भ विशेष) उस संयम पोत में सुन्दर ढंग से जुड़ा हुआ था। उस यान में ज्ञान रूप सफेद विमल वस्त्र ऊँचा किया हुआ (=तना हुआ) पाल था। विशुद्ध सम्यक्त्व रूप निर्यामक (=कर्णधार या कप्तान) प्राप्त हुआ था।

---

+ टीकायां 'रुंदं' इति पाठः।

पसत्थ-ज्झाण-तव-वाय-पणोल्लिअ-पहाविएणं

वह संयमपोत प्रशस्त ध्यान और तपरूप वायु की प्रेरणा से शीघ्रगति से चलता था।

उज्जम-ववसाय-ग्गहिय-निज्जरण-जयण-उवओग-*णाण-दंसण-विसुद्ध-वय-भंड-भरिय-सारा

उसमे उद्यम (=अनालस्य) और व्यवसाय (=वस्तुनिर्णय या सद्व्यापार) से गृहीत (=क्रीत=खरीदे हुए) निर्जरा, यतना, उपयोग, ज्ञान, दर्शन और विशुद्ध व्रत रूप सार पदार्थ भाण्ड (=क्रयाणक), अनगारो द्वारा भरे गये थे।

जिणवर-वयणोवदिट्ठ-मग्गेणं अकुडिलेण सिद्धि-महा-पट्टणाभिमुहा समण-वर-सत्थवाहा

जिनवर (=राग द्वेष से रहित व्यक्तियो में श्रेष्ठ) के वचनों से उपदिष्ट मार्ग के द्वारा, वे श्रेष्ठ श्रमण सार्थवाह सिद्धि रूप महापट्टण (=बड़े बन्दरगाह) को ओर मुख रखकर सीधो गति से संयम पात के द्वारा जा रहे थे।

सुसुइ-सुसंभास-सुपण्ह-सासा

वे सम्यक्श्रुत (=सत्सिद्धान्त ग्रन्थ), सुसंभाषण, सुप्रश्न और शोभन आशावाले थे अथवा सम्यक्श्रुत, सुसंभाषण और सुप्रश्न के द्वारा शिक्षा के दाता थे।

गामे गामे एगरायं, नगरे नगरे पंचरायं दूइज्जंता जिइंदिया

---

* 'णाण-दंसण-चरित्त-विसुद्ध-वर-भंड-भरिय-सारा'—इति पा०।

णिब्भया गयभया, सचित्ताचित्त-मीसिएसु दव्वेसु विरागयं गया संजया विरया + मुत्ता लहुया णिरवकंखा साहू णिहुया चरंति धम्मं ।

वे अनगार, गाँवों में एक रात्रि और नगरों में पांच रात्रि तक निवास करते हुए, जितेन्द्रिय (=इन्द्रियों को जीतने वाले), निर्भय (=भय मोहनीय के उदय को रोकने वाले), गत भय (=भय के उदय को निष्फल करनेवाले) होकर, सचित (=जीव सहित), अचित्त (=निर्जीव) और मिश्र (=सजीव और निर्जीव अंश वाले) द्रव्यो में वैराग्यवान, संयत (=सम्यक् यत्न वाले), विरत (=हिंसादि से निवृत्त), मुक्त (=ग्रन्थि रहित-अनासक्त), लघुक (=हलके, अल्प उपधिवाले), निरव-कांक्ष (=अप्राप्त पदार्थ की आकाक्षा से रहित), साधु (=मोक्ष के साधक) और निभृत (=प्रशान्त वृत्तिवाले होकर, धर्म का आचरण करते थे ।

टिप्पण—इस सूत्रमें संसार सागर का और उसे तैरने का सांगोपांग वर्णन किया गया है। पहले सूत्रों में जितेन्द्रियादि विशेषण आ चुके हैं। पुनः इस सूत्र में भी ये विशेषण आये हैं। किन्तु इसे पुन-रुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए। क्यों कि यह अनगार के गुणों का कीर्तन है। गुणवर्णन या स्तुति आदि में पुनः पुनः गुणवर्णन दूषण नहीं माना जाता है। जैसा कि कहा है—

> सज्झाय-झाण—तव—ओसहेसु, उवएस थुइ—पयाणेसु ।
> संत—गुण—कित्तणासु य, न हुंति पुनरुत्त दोसा उ ॥ (टीका)

---

+ संचयाओ विरया

दूसरी बात, कहीं श्रमणत्व गुणके व्याख्यान में तो कहीं स्थविरों के लक्षणों के कथन में ये विशेषण आये हैं। अतः थोडा बहुत अर्थ में अन्तर अवश्य रहता है और भिन्न व्यक्तित्वों के विषय में कथन होने से भी पुनरुक्ति दोष नहीं माना जा सकता है।

## देवों का आगमन

**२२—ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे असुरकुमारा देवा अंतिअं पाउब्भवित्था।**

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के समीप बहुत से असुरकुमार देव प्रकट हुए।

## देवों का शरीर और शृङ्गार

**काल-महाणील-सरिस-णील-गुलिय-गवल-अयसि-कुसुमप्पगासा**

उनका वर्ण—काली महानील मणि के समान था और नीलमणि, गुलिका, भैंसे के सींग और अलसी के फूल के समान दीप्ति थी।

**वियसिय-सयपत्तमिव पत्तल-निम्मल-ईसिं-सितरत्त-तंब णयणा गरुलायत-उज्जु-तुंग-णासा**

विकसित शतपत्र (=कमल) के समान निर्मल पक्ष्मल (=बरौनीवाले) कुछ-कुछ सफेद, लाल और ताम्रवर्णवाले

उनके नयन थे। उनकी नासिका गरुड़ की नाक-सी लम्बी, सीधी और ऊँची थी।

**उअचिअ-सिल-प्पवाल-बिंबफल-सण्णिभाहरोट्ठा।**

संस्कारित शिला प्रवाल और बिम्बफल के समान लाल अधरोष्ठ थे।

**पंडुर-ससि-सकल-विमल-णिम्मल संख गोक्खीर-फेण-दगरय मुणालिया-धवल-दंत सेढी**

उनके दांतो की पङ्क्ति निष्कलङ्क चन्द्र के टुकड़े, निर्मल शंख, गाय के दूध, फेन, जलकण और कमलनाल के समान सफेद थी।

**हुयवह णिद्धंत-धोय-तत्त-तवणिज्ज-रत्त-तल-तालु-जीहा अंजण घण- कसिण-रुयग-रमणिज्ज-णिद्धकेसा**

उनके हाथ-पैर के तलवे, तालु और जीभ, अग्नि से निर्मल बने हुए तपे हुए स्वर्ण के समान लाल थे। अञ्जन और मेघ के समान काले और रुचक मणि के समान रमणीय और स्निग्ध बाल थे।

**वामेग कुंडलधरा अद्दचंदणाणुलित्त गत्ता।**

उनके बाये कानमे एक-एक कुण्डल था। उनके शरीर पर चन्दन का गीला लेप लगा हुआ था।

**ईसिं-सिलिंध-पुप्फ-प्पगासाइं सुहुमाइं असंकिलिट्ठाइं वत्थाइं पवर-परिहिया।**

वे शिलिध्रा पुष्प के समान दीप्तिवाले कोमल-पतले और दूषण रहित वस्त्रों को उत्तम ढग से पहने हुए थे।

टिप्पण–यहां मूल में 'सिलिंध' शब्द है। जिसका अर्थ टीकाकार ने 'ईषत् सित्' अर्थात् 'कुछ सफेद' किया है। और मतान्तर में 'असुरेसु होंति रत्ता' ऐसा दिया है सो यह पाठ पन्नवणा सूत्र के दूसरे पद का है जिसका अर्थ टीकाकार ने 'इषत् रक्तानि' अर्थात् 'साधारण लाल' बताया है। यह लाल वस्त्र अर्थ ठीक मालूम पडता है।

**वयं च पढमं समइक्कंता, वितियं च वयं असंपत्ता, भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा।**

वे पहली वय (=बाल अवस्था) से पार पहुँचते हुए और दूसरी वय (=यौवन अवस्था) को नहीं पाये हुए–भद्र-यौवन (=कुमार अवस्था) में स्थित थे।

टिप्पण–वय के विषय में टीकाकार ने निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है– आषोडशाद्भवेद्बालो, यावत क्षीरान्ननिवर्तकः।
मध्यमः सप्तति यावत्, परतो वृद्ध उच्यते॥

अर्थात् १६ वर्ष की वय तक बाल, ७० वर्ष की वय तक मध्यम और इसके बाद वृद्ध अवस्था कही जाती है।

**तलभंगय-तुडीय-पवर-भूसण-निम्मल-मणि-रयण-मंडिय-भुया (दस-मुद्दा मंडियग्ग-हत्था)**

उनकी भुजाएँ मणिरत्नो मे बने हुए अति श्रेष्ठ तल भंगक (=बाहु के आभरण), त्रुटिका (=बाहु=रक्षिका या तोड़े) और निर्मल भूषणो से सुशोभित थीं। दसों अंगुलियों में पहनी हुई अगुठियों से उनके हाथ सुशोभित थे।

**चूलामणि चिंधगया**

उनके चूडामणि (=शिरोमणि) रूप में चिन्ह थे अर्थात् उनके मुकूट में चूड़ामणि का चिन्ह था।

**सुरूवा महिड्ढिया महज्जुइया महब्बला महायसा महासोक्खा महाणुभागा**

वे सुरूप, महर्द्धिक (=विशिष्ट भवन परिवारादि वाले) महती द्युति के धनी, महाबली, महासौख्य के स्वामी और महानुभाग (=अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न) थे।

***(हार विराइय वच्छा कडग-तुडिय थंभिय-भुया अंगय-कुंडल-मट्ठ-गंडतल-कण्ण-पीढ-धारी विचित्त वत्थाभरणा विचित्त-माला-मउलि-मउडा कल्लाण-कय-पवर-वत्थ-परिहिया कल्लाण-कय-पवर-मल्लाणुलेवणा भासुरबोंदी पलंब वण मालधरा)**

उनके वक्षस्थल हार से सुशोभित थे। उनकी भुजाएँ कंकणों और बाहुरक्षिका से स्तंभित (=स्थिर) बन रही थी। वे भुजबंध, कुण्डल, सुन्दर स्वच्छ कपोल या कस्तुरी से चित्रित गण्डस्थल वाले और कर्णपीठ (=कान के आभूषण) के धारक थे। उनके वस्त्राभरण या हस्ताभरण विचित्र थे। उनके मस्तकों पर विचित्र पुष्पमालाओं से युक्त मुकुट थे।

---

* ( ) इस कोष्टक गत पाठ को टीकाकार ने गमान्तर का बतलाया है।

वे कल्याणकारी श्रेष्ठ फूलों और विलेपनों से युक्त, झुलती हुई मालाओं और सभी ऋतुओं के पुष्पों से बनी हुई घुटनों तक लटकती हुई मालाओ से विभूषित प्रकाशमान् देह वाले थे।

**दिव्वेणं वण्णेणं, दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढिए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिअं आगम्मागम्म, रत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ।**

वे देव दिव्य वर्ण, दिव्य गन्ध, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श, दिव्य संहनन (=शारीरिक गठन), दिव्य संस्थान (=आकार), दिव्य ऋद्धि, दिव्य युक्ति (=विवक्षित अर्थ के योग से), दिव्य प्रभा, दिव्य छाया (=कान्ति), दिव्य अर्चि (=शरीरस्थ रत्नादि की तेजोज्वाला), दिव्य तेज और दिव्य लेश्या (=शारीरिक वर्ण) से दशो दिशाएँ प्रकाशित करते हुए-शोभायमान करते हुए, भगवान् महावीर के समीप में आ-आकर, अनुराग सहित श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा करते थे।

टिप्पण—यहाँ देवों में 'दिव्य संहनन' कहा है, उसका आशय यहाँ पर यह है—हड्डियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं। देवों का शरीर

वैक्रिय होने से उसमें हड्डियाँ नहीं होती हैं। अतः यहाँ हड्डियों की रचना रूप संहनन नहीं समझना चाहिए, किन्तु उनकी शक्ति विशेष की अपेक्षा शरीर की दृढता होने से संहनन की तरह दिखाई देने से 'दिव्य संहनन' बतलाया है। टीकाकार ने 'वज्र ऋषभनाराच' अर्थ किया है, इसका यही अर्थ समझना चाहिए कि वज्रऋषभनाराच की तरह दृढ़।

**करेत्ता वंदंति णमंसंति। वंदित्ता णमंसित्ता +णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति।**

वन्दना नमस्कार करते थे। फिर न अधिक नजदीक न अधिक दूर (स्थित रहकर,) भगवान् की ओर मुख रखकर, विनय सहित दोनों हाथ जोड़कर, पर्युपासना कर रहे थे।

**२३--ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे असुरिंदवज्जिया भवणवासी देवा अंतियं पाउब्भवित्था-णागपइणो सुवण्णा, विज्जू अग्गीया दीवा उदही दिसाकुमारा य पवण-थणिया य भवणवासी। णागफडा-गरुल-वयर-पुण्णकलस-सीह-×हय-गय-मगर-मउड-वद्धमाण-णिजुत्त-विचित्त-चिंधगया *सुरूवा महिड्ढिया**

---

+ वाचनान्तरे दृश्यते—साइं साइं नाम गोयाइं सावित्ति।

× टीकायां दृश्यते—'हयवर, गयङ्क मयरंक वरमउड'—इति।

* इह सूत्रे 'पुण्णकलस संकिण्ण उप्फेस सीहे' त्येवं क्वचिद् विशेषो दृश्यते।

सेसं तं चेव जाव पज्जुवासंति।

उस काल और उस समय में, श्रमण भगवान् महावीर के समीप, असुरेन्द्र को छोड़कर, अन्य बहुत से नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधि-कुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार और स्तनितकुमार जाति के भवनवासी देव प्रकट हुए। उनके यथा स्थान से विचित्र (=विविध) चिन्ह नियुक्त थे; यथा-१ नागफण, २ गरुड, ३ वज्र, ४ पुण्यकलश, ५ सिंह, ६ अश्व, ७ हाथी, ८ मगर, और ९ वर्द्धमानक (=शराव) चिन्ह से अङ्कित मुकुट थे। वे सुरूप, महर्द्धिक आदि असुरकुमार देवों के वर्णन के समान है, यहां तक-'पर्युपासना कर रहे थे'।

२४--तेणं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वहवे वाणमंतरा देवा अंतियं पाउब्भवित्था।

उस काल और उस समय में, श्रमण भगवान् महावीर के समीप, बहुत से वाणव्यन्तर देव प्रकट हुए।

पिसाया १, भूया य २, जक्ख ३, रक्खस ४, किंनर ५, किंपुरिस ६, भुयगवइणो य महाकाया ७, ‡गंधव्वणिकाय-गणा णिउणगंधव्वगीयरइणो ८, अणपणिय ९, पण-पण्णिय १०, इसिवाईय ११, भूयवाईय १२, कंदिय १३, महाकंदिया य १४, कुहंड १५, पयए य १६, देवा।

‡ गंधव्व पइ गणा-पा०

वाणव्यन्तर देव निम्न लिखित जाति के थे–१ पिशाच, २ भूत, ३ यक्ष ४ राक्षस, ५ किन्नर, ६ किंपुरुष, ७ महाकाय महोरग, ८ अति ललित गंधर्व (=नाटच गीत) और गीत (=नाटच वर्जित गेयगीत या संगीत) मे रति (=आसक्ति–प्रीति) रखनेवाले गंधर्वनिकाय(=गंधर्व जाति) के गण, ९ अण-पण्णिय, १० पणपण्णिय, ११ ऋषिवादिक, १२ भूतवादिक, १३ क्रंदित, १४ महाक्रन्दित, १५ कुष्माण्ड और १६ प्रयत देव।

**चंचल-चवल-चित्त-कीलण-दव- प्पिया * गंभीर-हसिय-भणिय-पीय-गीय-णच्चण-रई**

वे देव चञ्चल-चपल (=अति चञ्चल) चित्तवाले, क्रीड़ा और परिहास प्रिय थे। उन्हें गंभीर हास्य और वाणी का प्रयोग प्रिय था। वे गीत और नृत्य म रतिवाले (=आ-सक्त) थे।

**वणमाला मेल-मउड-कुंडल -सच्छंद- विउव्विया-भरण-चारू-विभूसण-धरा सव्वोउय-सुरभि-कुसुम-सुरइय-पलंब-सोहंत-कंत-वियसंत-चित्त-वणमाल-रइय-वच्छा कामगमी कामरूवधारी**

वे वनमाला, फूलों का सेहरा (=आमेलक), मुकुट, कुण्डल, अपनी इच्छा के अनुसार विकुव्वित (=विविध रूप बनाने की शक्ति से निर्मित) अलंकार और सुन्दर आभूषणों

* गहिर-हसिय-गीय-णच्चणरई–पा०।

को पहने हुए थे। सभी ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले सुगन्धित फूलों से सुन्दर ढंग से बनी हुई लम्बी मालाओ और शोभित, कान्त, विकसीत एवं विचित्र वनमालाओं से उनके वक्षस्थल सुशोभित थे। वे इच्छागामी (=जहां जाने का हो, वहां जाने की इच्छा करते ही उस स्थान पर पहुँच जानेवाले या इच्छित स्थान पर जानेवाले) और काम रूपधारी (=इच्छा होते ही रूप को पलटने की शक्तिवाले या इच्छित रूप के धारक) थे।

**णाणाविह-वण्ण-राग-वर-वत्थ-चित्त-चिल्लिय - णियंसणा विविह-देसी-णेवत्थ-ग्गहिय-वेसा**

वे नाना भाँति के वर्ण-रगवाले श्रेष्ठ वस्त्र और विविध भडकीले परिधान (=पहनावा) के धारक थे। विविध देशारूढ वेश-भूषाएँ, उन्होंने ग्रहण कर रखी थी।

**पमुइय-कंदप्प-कलह-केलि-कोलाहल-प्पिया हास-बोल-बहुला +**

वे प्रमुदित कन्दर्प (=काम प्रधान क्रीड़ा), कलह (=राटी-राग), केलि (क्रीड़ा) और कोलाहल में प्रीति रखने वाले थे। वे बहुत हँसनेवाले और अधिक बोलनेवाले थे।

**अणेग-मणि-रयण-विविह-निज्जुत्त-विचित्त-चिंधगया सुरूवा महिड्ढिआ जाव पज्जुवासंति।**

---

+ हास केलि बहुला—पा.।

उनके अनेक मणि-रत्नमय नियुक्त विविध एवं विचित्र चिन्ह थे। वे सुरूप, महर्द्धिक थे—यावत् पर्युपासना करने लगे।

टिप्पण—पहले के आठ जाति के वाणव्यन्तर देवों के चिन्ह—१ कदम्बध्वज, २ सुलस, ३ वट, ४ खट्वांग, ५ अशोक, ६ चम्पक, ७ नाग और ८ तुम्बरी।

२५—ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जोइसिया देवा अंतियं पाउब्भवित्था; विहस्सती चंद सूर सुक्क सणिच्चरा राहू धूमकेतू बुहा य अंगारका य तत्त तवणिज्ज-कणग-वण्णा जे गहा जोइसंमि चारं चरंति।

उस काल और उस समय में भगवान् महावीर के समीप ज्योतिष्क देव प्रकट हुए। बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, शनिश्चर, राहू, धूमकेतु, बुध और अंगारक (=मंगल)—जो कि तपे हुए स्वर्णबिन्दु के समान वर्ण वाले है—एवं वे ग्रह, जो ज्योतिश्चक्र में भ्रमण करते है वे भगवान् महावीर के समीप प्रगट हुए।

टिप्पण—'जे य गहा'...इस सूत्र में 'ज' पद से बृहस्पति आदि नवग्रहों के सिवाय अन्य ग्रहों को ग्रहण किया गया है। (—टी०) क्योंकि मनुष्य लोक में और मनुष्य लोक के बाहर एक एक चन्द्र सूर्य रूप युगल के ८८—८८ ग्रह होते हैं।

केऊ य गइरइया। अट्ठावीसविहा य णक्खत्त-देवगणा। णाणासंठाण-संठियाओ पंचवण्णाओ ताराओ। ठियलेस्सा

चारिणो य अविस्साम-मंडल गई । पत्तेयं णामंक-पागडिय-चिंध-मउडा । महिड्ढिया जाव पज्जुवासंति ।

गतिशील केतु, नाना आकार वाले अट्ठावीस प्रकार के नक्षत्र देवगण और पांचों वर्ण के तारा जाति के देव प्रकट हुए । उनमें स्थित (=गति रहित) रहकर प्रकाश करनेवाले और निरन्तर (=अविश्राम) मण्डलाकार गति से चलनेवालें दोनों तरह के ज्योतिष्क देव थे । प्रत्येक ने स्वनामाङ्कित विमान के चिन्ह से मुकुट धारण किये थे । वे महर्द्धिक थे... यावत् पर्युपासना करने लगे ।

टिप्पण—'धूमकेतु' के अतिरिक्त 'जलकेतु' आदि केतुओं का 'केऊ य गइरइया' पदों के द्वारा उल्लेख किया गया है । 'गइरइया' (=गति में आनन्दानुभव करनेवाले) विशेषण मनुष्य लोक की अपेक्षा से दिया गया है । नक्षत्रों के लिये 'देवगण' विशेषण प्रयोग हुआ है । क्योंकि कई नक्षत्र अनेक ताराओं के समूह के रूप में है । अतः वे नाना संस्थान वाले हैं । यह बात पन्नवणा के दूसरे स्थानपद से भी स्पष्ट होती है ।

२६—ते णं काले णं ते णं समए णं भगवओ महावीरस्स वेमाणिया देवा अंतियं पाउब्भवित्था । सोहम्मीसाण-सणंकुमार-माहिंद-बंभ-लंतक-महासुक्क-सहस्साराणय-पाणया-रण-अच्चुयवई पहिट्ठा देवा ।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के समीप में सोधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लांतक,

महाशुक्र, सहस्त्र, आणत, प्राणत, आरण और अच्युत देव लोको के पति (=इन्द्र) आये। वे सब देव अत्यन्त प्रसन्न थे।

**जिण-दंसणुस्सुगागमण-जणिय-हासा**

वे जिन (=रागद्वेष विजेता तीर्थङ्कर भगवान्) के दर्शन पाने को उत्सुक और आगमन से उत्पन्न हुए हर्ष से युक्त थे।

**पालक-पुप्फक-सोमणस-सिरिवच्छ-णंदियावत्त-कामगम-पीइगम-मणोगम-विमल-सव्वओभद्द-णामधिज्जेहिं विमाणेहिं ओइण्णा वंदका जिणिंदं।**

वे जिनेन्द्र के वन्दक (=वन्दना करनेवाले) देव १ पालक २ पुष्पक ३ सोमनस ४ श्रीवत्स ५ नन्द्यावर्त ६ कामगम ७ प्रीतिगम ८ मनोगम ९ विमल और १० सर्वतोभद्र नाम के विमानों से अवतीर्ण हुए (=जमीन पर आये)।

टिप्पण—बारह देवलोक के दस इन्द्र मानें गयें है। पालक आदि जो दस विमानों के नाम ऊपर वताये गये है, वे इन दस इन्द्रों के क्रमशः यान विमान है, जिनका अर्थ है जाने आने के लिए काम में आने वाले विमान।

**मिग-महिस-वराह-छगल-दद्दुर-हय-गयवइ-भुयग-खग्ग-उसभंक-विडिम-पागडिय-चिंध-मउडा पसिढिल-वर-मउड-तिरीड धारी कुंडल-उज्जोवियाणणा मउड-दित्त-सिरया।**

वे इन्द्र १ मृग २ महिष (=भैंसा) ३ वराह ४ छगल (=बकरा) ५ मेंढक ६ घोड़ा ७ गजपति (=श्रेष्ठ हाथी)

८ भुजंग (=सर्प) ९ खग्ग (=गेंडा) और १० वृषभ (=सांड) के चिन्हों से विस्तृत मुकुटों को पहने हुए थे। वे मुकुट ढीले बन्धनवाले थे। कानों के कुण्डलों की प्रभा से उनके मुख उद्योत से युक्त हो रहे थे और मुकुटों से उनके शिर दीप्त थे।

**रत्ताभा पउमपम्हगोरा सेया सुभ-वरण-गंध-फासा-उत्तम-विउव्विणो विविहवत्थगंधमल्लधरा महिड्ढिआ महज्जुइआ जाव पंजलिउडा पज्जुवासंति।**

वे लाल वर्णवाले, कमलगर्भ के समान पीले वर्णवाले (=पद्मगौर) और सफेद वर्णवाले थे। वे उत्तम वैक्रिय करने की शक्तिवाले थे। विविध वस्त्र, गन्ध, और माल्य के धारक, महर्द्धिक, महातेजस्वी....यावत् हाथ जोड़कर, पर्युपासना करने लगे।

टिप्पण—वैमानिक देवों के देहों के तीन रंग है। पहले और दूसरे स्वर्ग के देवों के शरीर का लाल, तीसरे चौथे और पांचवें स्वर्ग के देवों के शरीर का वर्ण पीला और आगे के स्वर्गों के देवों के शरीर का सफेद वर्ण है।

## चम्पा नगरी में लोकवार्त्ता

**२७—ते णं काले णं ते णं समए णं चम्पाए नयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु * महया**

*अथवा 'सद्दे इ वा'। क्वचित्—'बहुजण सद्दे इ वा'।

जणसद्दे इ वा, जणवूहे इ वा +, जणबोले इ वा, जण कल-कले इ वा, जणुम्मी ति वा, जणुक्कलिया इ वा, जणसन्नि-वाए इ वा।

उस काल और उस समय में चम्पा नगरी के सिंघाटकों में (=सिंगाड़े के से आकारवाले तिकोन स्थानों में), त्रिकों (=जहां तीन मार्ग मिलते है ऐसे स्थानों) में, चतुष्को (=चौक, चार रास्ते मिलते है ऐसे स्थानो) में, चत्वरों (=बहुत से मार्ग मिलते है ऐसे स्थानों) में, चतुर्मुखों (=चोमुखे देवकुलों) में, महापथ (=राजमार्ग) में और पथो (बाजार-गलियों) में मनुष्यो का (आपसी बातचीत से) बहुत ही शब्द हो रहा था। वहां बहुत जनवृन्द था (अथवा आपस में विचार-विमर्श हो रहा था)। फुसफुसाहट की आवाज (अव्यक्त ध्वनि) आ रही थी। जनता में कलकल ध्वनि हो रही थी। लोक लहरियां उमड़ रही थी। छोटे छोटे झुण्ड के रूप में जन घूम रहे थे और एक स्थान से हटकर, दूसरे स्थान पर इकट्ठे हो रहे थे।

टिप्पण—बोल=ऐसी ध्वनि, जिसमें वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं हो। कलकल=ऐसी ध्वनि, जिसमें वर्ण-विभाग जाने जा सकते हों। (—टी०)

'जणुल्लावे इ वा' पाठान्तरकी व्याख्या करते हुए, दी गई परिभाषाएं—संभाषण को आलाप, निरर्थक वाणी को प्रलाप, 'कौन, किस प्रकार, क्या' आदि प्रश्न पूर्वक किये जानेवाले वर्णन को उल्लाप और

---

+क्वचित् पठ्यते—'जणवाए इ वा, जणुल्ल इ वा'।

आपसी बातचीत को संलाप कहते हैं।(–टी०)

बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ–'एवं खलु देवाणुप्पिआ! समणे भगवं महावीरे, आइगरे तित्थगरे सयंसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे जाव संपाविउकामे, पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे, इहमागए, इह संपत्ते, इह समोसढे; इहेव चम्पाए णयरीए बाहिं पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ'।

उनमें बहुत से मनुष्य एक दूसरे को इस प्रकार सामान्य रूप से कहते थे,... विशेष रूप से कहते थे,...प्रकट रूप से एक ही आशय को भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट करते थे, इस प्रकार कार्य-कारण की व्याख्या सहित–तर्क युक्त कथन करते थे–'हे देवानुप्रिय! बात ऐसी है कि–श्रमण भगवान् महावीर–जो कि स्वयं सम्बुद्ध आदिकर्त्ता और तीर्थङ्कर है, पुरुषोत्तम है....यावत् सिद्धि गति रूप स्थान की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति करनेवाले हैं–वे क्रमशः विचरण करते हुए, एक गाँव से दूसरे गाँव को पावन करते हुए, यहां पधारे है, यहां ठहरे है, यहां विराजमान हैं। इसी चम्पा नगरी के बाहर, पूर्णभद्र चैत्य में, संयमियो के योग्य स्थान को ग्रहण करके, संयम और तप से भावित आत्म-विहार कर रहे हैं'।

तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं

**भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए; किमंग पुण अभिगमण वंदण णमंसण पडिपुच्छण पज्जुवासणयाए ?**

'हे देवानुप्रिय ! तथारूप–महाफल की प्राप्ति करानें रूप स्वभाववाले अर्थात् अरिहन्त के गुणों से युक्त अर्हन्त भगवान् के नाम (=पहचान के लिये वनी हुई लोक मे रूढ संज्ञा)–गोत्र (=गुण के अनुसार दिया हुआ नाम) को भी सुनने से महत्फल की प्राप्ति होती है, तो फिर पास में जानें से, स्तुति करने से, नमस्कार करने से, सयम यात्रादि की समाविपृच्छा करने से और उनकी सेवा करने से होनेवाले फल की तो बात ही क्या ?' अर्थात् निश्चय ही महत्फल की प्राप्ति होती है।

**'एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग पुण विउलस्स अत्थस्स गहणयाए ?**

उनके एक भी आर्य (=श्रेष्ठ गुणो को प्राप्त करानें वाले और धार्मिक (=निज स्वरूप को प्राप्त करानेवाले मार्ग के लक्ष्यवाले) उत्तम वचन को सुनने से, और विपुल अर्थ के ग्रहण करने से होनेवाले फल की तो बात ही क्या है ?

**'तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं, वंदामो णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं [विणएणं] पज्जुवासामो।**

'इसलिए हे देवानुप्रिय ! चलो हम सब–श्रमण भगवान्

महावीर के पास चलें। उनकी स्तुति करें। उन्हें नमस्कार करें। उनका सत्कार करें। सन्मान करें। उन कल्याण के हेतु-रूप, दुरितशमन (=पापनाश) के हेतुरूप, दिव्य स्वरूप (अथवा दिव्य स्वरूप की प्राप्ति में हेतुरूप) और ज्ञान स्वरूप (अथवा ज्ञान प्राप्ति के हेतुरूप या निज स्वरूप की स्मृति के हेतुरूप) की विनय से पर्युपासना (=सेवा) करें'।

**एयं णे पेच्चभवे इहभवे ×य हियाए सुहाए खमाए निस्से-यसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ'-**

'वह (=हमारे द्वारा की गई भगवद् वंदना आदि) परभव में और इस भव में पथ्य अन्त के समान हित के लिये, सुख के लिये, परिस्थितियों को साधना के अनुकूल बना लेने के लिये और मोक्ष के लिय या भव-परम्परा में मोक्षमार्ग में बाधक नहीं होनेवाले सुखलाभ के लिये, हमें कारण रूप बनेंगी।

## भगवान् के पास जनसमूह का गमन

**-त्ति कट्टु बहवे उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता-एवं दुपडो-यारेणं *राइण्णा खत्तिआ माहणा भडा जोहा पसत्थारो मल्लई-लेच्छई लेच्छईपुत्ता, अण्णे य बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-पभिइओ, अप्पेगइया वंदणवत्तियं, अप्पेगइया पूअणवत्तियं-एवं**

---

× इहभवे य परभवे य-पा०।

**सक्कारवत्तियं सम्माणवत्तियं दंसणवत्तियं कोऊहलवत्तियं ।**

इस कारण बहुत से उग्र (=आदिदेव के द्वारा स्थापित आरक्ष के वंशज), उग्रपुत्र (=कुमार अवस्थावाले उग्रवशी), भोग (=आदिदेव के द्वारा गुरु रूप से स्थापित व्यक्तियों के वशज अर्थात् पुरोहित), भोगपुत्र, राजन्य (=भगवान् के वयस्यों के वंशज), राजन्यपुत्र, क्षत्रिय (=सामान्य राजकुलीन), क्षत्रियपुत्र, ब्राह्मण, ब्राह्मणपुत्र, भट (शूर), भटपुत्र, योद्धा, योद्धापुत्र, प्रशास्ता (=धर्मशास्त्र पाठक), प्रशास्तृपुत्र, मल्लकी (=राजविशेष), मल्लकिपुत्र, लेच्छकी, लेच्छकिपुत्र, और भी बहुत से माण्डलिक राजा, युवराज, तलवर (=पट्टबंध-विभूषित राजस्थानीय पुरुष), माडम्बिक (=एक जाति के नगर के अधिपति), कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठि (='श्री देवता' अंकित सुवर्ण-पट्ट-विभूषित धनपति), सेनापति, सार्थवाह आदि में से कई वन्दना करने के लिये, कई पूजा करने के लिये, कई सत्कार-सन्मान करने के लिये, कई दर्शन करने के लिये, तो कई कुतूहलवश भगवान् के पास जाने को तैयार हुए ।

**अप्पेगइया अट्ठविणिच्छय हेउं—अस्सुयाइं सुणेस्सामो, सुयाइं निस्संकियाइं करिस्सामो; अप्पेगइया अट्ठाइं हेऊइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो**

कई लोग अर्थ निर्णय के लिये—'नही सुने हुए भाव सुनेंगे, सुने हुए भावों को संशय-रहित बनाएंगें', कई—'जीवादि अर्थ, पदार्थो में रहे हुए धर्म और नही रहे हुए धर्म से

सम्बन्धित (=अन्वय-व्यतिरेक) हेतु, कारण (=तर्क संगत या युक्तियुक्त व्याख्या) और व्याकरण(=दूसरों के द्वारा पूछे गये अर्थों के उत्तर) पूछेंगे'-

**अप्पेगइया सव्वओ समंता मुण्डेभवित्ता, अगाराओ अणगारिअं पव्वइस्सामो, पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि धम्मं पडिवज्जिस्सामो, अप्पेगइया जिण भत्तिरागेणं, अप्पेगइया जीयमेयं,**

कई-'सभी से अपने सब भांति के सम्बन्धों का विच्छेद करके, गृहवास से निकलकर, अनगारधर्म को स्वीकार करेंगे' या पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप गृहिधर्म को स्वीकार करेंगे, कई जिनभक्ति के राग से और कई-'यह (=दर्शन करने को जाना) हमारी वंश-परम्परा का व्यवहार है'-

**ति कट्टु ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोऊयमंगलपायच्छित्ता, सिरसाकण्ठेमालकडा आविद्ध-मणिसुवण्णा कप्पियहारऽद्धहार-तिसरय-पालंब-पलंबमाणकडिसुत्तय-सुकय-सोहाभरणा पवरवत्थपरिहिया चंदणोलित्तगायसरीरा ।**

इस प्रकार विचार करके स्नान किया, बलिकर्म, कौतुक और मंगल रूप प्रायश्चित करके, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित हुए । उन्होने शिर पर और कण्ठ में मालाएं धारण की । मणि-सुवर्ण जडित अलंकार पहनें । सुन्दर हार, अर्द्धहार, तीन लडियोवाले हार, कटिसूत्र और अन्य भी शोभा बढ़ानेवाले

आभरण धारण किये। देह के अवयवों पर चन्दन का लेप लगाया।

**अप्पेगइया हयगया, एवं गयगया रहगया -सिवियागया संदमाणियागया, अप्पेगइया पायविहारचारिणो पुरिस-वग्गुरापरिक्खित्ता +महया उक्किट्ठ-सीहनायबोलकल-कलरवेणं पक्खुब्भिय-महासमुद्दरवभूयंपित्र करेमाणा***

कई घोड़े पर बैठे। इसी प्रकार हाथी, रथ, शिविका (=कूटाकार ढँकी हुई पालखी) और स्यंदमाणिका (=पुरुष प्रमाण लम्बी पालखी) पर सवार हुए; तो कई पैदल ही चारो ओर पुरुषो से घिरे हुए, आनन्द–महाध्वनि, सिंहनाद, बोल और कलकल महान् शब्द से सारी नगरी को, घोष से युक्त क्षुभित महासमुद्र के तुल्य-सी करते हुए चले।

**चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं णिगच्छंति। णिगच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छंति।**

चम्पा नगरी के मध्य से होकर निकले। फिर जहां पूर्णभद्र चैत्य था वहां आये।

---

-+वाचनान्तरेऽधिकं पदपञ्चकं–जाणगया जुग्गगया गिल्लिगय थिल्लिगया पवहणगया।

+वग्गावग्गि गुम्मागुम्मि–ति क्वचिद्दृश्यते।

*पायदद्दरेणं भूमिं कंपेमाणा अंबरतलमिव फोडेमाणा एगदिसिं एगाभिमुहा–इति क्वचिद्।

उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्ताईए तित्थयराइसेसे पासंति।

कुछ नजदीक आने पर श्रमण भगवान् महावीर के, तीर्थङ्कर रूप से परिचय देनेवाली छत्र आदि विशेषताएँ (=अतिशय) देखीं।

पासित्ता जाण वाहणाइं ठावइंति*। ठावइत्ता जाणवाहणेहिंतो पच्चोरुहंति। पच्चोरुहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति।

अतिशयों को देखकर, यान (=गाड़ी, रथ आदि)

---

*'विट्ठभंति'–इति क्व. दू.। इतो वाचनान्तरगतं बहु लिख्यते–'जाणाइं मुयंति। वाहणाइं विसज्जेंति। पुप्फ तंबोलाइयं आउहमाइयं सच्चित्तालंकारं पाहणाओ य। एगसाडियं उत्तरासंगं (करेंति), आयंता चोक्खा परमसुईभूया अभिगमेणं अभिगच्छंति।...चक्खुप्फासे मणसा एगत्तीभावकरणेणं।....(काइयाए–) सुसमाहिय पसंतसाहरियपाणिपाया अंजलिमउलिहत्था (पज्जुवासंति। वाइयाए–) एवमेयं भंते! अवितहमेयं....असंदिद्धमेयं...इच्छियमेयं...पडिच्छियमेयं....इच्छियपडिच्छियमेयं... सच्चे णं एसमट्ठे....(पज्जुवासंति। माणसियाए–)तच्चित्ता तम्मणा तल्लेस्सा तयज्झवसिया तत्तिव्वज्झवसाणा तदप्पियकरणा तयट्ठोवउत्ता तब्भावणाभाविया एगमणा जिणवयण धम्माणुरागरत्तमणा वियसियवर कमलनयणवयणा (पज्जुवासंति)।....समोसरणाइं गवेसह आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा आएसणेसु वा आवसहेसु वा पणियगेहेसु वा पणियसालासु वा....एवं जाणगिहेसु जाणसालासु कोट्ठागारेसु सुसाणेसु सुन्नागारेसु परिहिंडमाणे परिघोलेमाणे....।

और वाहन (=बैल, अश्व आदि) को ठहराये और उनसे नीचे उतरे। फिर जहा श्रमण भगवान् महावीर थे वहां आये।

**उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति। करित्ता वंदंति णमंसंति।**

वहां आकर, श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की, स्तुति की और उन्हे नमस्कार किया।

**वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति।**

स्तुति-नमस्कार करके, भगवान् की ओर मुख रखकर, विनय से दोनो हाथ जोड़कर, न अधिक नजदीक और न अधिक दूर ऐसे स्थान पर स्थित होकर, नमस्कार मुद्रा से श्रवण करते हुए, पर्युपासना (=सेवा) करने लगे।

## कूणिक को भगवद् चर्या का निवेदन

**२८—तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे जाव हियए। ण्हाए जाव अप्पमहग्घाभरणालंकिअसरीरे, सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ।**

तब (भ. महावीर के आगमन की बात विदित होने पर) वह प्रवृत्तिव्यापृत (भगवान् की विहारचर्या की खबर रखने वाला मुख्य अधिकारी) इस बात को जानकर, बहुत खुश

हुआ...यावत् विकसित हृदय हुआ। उसने स्नान किया....अल्प भारवाले किन्तु मूल्यवान् आभरणों से शरीर को अलंकृत किया, फिर वह अपने घर से बाहर निकला।

**सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमित्ता चंपाणयरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव बाहिरिया...सव्वेव हेट्ठिल्ला वत्तव्वया जाव णिसीयइ।**

वह चम्पा नगरी के मध्य बाजार से होता हुआ जहा कूणिक राजा की बाहरी राजसभा थी .(इसके बाद का सभी वर्णन–जो कि पहले कहा जा चुका है–यहां तक कहना चाहिए, कि–'कूणिक राजा भ. महावीर को वदना-नमस्कार करके, सिंहासन पर बैठा')।

**णिसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउअस्स अद्धतेरससयसहस्साइं पीइदाणं दलयति। दलयित्ता सक्कारेइ सम्माणेइ। सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ।**

कूणिक राजाने सिंहासन पर बैठकर, उस प्रवृत्तिव्यापृत को साढ़े बारह लाख (चाँदी की मुद्राओं का) प्रीतिदान दिया; सत्कार-सन्मान किया और उसे विसर्जित किया।

टिप्पण–इस मूल सूत्र में तो चाँदी या स्वर्ण के सिक्कों का उल्लेख नहीं है। किन्तु ग्रन्थान्तर में चक्रवर्त्यादि के प्रीतिदान का उल्लेख है। यथा–

वित्ती उ सुवण्णस्सा बारस अद्धं च सय सहस्साइं।
तावइयं चिय कोडी पीईदाणं तु चक्किस्स॥
एयं चेव पमाणं नवरं रययं तु केसवा दिंति।
मंडलियाण सहस्सा, पीईदाणं सयसहस्सा॥

इसके अनुसार ही यहां 'चांदी के सिक्के' अर्थ किया है। सुना जाता है कि-सवा सोलह मासे की एक मुद्रा होती है। कोई कोई 'स्वर्ण मुद्रा'-रूप अर्थ भी करते हैं।

## कूणिक राजा का आदेश

**२९--तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते बलवाउयं। आमंतेत्ता एवं वयासी-**

तब भंभसार के पुत्र कूणिक राजा ने बलवाउय(=बल-व्यापृत=सैन्यव्यापार में कुशल या सैन्य कर्मचारी) को बुलाया और वह उससे इस प्रकार बोला-

**खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि। हयगयरहपवरजोहकलिअं च चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेहि।**

हे देवानुप्रिय ! आभिषेक्य (=अभिषेक के योग्य अथवा विधिपूर्वक प्रधानपद पर स्थापित ) हस्तिरत्न(=श्रेष्ठ हाथी) को सजाकर तैयार करो। घोड़े, हाथी, रथ और प्रवर योद्धाओं सहित चार अंगोवाली सेना को तैयार करो-सजाओ।

**सुभद्दापमुहाण य देवीणं बाहरिया उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं ×जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह।**

---

× जुग्गाइं-क्वचित्

सुभद्रा आदि देवियों के, प्रत्येक के लिये गमन करने को तैयार, जुते हुए यानों को बाहरी सभाभवन में उपस्थित करो।

**चंपं नयरिं सब्भितर-बाहिरिअं [आसित्त-संमज्जिओवलित्तं सिंघाडग तिग चउक्कचच्चर-चउम्मुह महापहेसु] * आसित्त-सित्तसुइसम्मट्ठ-रत्थंतरावणवीहिअं मंचाइमंचकलिअं।**

चम्पा नगरी को बाहर और भीतर से [ जल से सिञ्चित, कूडेकर्कट से रहित बनवाकर और गोबर आदि से लिपवाकर संघाटग, त्रिक, चौक, चत्वर, चतुर्मुख और महापथों को ] छिटकाव, जलसिञ्चन और कूडे-कर्कट से रहित स्वच्छता से गलियों के मध्यभागों को (=रथ्यान्तर) और बाजार के मार्गों (=आपणवीथि ) को (मनोरम) बनाओ। (प्रेक्षकों के बैठने के लिये ) मञ्चातिमञ्च (=सीढ़ियों के आकार के प्रेक्षकासनों ) की रचना करो।

**णाणाविहरागउच्छियज्झयपडागाइपडागमंडिअं लाउल्लोइय-महियं गोसीससरसरत्तचंदणजावगंधवट्टिभूयं करेह-कारवेह।**

विविध रंगो के, ऊँचे किये हुए, सिंह, चक्र आदि चिन्हों से युक्त ध्वज, पताकाएँ और अतिपताकाएँ (=ऐसी झण्डियाँ, जिनके आसपास और भी छोटी छोटी झण्डियाँ लगी हो) लगाओ। आंगन आदि लिपवाओ-पुतवाओ और गोशीर्ष

---

* क्वचिन्नोपलभ्यते इदम्।

चंदन, लालचंदन आदि सुगन्धित द्रव्यों की महक से मार्ग भर दो। ऐसा करो और करवाओ।

टिप्पण–'करो' क्रियापद के द्वारा राजकर्मचारियों के लिये आदेश दिया गया है और 'करवाओ' क्रियापद के द्वारा प्रजा के लिये।

**करित्ता कारवेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि। निज्जाइस्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवंदए।**

इस आज्ञा का पालन करके. मुझे इसकी सूचना दो। मै श्रमण भगवान् महावीर की अभिवन्दना के लिये जाऊंगा।

## अभिवन्दना की तैयारी

**३०–तए णं से बलवाउए कूणिएणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठजावहियए, करयल-परिग्गहिअं सिरसावत्तं, मत्थए अंजलिं कट्टु, एवं वयासी–'सामित्ति'।**

तब कूणिक राजा के इस प्रकार कहने पर, उस बलवाउय (=सेनानायक) का चित्त प्रसन्न हुआ....यावत् हृदय विकसित हुआ। उसने हाथ जोड़कर, शिर के चारो ओर घुमाये, अञ्जली को शिरपर लगाई और फिर वह यों बोला–'जी स्वामिन्!'

**आणाइ विणएणं वयणं पडिसुणेइ। पडिसुणित्ता हत्थिवाउयं आमंतेइ।**

यों उसने विनय सहित आज्ञा के वचन सुने। सुनकर, 'हत्थिवाउय' (=हस्तिव्यापृत=महावत) को बुलाया।

**आमंतेत्ता एवं वयासी-'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! कूणिअस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि**

उसने महामात्र (=महावत) को बुलाकर, इस प्रकार कहा-'जल्दी ही हे देवानुप्रिय! भंभसार के पुत्र कूणिक राजा के आभिषेक्य (=विधि सहित प्रमुख बनाये गये) हस्तिरत्न को सजाकर, तैयार करो।

**हयगयरहपवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेहि। सण्णाहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि।**

और हाथी, घोड़े, रथ एवं श्रेष्ठ योद्धाओं से बनी चार अंगवाली सेना को तैयार करो। ऐसा करके, फिर मुझे आज्ञा-पालन की सूचना दो।

**तए णं से हत्थिवाउए बलवाउस्स एअमट्ठं सोच्चा, आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ।**

तब महामात्र ने सेनानायक की यह बात सुनेकर, आज्ञा के वचन विनय सहित स्वीकार किये।

**पडिसुणित्ता छेआयरियउवएसमइविकप्पणा-विकप्पेहिं सुणिउणेहिं उज्जलनेवत्थ + -हत्थपरिवत्थिअं।**

---

+ ....नेवत्थेहिं-पा०।

फिर निपुण छेकाचार्य (=शिल्पाचार्य) के उपदेश से मँजी हुई वृद्धि और कल्पना के विकल्पों (=विविध विचारों) से युक्त उस अति चतुर (महामात्र) ने (उस हस्ति रत्न को) उज्ज्वल नेपथ्य (=साजश्रृंगार, वेशभूषा) से शीघ्र ही ढँक दिया।

**सुसज्जं धम्मिअसण्णद्धबद्धकवइयउप्पीलियकच्छ × -वच्छ गेवेयबद्धगलवरभूसणविरायंतं * [अहियतेअजुत्तं]‡**

उस हाथी को सुन्दर ढंग से सजाया। धार्मिकों से वह सन्नद्ध(=कवच से युक्त-तैयार), वद्ध (=कवच से बंधा हुआ) और कवच से युक्त किया गया अथवा धर्मित (=कवच के पहनने योग्य हिस्से पहनाये गये), सन्नद्ध (=कवच के जोड़ने योग्य भागों को जोड़कर पहनाये गये) और बद्ध (=बान्धने योग्य कवच के भाग कसे गये) कवचवाला उसे बनाया। बाँधने की रस्सी (=कक्षा) को वक्षस्थल पर कसी। गले में मालाएँ बाँधी और अन्य श्रेष्ठ आभूषणों से उसकी शोभा बढ़ाई। [अतः वह अत्यन्त तेजस्वी हो गया]।

**+सललिअवरकण्णपूरविराइअं पलंबउच्चूल-महुअरकयंधयारं चित्तपरिच्छेअ-पच्छअं।**

---

× ...वच्छ कच्छ....इति पा०।

* (गेवेयअवद्ध भूषणविराइयं) इति क्व.।

‡ क्वचिद्दृश्यते इदम्।

+ (विरइयवरकण्णपूरं सललियपलंबउच्चूलं) इति वा.।

सूक्ष्म कलामय सुन्दर कर्णपूरों ( =कान के आभूषणों ) से उसे सुशोभित किया । कान के पास लटकाये हुए लम्बे झूमकों से और मदजल से आकर्पित बने हुए भ्रमरो से (हस्ति के लिये) अन्धकार-सा होगया था । उसपर सुन्दर छोटा प्रच्छद ( =झूल) डाला गया ।

● पहरणावरणभरिअजुद्धसज्जं सच्छत्तं सज्झयं सघंटं ⊹ [सपडागं] पंचामेलअपरिमंडिआभिरामं

अस्त्र, कवच आदि युद्धसज्जा से युक्त किया । छत्र, ध्वज और घण्टा को यथास्थान योजित किये । फिर उसे पाँच कलंगियों ( =आमेलक=चूडा ) से विभूषित करके, रम्य बनाया ।

ओसारिअजमलजुअलघंटं, विज्जुपिणद्धं व कालमेहं, * उप्पाइयपव्वयं व चंकमंतं, मत्तं गुलगुलंतं + मणपवण-जइणवेगं, भीमं संगामिया योग्गं, × आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पइ ।

उसके दोनों तरफ समरूप से दो घण्टाएँ लटकाई ।

---

● (सन्नावसरपहरणा... ) इति पा. ।

⊹ क्व. द्द. इ.

* उप्पाइय पव्वयमिव सक्खं-ति पा० ।

+ महामेहंमिव-इति क्व. द्द. ।

× ....या ओज्जं-इति पा० ।

(शस्त्र, अस्त्रादि की उज्ज्वल दीप्ति से युक्त होने से ) वह बिजली सहित काले मेघ के समान दिखाई दे रहा था। (उसका देह इतना विशाल था कि) मानो वह, अपने स्थान से ऊँचा उठा हुआ कोई चलता-फिरता हुआ पर्वत हो। इस प्रकार मन और पवन की गति को भी मात करनेवाले वेग से युक्त, मत्त और गुलगुल शब्द करते हुए उस प्रधान हस्तिरत्न को, संग्राम की सभी सामग्रियो से युक्त बनाकर, तैयार किया।

**पडिकप्पेत्ता हयगयरहपवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेइ। सण्णाहित्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणइ।**

महामात्र ने हस्तिरत्न को तैयार करके, अश्व, गज, रथ और श्रेष्ठ योद्धाओंवाली चतुरंगिनी सेना को सजाई। फिर वह 'हत्थिवाउय' (=महामात्र ) बलवाउय' (=सेना-नायक) के पास गया और आज्ञा-पालन की सूचना दी।

**तए णं से बलवाउए जाणसालिअं सद्दावेइ। सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ! सुभद्दापमुहाणं देवीणं बाहिरियाएउवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह। उवट्ठवित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि'।**

तब सेना नायक ने यानशालिक (=रथादि यान और

वाहनों का संरक्षक) को बुलाया और उससे इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिय ! जल्दी ही सुभद्रा आदि देवियों के लिये, प्रत्येक के अलग-अलग गमन करने को उद्यत-जुते हुए यानों को बाहरी सभाभवन मे उपस्थित करो और आज्ञापालन की सूचना दो'।

टिप्पण—इस वर्णन-क्रम से ऐसा प्रतीत होता है कि—हस्तिरत्न और सेना की सजावट की सूचना मिलने के बाद, यानशालिक को आज्ञा दी गई। किन्तु इसे वर्णनशैलीगत भास मात्र ही मानना चाहिए। क्योंकि एक-एक कार्य के पूरा होने के बाद यदि आज्ञा प्रदान होता रहे तो समय बहुत ही अधिक बीत जाता है। अतः यहाँ 'तए णं' पद से 'कूणिक राजा के आज्ञा देने के बाद'—यह आशय लेना चाहिए।

तए णं से जाणसालिए बलवाउअस्स एअमट्ठं आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ। पडिसुणित्ता जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ।

तब यानशालिक ने सेनानायक की आज्ञा के वचन विनय से सुने। इसके बाद जहाँ यानशाला थी वहाँ आया।

तेणेव उवागच्छित्ता जाणाइं पच्चुवेक्खइ। पच्चुवेक्खित्ता जाणाइं संपमज्जेइ। संपमज्जेत्ता जाणाइं णीणेइ। *जाणाइं णीणेत्ता जाणाइं संवट्टेइ। जाणाइं संवट्टेत्ता जाणाणं दूसे पवीणेइ।

* 'संपमज्जेत्ता जाणाइं संवट्टेइ संवट्टेइत्ता जाणाइं णीणेइ णीणेइत्ता'-इति क्व.।

उसने यानशाला में आकर, यानों का निरीक्षण किया। ........उनके ऊपर की धूलि पोंछी। ......यानों को बाहर निकाले। .......योग्य स्थान पर इकट्ठे किये।.....उनके ऊपर के ढँके हुए वस्त्रो (=दूष्यों) को अलग हटाए। अथवा उन्हें भूल से ढँके।

**...पवीणेत्ता जाणाइं समलंकरेइ समलंकरेत्ता जाणाइं वर-भण्डगमंडियाइं करेति।**

.....यानों को यन्त्र आदि से अलंकृत किये।.... उन्हें श्रेष्ठ भूषणों से भूषित किये।

**...करेत्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छइ। तेणेव उवा-गच्छित्ता वाहणाइं पच्चुवेक्खइ।**

वह. ..जहाँ वाहनशाला थी वहाँ गया।....उसनें वाहनों का निरीक्षण किया।

**...पच्चुवेक्खित्ता वाहणाइं संपमज्जेइ।...संपमज्जेत्ता वाहणाइं णीणेइ।...णीणेत्ता वाहणाइं अप्फालेइ।...अप्फालेत्ता दूसे पवीणेइ।.....पवीणेत्ता वाहणाइं समलंकरेइ। समलं-करेत्ता वरभंडगमंडियाइं करेइ।**

...वाहनों का सप्रमार्जन किया।.......उन्हें बाहर निकाले।......हाथ से थपथपाये।....मच्छर आदि से रक्षा के लिये उनपर ढँके हुए वस्त्र अलग हटाये अथवा उन्हें वस्त्र से ढँके।..,...उन्हे अलंकृत किये।....श्रेष्ठ आभरणों से सजाए।

....करेत्ता वाहणाइं जाणाइं जोएइ ।....जोएत्ता पओयलट्ठिं पओयधरे य समं आडहई ।

....वाहनों (=बैल आदि) को यानो (=गाड़ी, रथ आदि) में जोड़े। ....पयोयलट्ठि (=वाहनों को हाँकने की लकड़ी आदि अथवा चाबुक) और पयोयधरों (=गाड़ी खेड़ने-वाले या गाड़ीवान्) को साथ में नियुक्त किये।

....आडहित्ता वट्टं* गाहेइ ।....गाहेत्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ ।....उवागच्छित्ता बलवाउअस्स एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणइ ।

....(उन जुतेहुए यानों को) मार्ग पर खड़े किये। फिर वह जहां सेनानायक था वहाँ आया और उसकी आज्ञा के पालन की सूचना दी।

तए णं से बलवाउए णयरगुत्तिए आमंतेइ ।....आमंतेत्ता एवं वयासी–'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चंपं णयरिं सब्भितरबाहिरियं आसित्त....जाव कारवेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि'।

तब सेनानायक ने नगरपाल (=नगरगुप्तिक=नागरिक स्वच्छता के तंत्र संचालक या नगर रक्षक) को बुलाया....और इस प्रकार कहा–'जल्दी ही हे देवानुप्रिय! चम्पानगरी को

*....वट्टमग्गं ति पा०।

बाहर और भीतर से स्वच्छ, जलसिञ्चित कराओ ।.....यावत् ऐसा करवाकर, मुझे आज्ञापालन की सूचना दो ।

**तए णं णयरगुत्तिए बलवाउअस्स एअमट्ठं आणाए विणएणं पडिसुणेइ ।.....पडिसुणित्ता चंपं णयरिं सब्भिंतरबाहिरियं आसित्त....जाव कारवेत्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणइ ।**

तब नगरपाल ने 'बलवाउय' (=सेनानायक ) की इस आशय की आज्ञा विनय से सुनीं । वह.....चम्पानगरी को भीतर और बाहर से सिञ्चित, स्वच्छ आदि....करवाकर....सेनानायक के पास आया.....और आज्ञापालन की सूचना दी ।

**तए णं से बलवाउए कोणिअस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पिअं पासइ । हयगय...जाव सण्णाहिअं पासइ । सुभद्दापमुहाणं देवीणं पडिजाणाइं उवट्ठविआइं पासइ । चंपं णयरिं सब्भिंतर....जाव गंधवट्टि-भूअं कयं पासइ ।**

इसके बाद सेना नायक ने भंभसारपुत्र कूणिक राजा के आभिषेक्य हस्तिरत्न को सजाहुआ देखा । घोड़े, हाथी आदि...सेना को सजी हुई देखी । सुभद्रा आदि देवियों के जुते हुए यान देखे और बाहर-भीतर से स्वच्छ....यावत् सुगन्धि से महकती हुई चम्पानगरी को देखी ।

**....पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीयमणे जाव हियए**

जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ। उवा-गच्छित्ता करयल जाव एवं वयासी—

....देखकर, वह हृष्ट-तुष्ट चित्तवाला, आनंदित, प्रीति-युक्त मनवाला यावत् विकसित हृदयवाला हुआ और जहां भंभसारपुत्र कूणिक राजा था वहां उसके पास आया। फिर हाथ जोड़कर, यावत् इस प्रकार बोला—

कप्पिए णं देवाणुप्पियाणं आभिसेक्के हत्थिरयणे, हयगय-रहपवरजोहकलिआ य चाउरंगिणी सेणा सण्णाहिआ, सुभद्दापमुहाणं च देवीणं बाहिरियाए य उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठा-वियाइं, चंपा णयरी सब्भिंतरबाहिरिया आसित्त......जाव गंधवट्टिभूआ कया। तं निज्जंतु णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं अभिवंदआ।

देवानुप्रिय का आभिषेक्य (=प्रधान) हाथी तैयार है। घोड़े, हाथी, रथ और श्रेष्ठ योद्धाओं से कलित चतुरंगिणी सेना सजादी गई है। सुभद्रा आदि देवियों के लिये जुते हुए यान बाहरी सभाभवन में खड़े हैं और चम्पानगरी बाहर-भीतर से स्वच्छ, सिञ्चित....यावत् महक से युक्त बना दी है। तो हे देवानुप्रिय! अब श्रमण भगवान् महावीर की अभि-वन्दना के लिये प्रस्थान करें।'

३१—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते बल-वाउअस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियए जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता अट्टणसालं अणुपविसइ।

तब भंभसारपुत्र कूणिक राजा 'बलवाऊअ' से यह बात सुनकर, अवधारण करके, हृष्ट-तुष्ट यावत् विकसित हृदय हुआ और जहा व्यायामशाला (=अट्टणशाला) थी वहां आया।....व्यायामशाला में प्रवेश किया।

अणुपविसित्ता अणेगवायामजोग्गवग्गणवामद्दणमल्ल जुद्ध-करणेहिं संते परिस्संते;

वहां व्यायाम के लिये अनेक योग्या, वलगन (=उछलना -कूदना), व्यामर्दन (=परस्पर के अंगो को मोड़ना), मल्लयुद्ध और करण (=मल्लशास्त्र में प्रसिद्ध अंगभग विशेष) के द्वारा थके (=श्रान्त), शिथिल (=परिश्रान्त) हुए।

टिप्पण—इस सूत्र में व्यायाम के लिये की गई पाँच प्रकार की चेष्टाओ का वर्णन है। टीका से इन प्रकारों के विषय में विशेष प्रकाश नहीं मिलता। 'योग्या' का पर्यायवाची शब्द 'गुणनिका' मात्र दिया गया है। जिससे विशेष स्पष्ट आशय समझ में नहीं आता। प्रसंगवशात् यह अनुमान होता है कि—'ऐसी चेष्टाएँ, जिसमें अंगों के खिचाव और शिथि-लीकरण की क्रियाएँ मुख्य हो या आकुञ्चन-प्रसारण के योग से कियेजाने वाले व्यायाम'। ऐसा आशय हो।

सयपागसहस्सपागेहिं सुगंधतेल्लमाइएहिं +पीणणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं मयणिज्जेहिं विंहणिज्जेहिं सव्विंदियगाय-पल्हायणिज्जेहिं अब्भिंगेहिं अब्भिंगए समाणे;

(फिर) रस रुधिर आदि धातुओं के समताकारी (=प्रीणनीय), बलकारी (=दर्पणीय), कामोत्तेजक (=मद-नीय), मांसवर्द्धक (=बृंहणीय) और सभी इन्द्रियों एवं सम्पूर्ण शरीर के लिये आनंदकारी (=प्रह्लादनीय) शतपाक-सहस्रपाक नामक सुगंधित तेल आदि अभ्यंगों (=मालिस के साधनों) के द्वारा मर्दन कराने के बाद,

टिप्पण—इस सूत्र में औषधिपक्वादि विषयों को ग्रहण करके, संक्षेप में अभ्यंगशास्त्र का सार रख दिया है। 'सुगंध.....' इस सूत्र में आये हुए आदि शब्द से घृतकर्पूरपानीय आदि ग्रहण करना चाहिए।

तेल्लचम्मंसि पडिपुण्णपाणिपायसुकुमालकोमलतलेहिं पुरिसेहिं छेएहिं दक्खेहिं पत्तट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं निउण-सिप्पोवगएहिं अब्भिंगणपरिमद्दणुव्वलणकरणगुणणिम्मा-एहिं अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउ-व्विहाए संवाहणाए संवाहिए समाणे,

तेलचर्म (=आसन विशेष) पर स्थित होकर, हाथ-पैर के अत्यन्त कोमल तलेवाले पुरुषों के द्वारा अस्थिसुखा (=हड्डियों

---

+ 'पीण.....पल्हायणिज्जेहिं' एतानि पदानि वाचनान्तरे क्रमान्तरेणाधीयन्ते।

के लिये सुखकर), मांससुखा, त्वक्सुखा (=चमड़ी के लिये सुखकर), और रोमसुखा—इन चार प्रकार की सम्वाधना (=चँपी) से सम्वाधित (=चँपी की गई है, जिनकी ऐसे) हुए। (वे चँपी करनेवाले पुरुष) छेक (=अवसरज्ञ—टी०, बहोत्तर कला में पण्डित—वृ०), दक्ष (=जल्दी कार्य करनेवाले), प्राप्तार्थ (=उस विषय के आचार्य से उस कला को सीखे हुए), कुशल (=सम्वाधना कर्म में श्रेष्ठ या साधक), मेधावी (=अपूर्व विज्ञान को ग्रहण करने की शक्तिवाले), अंगमर्दन आदि सूक्ष्म कलाओं के ज्ञाता और अभ्यंगन (=तैलादि मर्दन), परिमर्दन (=तैलादि को अंगों में पहुँचाने के लिये किये जानेवाले मर्दन विशेष) और उद्वलन (=उलटे रोएँ से किया जानेवाला मर्दन या मर्दन के बाद मल उतारने की क्रिया विशेष) के करने में जो गुण हैं उनको निपजाने की शक्तिवाले थे।

टिप्पण—इस सूत्र में अभ्यंगनकला और सम्वाधनाकला का संक्षेप में वर्णन है। इन कलाओं की भी शिक्षा ली जाती थी और उसके शिक्षण में भी पात्र-अपात्र का विचार किया जाता था।

तैलचर्म=तैलमर्दन के बाद जिसपर स्थित रहकर चँपी करवाई जाती है, उसे तैलचर्म कहते हैं।

**अवगयखेयपरिस्समे अट्टणसालाउ पडिणिक्खमइ।**

कूणिक राजा इस प्रकार खेद (=दीनता या अनुत्साह) और परिश्रम (=व्यायाम-जनित शरीर की अस्वस्थता विशेष) के दूर हो जाने पर व्यायामशाला से बाहर निकला।

.....पडिणिक्खमित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ। तेणेव उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ।

....जहाँ स्नानागार था वहाँ आया.....उसमें प्रवेश किया।

.....अणुपविसित्ता *समत्तजालाउलाभिरामे विचित्तमणि-रयणकुट्टिमतले रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि णाणामणिरयण-भत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहणिसण्णे, ×सुहोदएहिं गंधोदएहिं पुप्फोदएहिं +सुद्धोदएहिं पुणो पुणो कल्लाणग-पवरमज्जणविहीए मज्जिए;

.....स्नानागार में प्रवेश करके, चारो ओर जाली (अथवा मुक्ताजाली) से व्याप्त अभिराम और विचित्र मणि-रत्नों से बनें हुए रमणीय आँगनवाले तथा नाना मणि-रत्नों से चित्रमय बनी हुई भित्तिवाले स्नानमण्डप मे स्नानपीठ (=स्नान के लिये बैठने की चौकी ) पर सुख से बैठा। फिर तीर्थ आदि के जल अथवा सुखोदक (=जिसका स्पर्श सुखकर बनाया गया हो ऐसा जल ), गन्धोदक (=श्रीखण्ड=चन्दन आदि रस से मिश्रित जल), पुष्पोदक(=पुष्परस मिश्रित जल) और शुद्धोदक (=स्वाभाविक जल ) से कल्याणक (=आनंद-कारी) और अतिश्रेष्ठ स्नान की विधि से स्नान किया।

---

* समुत्तजाला.....इति पा०।

× सुद्धोदर्एहि-ति पा०।

+ सुहोदर्एहि-ति पा०।

तत्थ कोउयसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणगपवरमज्जणावसाणे पम्हलसुकुमालगंधकासाइयलूहिअंगे† सरससुरहिगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते।

वहाँ बहुत प्रकार से रक्षादि की सैंकड़ों कौतुक विधियों के द्वारा श्रेष्ठ कल्याणक मज्जन को समाप्त करने के बाद रोएँदार, सुकोमल, सुगन्धित और काषायित (=हरड़े, बहेड़ा आदि कसीली औषधियों से रञ्जित अथवा काषाय—लाल) वस्त्र से अंग पोछा। फिर सरस सुरभित गोरोचन और चंदन से गात्र को लिप्त किया।

अहयसुमहग्घदूसरयणसुसंवुए सुइमालावण्णगविलेवणे आविद्धमणिसुवण्णे कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंब माणकडिसुत्तसुकयसोभे।

मल-मूषिकादि से अदूषित (=अहत) और बहुमूल्य दूष्यरत्न (=प्रधानवस्त्र) को उत्तम ढग से पहना। पवित्र पुष्पमाला धारण की। कुकुमादि के शोभनीय विलेपन किये। मणिजटित सुवर्णालङ्कार पहने। गठित हार, अर्द्धहार (=नवलड़ी का हार), त्रिसरक (=तीन लड़िया हार), लम्बी लटकती हुई फूलमाला और कटिसूत्र (=कंदोरा) से शोभा की सुन्दरता से वृद्धि की।

पिणद्धगेविज्जगअंगुलिज्जगललियंगयललियकयाभरणे वरकडगतुडियथंभिअभुए।

† .....यंगे-इति पा०।

कण्ठले बांधे। अंगुठियाँ पहनीं। इस प्रकार सुन्दर शरीर पर सुन्दर आभूषणों को धारण किये अथवा 'ललितांग' नामक देव के समान कूणिक राजा के केश और आभरण ललित थे। श्रेष्ठ कङ्कणों और तोड़ों से भुजाएँ स्तंभित हो गई थी।

**अहियरूवसस्सिरीए + कुंडलउज्जोविआणणे मउडदित्तसिरए हारोत्थयसुकयरइयवच्छे।**

इस प्रकार वह बहुत अधिक शोभा से युक्त हो गया। कुण्डलों की प्रभा से मुख दमकने लगा। मुकुट की कान्ति से शिर दीप्त हो रहा था। हार के आच्छादन से वक्षस्थल रुचिर बना हुआ था।

**पालंबपलंबमाणपडसुकयउत्तरिज्जे णाणा-मणि-कणग-रयण-विमल-महरिह-निउणोविअमिसिमिसंत -विरइय - सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ-लट्ठ-आविद्ध-वीरवलए।**

लम्बे लटकते हुए या झुम्बमान वस्त्र के उत्तरीय (=ऊपर का वस्त्र) को सुन्दर ढँग से धारण किया। श्रेष्ठ शिल्पी के द्वारा निर्मल और बहुमूल्य विविध मणि, स्वर्ण और रत्नों से चतुराई से परिकर्मित (=कलात्मक बनाये गये), सुश्लिष्ट (=जहां मजबूत जोड़ चाहिए वहां मजबूत जोड़वाले), विशिष्ट मनोहर और देदीप्यमान वीर वलय (=वीरत्व सूचक कड़े पहने।

---

+ महिआ पिंगलंगुलिए-इति क्व. वृ.

टिप्पण-'यदि अन्य कोई भी सुभट वीर हैं, तो वह इन वलयों का मोचन करके मुझको हराये'-इस प्रकार स्पर्धा करते हुए जिन कड़ों को पहना जाता है उन्हें 'वीर वलय' कहते हैं। -टी०

किं वहुणा ? कप्परुक्खए चेव अलंकियविभूसिए णरवई सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं + चउचामरवाल-वीजियंगे ● मंगलजयसद्दकयालोए मज्जणघराओ पडि-निक्खमइ।

अधिक क्या ? कल्पवृक्ष के समान अलंकृत और विभूषित होकर, जब नरपति मज्जनगृह से बाहर निकले उस समय

---

+ वाचनान्तरे पुनश्छत्रवर्णक एवं दृश्यते-अब्भपडलपिंगलुज्जलेण अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेणं मंगलसयभत्तिछेयविचित्तिय खिखिणिमणिहेमजालविरइयपरिगयपेरंतकणगघंटिया पयलियकिणिकिणित-सुइसुहसुमहुरसद्दालसोहिएणं सप्पयरवरमुत्तदामलंबंतभूसणेणं नरिंदवामप्प-माणरुंदपरिमण्डलेणं सीयायववायवरिसविसदोसनासणेणं तमरयमलवहल-पडणघाडणप्पभाकरेणं उउसुहसिवच्छायसमणुबद्धेणं वेरुलियदंडसज्जिएणं वइरामयवत्थिनिउण-जोइयअट्ठसहस्सवरकंचणसलागनिम्मिएणं सुनिम्मल-रययसुच्छएणं निउणोविय मिसिमिसंतमणिरयणसूरमंडलवितिमिरकरनिग्ग-यग्ग पडिहयपुणरविपच्चायडंतचंचलमिरिइकवयं विणिमुयंतेणं सपडिदंडेणं धरिज्जमाणेणं आयवत्तेणं विरायंते।

● वाचनान्तरे तु-चउहियपवरगिरिकुहरविचरणसमुइय निरुवहय-चमर-पच्छिम-सरीर-संजायसंगयाहिं अमलियसियकमल विमलुज्जलियरय-यगिरिसिहरविमलससिकिरणसरिसकलधोय-निम्मलाहिं पवणाहयचवलल-

कोरंट पुष्प की मालाओ से युक्तछत्र धारण किये हुए थे और आजुबाजु चार चामर डुलाये जा रहे थे। मनुष्यों को उसके दर्शन होने पर उन्होने मगल के लिए जयध्वनि की।

**मज्जणघराउ पडिणिक्खमित्ता अणेग-गणनायग-दंडनायग-राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भसेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संधिवाल-सद्धि-संपरिवुडे धवल-महामेह-णिग्गए इव गह-गण-दिप्पंतरिक्ख-तारागणाण मज्झे ससिव्व पियदंसणे**

मज्जनगृह से निकलकर, अनेक गणनायक, दंडनायक, राजा, ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थ-वाह, दूत और संधिपाल से घिरे हुए, सफेद महामेघ से निकले हुए-से ग्रहगण, नक्षत्र और तारागण के मध्य में चन्द्र के समान प्रिय दर्शनवाला—

**णरवई जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला जेणेव आभिसेक्के हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ।**

---

लियतरंगहत्थनच्चंत-वीइपसरिय-खीरोदग-पवरसागरुप्पूरचंचलाहिं माणस-सरपरिसरपरिचियावासविसयवेसाहिं कणगगिरिसिहरसंसियाहिं उवइय-उप्पइय-तुरिय-चवल-जइण-सिग्घ-वेगाहिं हंसवधूयाहिं चेव कलिए णाणा-मणि-कणग-रयण-विमल-महरिह-तवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाहिं चिल्लीयाहिं नरवइसिरिसमुदयपगासण-करीहिं वरपट्टणुग्गयाहिं समिद्धरायकुलसेवियाहिं कालागुरु-पवर-कुंदरुक्क-तुरुक्क-वर-वण्णवासगंधुद्धुयाभिरामाहिं सललियाहिं उभओ पासं पि उक्खिप्पमाणाहिं चामराहिं सुहसीयलवायवीइयंगे।

नरपति (=राजा) जहां बाहरी सभाभवन था, जहां आभिषेक्य (=प्रधान) श्रेष्ठ हस्ति था वहां आया।

## अभिवन्दना के लिए प्रस्थान

**...उवागच्छित्ता अंजणगिरिकूडसण्णिभं गयवइ णरवईदूरूढे।**

वहां आकर, अञ्जगिरि (=काजल के पर्वत) के शिखर के समान गजपति पर नरपति सवार हुआ।

**तए णं तस्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसिक्कं हत्थिरयणं दुरूढस्स समाणस्स तप्पढमयाए इमे अट्ठट्ठमंगलया पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ।**

उस भभसारपुत्र कूणिक राजा के आभिषेक्य हस्तिरत्न पर सवार हो जाने पर सर्व प्रथम ये आठ मंगल क्रमशः रवाना किये गये।

**तं जहा—सोवत्थिय १, सिरिवच्छ २, णंदियावत्त ३, वद्धमाणक ४, भद्दासण ५, कलस ६, मच्छ ७, दप्पण ८।**

वे इस प्रकार है—१ स्वस्तिक, २ श्रीवत्स, ३ नन्द्यावर्त्त ४ वर्द्धमानक, ५ भद्रासन, ६ कलश, ७ मत्स्य और ८ दर्पण।

**तयाऽणंतरं च णं पुण्ण-कलस-भिंगारं, दिव्वा य छत्त-पडागा सचामरा दंसणरइअआलोयदरिसणिज्जा वाउद्धूय-विजयवेजयंती × उस्सिया गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहा-**

× ऊसिया—अपि दृ०

णुपुव्वीए संपट्ठिया।

इसके बाद जल से परिपूर्ण कलश एवं झारी और दिव्य छत्र पताका–जो कि चामर से युक्त, राजा के दृष्टिपथ में स्थित, वायु से फहराती हुई विजय सूचक 'वैजयन्ती' नामक लघुपताकाओं से युक्त और ऊँची उठाई हुई थी, वह–गगन तल को स्पर्श करती हुई-सी आगे रवाना हुई।

**तयाऽणंतरं च णं वेरुलियभिसंतविमलदंडं पलंबकोरंट-मल्लदामोवसोभियं चंदमंडलनिभं समूसियविमलं आयवत्त-पवरं सीहासणं वरमणिरयणपादपीढं सपाउयाजोयसमाउत्तं बहुकिंकरकम्मकरपुरिसपायत्तपरिक्खित्तं *पुरओ अहा-णुपुव्वीए संपट्ठिय।**

इसके बाद वैडूर्य (=लहसुनिया) रत्न के देदीप्यमान विमल दण्डवाला, कोरण्ट पुष्प की लम्बी लटकती हुई मालाओं से सुशोभित, चन्द्रमण्डल के समान ऊँचा तना हुआ श्रेष्ठ आत-पत्र (=धूप से रक्षा करनेवाला–छत्र), सिंहासन और श्रेष्ठ मणिरत्नों का पादपीठ (=पैर रखने की चोकी)–जिस पर राजा की पादुका की जोड़ रखी हुई थी और जो अनेक किङ्करों (=प्रत्येक कार्य पृच्छापूर्वक करनेवाले सेवक या किसी खास कार्य-विभाग में नियुक्त वैतनिक सेवक) और पदातियों =पैदल सैनिकों से घिरा हुआ था–आगे आगे क्रमशः रवाना किया गया।

* क्वचिद्दृश्यते–'दासीदास किंकरकम्म.....'।

तयाऽणंतरं बहवे लट्ठिग्गाहा कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा पासग्गाहा पोत्थयग्गाहा फलकग्गाहा पीढग्गाहा वीणग्गाहा कूवग्गाहा हडप्फग्गाहा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया।

इसके बाद बहुत-से लट्ठधारी, कुन्त (=भाला विशेष) धारी, धनुर्धारी, चामरधारी, पाशा (=द्यूत सामग्री) धारी, पुस्तक (=आय- के ज्ञान के लिए रखी जानेवाली नोंध या पण्डित के उपकरण) धारी, फलकधारी, पीठ (=आसन विशेष) धारी, वीणाधारी, कुतुप (=पक्व तैलादि के भाजन या सुगंधित तैल के शीशे) धारी और हडप्फ (=द्रम्मादि सिक्के के भाजन या सुगन्धित चूर्ण–ताम्बूल आदि के लिए सुपारी आदि के डिब्बे) धारी पुरुषों को रवाना किये।

तयाऽणंतरं बहवे दंडिणो मुंडिणो सिहंडिणो जडिणो पिंछिणो हासकरा डमरकरा दवकरा + चाडुकरा वादकरा कंदप्पकरा कोक्कुइआ किड्डिकरा वायंता गायंता हसंता णच्चंता भासंता सावेंता[1] रक्खंता, आलोयं च करेमाणा, जयजयसद्दं पउं-

---

+ व्युत्क्रमः क्व०।

[1] क्वचिदिमे संग्रहगाथाश्च दृश्यन्ते–"असिलट्ठिकुंतचावे चामरपासे य फलगपोत्थेय। वीणकूयग्गाहे तत्तो य हडप्फगाहेय ॥१॥

दंडी मुंडी सिहंडी पिच्छी जडिणो, य हासकिड्डा य। दवकारा चटुकारा कंदप्पिय कोक्कुइयगाहा ॥२॥

गायंता वायंता नच्चंता तह हसंत हासिंता। सावेंता रावेंता आलोय जयं पउंजंता ॥३॥

जमाणा ●, पुरम्रो अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया।

फिर बहुत-से दंण्डी, मुण्डी (=मुण्डे हुए शिरवाले), शिखण्डी (=शिखाधारी), जटी (जटाधारी), मयूरपिच्छ आदि के धारक, हास्यकर (=विदूषक), डमरकर (=हुल्लड़बाज) चाटुकर (खुशामदिये या प्रियवादी), दवकर (=मजाकिये), वादकर (=विवादी), कन्दर्पकर (काम प्रधान क्रीड़ा करनेवाले या शृंगारिक चेष्टाएँ करनेवाले), कौत्कुचिक (=भाँड) और कीतिकर (=भाट) बजाते हुए, गाते हुए, हँसते हुए, नाचते हुए, बोलते हुए, शिक्षा देते हुए, रक्षा करते हूए, (राजादि का) अवलोकन करते हुए, और ध्वनि करते हुए क्रमशः आगे रवाना हुए।

तयाऽणंतरं जच्चाणं तरमल्लिहायणाणं *[हरिमेलामउल मल्लियच्छाणं चंचुच्चियललियपुलियचलचवलचंचलगईणं लंघणवग्गणधावणधोरणतिवईजइणसिक्खियगईणं ललंत-लामगललायवरभूसणाणं मुहभंडग- ×ओचूलगथासग- +मिलाण†चमरीगंडपरिमंडियकडीणं किंकर-वर-तरुण-परिग्गहियाणं] थासग अहिलाणचामरगंडपरिमंडियकडीणं-

● रावेंता क्व०।

* कोष्ठकान्तर्गतपदानि वाचनान्तरस्य सूचितानि टीकाकारेण।

× ...'उच्चूलग....' इति पा०।

+ ...अहिलाण...इति पा०।

† ...चामर...इति पा०।

**अट्ठसयं वरतुरगाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।**

इसके बाद वेगादिकारक वर्ष वाले (यौवन वयवाले), स्थासक (=आभूषण विशेष), अहिलाण (=मुख संयमन =लगाम) से युक्त और चामरदण्ड से सजी हुई कटिवाले एक सौ आठ श्रेष्ठ घोड़े क्रमशः आगे रवाना किये। [हरिमेला (=वनस्पति विशेष) की नवकलिका और मल्लिका-सी उनकी आँखें थीं-सफेद आँखे थीं। उनकी चाल बांकी, विलास युक्त, (=ललित) और कोतल (=पुलित=नृत्यमय) थी, उनके अस्थिर शरीर की चपलता से चञ्चल थी और लांघने, कूदने, दौड़ने, गति की चतुराई, त्रिपदी (=चलते हुए भूमि पर तीन पैरों का ही टिकना), जय या वेग से युक्त और शिक्षित थी। उनके गले में हिलते हुए रम्य श्रेष्ठ भूषण पड़े हुए थे। त्रिमुख-भण्डक (=मुख का भूषण=मोरा आदि) अवचूल (=लम्बे गुच्छक), स्थासक, पलाण से युक्त और चामर दण्ड से सजी हुई कटिवाले थे। उन्हे श्रेष्ठ तरुण किङ्करों ने थाम रखे थे।]

**तयाऽणंतरं च णं ईसीदंताणं ईसीमत्ताणं ईसीतुंगाणं ईसीउच्छंग-विसाल-धवल-दंताणं कंचणकोसी-पविट्ठ-दंताणं कंचण-मणिरयण-भूसियाणं‡ अट्ठसयं गयाणं पुरओ अहा-णुपुव्वीए संपट्ठियं।**

उनके बाद एक सौ आठ हाथी क्रमशः आगे

‡ 'वर-पुरिसा-रोहग-सुसंपउत्ताणं' त्ति क्व० वृ०।

रवाना किये गये। उन कुछ मत्त और ऊँचे हाथियों के दांत कुछ बाहर निकले हुए थे। वे दाँत पिछले हिस्से में कुछ विशाल थे, सफेद थे और स्वर्ण खोल से युक्त थे। वे हाथी स्वर्ण और मणि रत्नों से भूषित थे।

**तयाऽणांतरं सच्छत्ताणं सज्झयाणं सघंटाणं सपडागाणं सतोरणवराणं सनंदिघोसाणं सखिखिणीजालपरिक्खित्ताणं हेमवयचित्ततेणिसकणग-णिज्जुत्तदारुयाणं कालायससुकय णेमि-जंत-कम्माणं सुसिलिट्ठवत्तमंडलधुराणं ×आइण्ण-वरतुरग-सुसंपउत्ताणं कुसलनरच्छेयसारहि-सुसंपग्गहिआणं * बत्तीस-तोणपरिमंडियाणं •सकंकडवडेंसगाणं सचावसर-पहरणा-वरण-भरिय-जुद्ध-सज्जाणं अट्ठसयं रहाणं पुरओ अहाणु-पुव्वीए संपट्ठियं।**

इसके बाद एक सौ आठ रथ यथाक्रम आगे बढ़ाये गये। वे रथ, छत्र, ध्वज, घण्टा, पताका, तोरण और नंदिघोष (=बारह प्रकार के वाजों की ध्वनि) से युक्त थे। छोटी घण्टियों या घूंघरियों के जाल से ढँके हुए थे। उनमें हिमवान् पर्वत पर उत्पन्न हुए विविध प्रकार के तिनिश (=शीशम की जाति के)

---

× क्व० दृ०—सुसंविद्ध-चक्कमंडलधुराणं।

* क्व० प०—हेमजाल गवक्खजाल खिखिणिघण्टाजाल परि-क्खित्ताणं।

• क्व० प०—बत्तीस तोरण....।

वृक्ष की स्वर्ण खचित लकड़ी लगी हुई थी। 'कालायस'(=एक जाति का लोहा) से नेमि (=पहिये की परिनी=पाटे) को वन्धन-क्रिया (=यन्त्र कर्म) के द्वारा सुन्दर वनाई गई थी। उन रथों की धुराएँ सुश्लिष्ट(=उत्तम रीति से संधी हुई)और बिलकुल गोल थीं। उनमें जातिवान् सुन्दर घोड़े जुते हुए थे और उनकी वागडोर, सारथि-कला में कुशल पुरुष थामे हुए थे। वे बत्तीस तोणों (=तरकशो) से सुसज्जित थे। कवचों और टोपों से युक्त थे। उनमें धनुष्य, वाण, खड्ग आदि युद्ध की सामग्री भरी हुई थी।

टिप्पण-नंदिघोष अर्थात् वारह प्रकार के तूर्यों (=बाजों) का घोष। बारह तूर्य ये हैं-

भंभा १, मउंद २, मद्दल ३, कडंब ४, झल्लरि ५, हुडुक्क ६, कंसाला ७। काहल ८, तलिमा ९, वंसो, १०, संखो ११, पणवो १२, य वारसमो ॥

**तयाऽणंतरं च णं असि-सत्ति-कोंत-तोमर-सूल-लउड-भिंडिमाल-धणु-पाणिसज्जं पायत्ताणीयं** × **पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।**

उन रथो के पीछे तलवार, शक्ति, कुन्त (भाला), शूल, लकुट (लट्ठियाँ), भिण्डिमाल और धनुष हाथ में लिये हुए, पदातिदल (=पैदल कटक)आगे आगे क्रमशः चल रहा था।

---

× वाचनान्तरे-'सनद्धवद्धवम्मियकवयाणं उप्पीलियसरासण वट्टियाणं पिनद्धगेवेज्जविमलवरवद्धचिंघपट्टाणं गहियाउहप्पहरणाणं-' इति विशेषः।

**तए णं से कूणिए राया हारोत्थय-सुकयरययवच्छे कुंडल-उज्जोविआणणे मउडदित्तसिरए णरसीहे णरवई णरिंदे णर-वसहे मणुय-राय-वसभकप्पे अब्भहिय-राय-तेयलच्छीए दिप्प-माणे हत्थिक्खंधवरगए**

उनके बाद थे वह कूणिकराजा। उनका वक्षस्थल हारों से सुशोभित था। कुण्डलो से मुख द्युतिमान हो रहा था। मुकुट से शिर देदीप्यमान था। वह नरों में सिंह,नरों के स्वामी नरों के इन्द्र, नरों में (लिए हुए भार के निर्वाहक) वृषभ और नृपतियों के नायक (=चक्रवर्ती) के तुल्य थे। हाथी के श्रेष्ठ स्कंध (=खन्धे) पर स्थित अत्यधिक राजतेज रूप लक्ष्मी से देदीप्यमान थे।

**सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं वेसमणे× चेव णरवई अमरवई-सण्णिभाए इड्ढीए पहियकित्ती**

कोरंट पुष्प की माला से युक्त छत्र को धारण किये हुए थे। श्रेष्ठ सफेद चामर डुलाये जा रहे थे। वैश्रमण, नर-पति (=चक्रवर्ती) और अमरपति (=इन्द्र) के तुल्य ऋद्धि से प्रसिद्ध कीर्तिवाले थे।

**हयगयरहपवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए समणु-गम्ममाणमग्गे जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव पहारेत्थ गमणाए।**

× 'वेसमणो'-अपि दृश्यते।

तए णं तस्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स पुरओ महंआसा आसधरा†, उभओ पासिं णागा णागधरा, पिट्ठओ रह-संगेल्लि ।

वह अश्व, गज, रथ और श्रेष्ठ योद्धा रूप चतुरंगिणी सेना से अनुगम्यमान (=अनुगमन किये जाते हुए) मार्ग में जहाँ पूर्णभद्र चैत्य (=उद्यान) था वहां जाने के लिए, इच्छा सहित प्रवृत्त हुए । तब भंभसारपुत्र कूणिक राजा के आगे बड़े बड़े घोड़े और घुड़ सवार थे, आजु बाजु हाथी और हाथी सवार थे और पीछे रथ समुदाय था ।

तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते अब्भुग्गयभिंगारे पग्ग-हियतालियंटे उच्छियसेयच्छत्ते पवीइयवालवीयणीए सव्वि-ड्ढीए सव्वजुत्तीए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्व-विभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं *सव्वपुप्फ गंध (वास) मल्लालंकारेणं +सव्वतुडिअसद्दसण्णिणाएणं, महया इड्ढीए महया जुत्तीए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडिअजमगसमगपवाइएणं संख-पणव-पडह-भेरि-झल्लरि-

---

† आसवरा-त्ति पा० ।

* पदचतुष्कमिदं अधिकमपि दृ०—'सव्वपगईहिं सव्वनायगेहिं सव्वतालायरेहिं सव्वोरोहेहिं' ।

+ क्व० दृ०—'सव्वपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारविभूसाए' त्ति ।

खरमुहि-हुडुक्क-मुरव-मुइंग-दुंदुभि-णिग्घोसणाइयरवेणं चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिगच्छइ ।

वह भंभसारपुत्र कूणिक राजा चम्पानगरी के मध्य से होकर जा रहा था। उसके सामने सोवनझारी (पुरुष के द्वारा) उठाई हुई थी। (किसी के द्वारा) पंखा झला जा रहा था। (किसी के हाथ में) सफेद छत्र थमा हुआ था। इस प्रकार झली जाती हुई वालव्यजनिका (=छोटे पंखे या चँवरी), सर्व ऋद्धि (=आभरणादि रूप लक्ष्मी), सर्व युक्ति (=परस्पर उचित पदार्थों के संयोग), सर्व बल (=सेना), सर्व समुदय (=परिवारादि समुदाय), सर्व आदर (=प्रयत्न), सर्व विभूति सर्व विभूषा, सर्व सम्भ्रम (=भक्ति जन्य उत्सुकता), सर्व पुष्प, वास, माल्य और अलंकार और सर्व बजते हुए बाजो से युक्त एव महती ऋद्धि, महती युक्ति, महती सेना, महान् समुदय, और एक साथ बजते हुए बहुत-से वाजे के साथ थे। शंख, भाण्डों के ढोल, नगाडे, भेरी, झल्लरी, खरमुही (=काहला), हुडुक्का, मुरज, मृदंग और दुंदुभि के निर्घोष की ध्वनि गूँज रही थी।

टिप्पण—ऋद्धि आदि पदार्थों की सर्वता होने पर भी महत्ता नहीं भी हो, अतः उनकी महत्ता दिखाने के लिये उन्हीं पदार्थों का 'महत्' विशेषण के साथ पुनः कथन किया गया है। —टीकाकार

३२—तए णं कूणियस्स रण्णो चंपा नगरिं मज्झं-मज्झेणं णिग्गच्छमाणस्स बहवे अत्थत्थिया कामत्थिया

भोगत्थिया लाभत्थिया किब्बिसिया करोडिया कारवाहिया संखिया चक्किया णंगलिया मुहमंगलिया वद्धमाणा पूसमाणवा खंडियगणा ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं मणोभिरामाहिं● वग्गूहिं जयविजयमंगलसएहिं अणवरयं अभिणंदंता य अभिथुणंता य। एवं वयासी–'जय जय णंदा! जय जय भद्दा! भद्दं ते। अजियं जिणाहिं। जियं (च) पालेहि। जियमज्झे वसाहि।'

चम्पानगरी के मध्य से होकर निकलते हुए कूणिक राजा को बहुत से अर्थार्थी (=धन-प्राप्ति के अभिलाषी), कामार्थी (=मनोज्ञ शब्द और रूप की प्राप्ति के अभिलाषी), भोगार्थी (मनोज्ञ गंध,रस और स्पर्श की प्राप्ति के अभिलाषी), लाभार्थी (=मात्र भोजनादि के इच्छुक), किल्विषिक (=भांड आदि), कापालिक, करपीडित, शांखिक (=शंख फूंकने वाले), चाक्रिक (=चक्र नामक शस्त्र के धारक या कुंभकार, तैलिक आदि), लांगलित (=भट्ट विशेष या किसान), मुखमांगलिक (=चाटुकार), वर्द्धमान (=स्कंधों पर पुरुषों को आरोपित करनेवाले), भाट-चारण और छात्र समुदाय के द्वारा इष्ट (=वाञ्छित), कान्त (=कमनीय=सुन्दर), प्रिय, मनोज्ञ (=मन

● वाचनान्तरे–'उरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धण्णाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरीयाहिं हिययगमणिज्जाहिं हिययपल्हायणिज्जाहिं मिय महुरगंभीरगाहिगाहिं अट्ठसइयाहिं (अपुणरुत्ताहिं)'–इत्यधिकम्।

को खीचनेवाली), मनोऽम (=मन को भानेवाली) और मनोऽभिराम (=मन में रम जाने वाली) वाणी से तथा जय-विजय आदि सैकड़ों मांगलिक शब्दो से लगातार अभिनन्दना (आनन्दवर्धक बधाई) और अभिस्तवना (=स्तुति) की जा रही थी। वे इस प्रकार बोल रहे थे–'हे नन्द ! (=भुवन में समृद्धि के करने वाले !) (तुम्हारी) जय हो ! जय हो !' 'हे भद्र ! (=कल्याणवान् ! या कल्याणकारि !) (तुम्हारी) जय हो ! जय हो !' 'आपका कल्याण हो ! नहीं जीते हुओं को जीतें। जीते हुए (व्यक्तियों) का पालन करे। जीते हुए (व्यक्तियो) के बीच में निवास करें।'

**इंदो इव देवाणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाणं, चंदो इव ताराणं, भरहो इव मणुयाणं, बहूइं वासाइं, बहूइं वाससयाइं, बहूइं वाससहस्साइं, बहूइं वाससयसहस्साइं, अणहसमग्गो हट्ठतुट्ठो परमाउं पालयाहि।**

'देवों में इन्द्र के समान, असुरो में चमर (इन्द्र) के समान, नागों में धरण (इन्द्र) के समान, ताराओं में चन्द्र के समान और मनुष्यो में भरत (चक्रवर्ती) के समान बहुत वर्षों तक, बहुत-सी शताब्दियो तक, बहुत-सी सहस्राब्दियों (=हजारों वर्षों) तक, बहुत-सी शतसहस्राब्दियों (=लाखों वर्षों) तक, दोष रहित सपरिवार अति सन्तुष्ट और परमायु अर्थात् उत्कृष्ट आयु भोगें।

इट्ठ जणसंपरिवुडो चंपाए णयरीए, अण्णेसिं च बहूणं गामा-गर-णयर-खेड- कव्वड- मडंब-दोणमुह-पट्टण-आसम- निगम-संवाह-संनिवेसाणं आहेवच्चं पोरेवच्चं • भट्टित्तं सामित्तं महय-रत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे, महयाऽऽहय-णट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुयंगपडुप्पवाइयरवेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहराहि-त्तिकट्टु जय जय सद्दं पउंजंति।

'इष्टजन से परिवृत्त होकर, चम्पा नगरी का एवं और भी बहुतसे ग्राम, आकर ( =लवण आदि के उत्पत्ति-स्थान), नगर ( =कर से मुक्त शहर), खेट ( =धूलिकोट वाले गाँव), कर्वट (=कुनगर), मडम्ब, द्रोणमुख ( =जलपथ और स्थलपथ से युक्त निवासस्थान), पत्तन ( =बन्दरगाह अथवा केवल जलमार्गवाली या केवल स्थलमार्गवाली वस्ती) आश्रम, निगम, संवाह ( =पर्वत की तलेटी आदि के गाँव) और सन्निवेश ( =घोष आदि) का आधिपत्य, पुरोवर्तित्त ( =आगेवानी), भर्तृत्त्व (=पोषकता), स्वामित्व, महत्तरत्त्व ( =बड़प्पन) और आज्ञा कारक सेनापतित्त्व करते हुए-पालन करते हुए, कथा-नृत्य, गीतिनाटच, वाद्य, वीणा, करताल, तूर्य, मेघ, मृदंग को कुशल पुरुषों के द्वारा बजाये जाने से उठनेवाली महाध्वनि के साथ विपुल भोगों को भोगते हुए विचरें'-यों कहकर, वे व्यक्ति

• व्युत्क्रमः क्वचित् ।

जयघोष करते थे ।

टिप्पण–'पत्तनं रत्नभूमिरित्यन्ये' अर्थात् दूसरे आचार्य 'पत्तन' का रत्नभूमि अर्थ करते हैं । 'आहयत्ति-आख्यानकप्रतिबद्धं, अहतं वा अव्यवच्छिन्नं, आहतं वा-आस्फालितं यन्नाट्यं-नाटकम्' अर्थात् कथाबद्ध या लगातार या नाचकूद युक्त नाटक । 'तलतालाश्च हस्तास्फोटरवाः, तला वा हस्ताः, तालाः कंशिकाः' अर्थात् तलताल यानी तालियों की आवाज या तल=हाथ और ताल=कंशिका (=कांसी का वाद्य-सं०) ।–टीकाकार ।

तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते णयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे पेच्छिज्जमाणे हिययमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्ज-माणे अभिणंदिज्जमाणे, †मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्प-माणे विच्छिप्पमाणे, वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे, कंतिसोहग्गगुणेहिं पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे,

तब भंभसारपुत्र कूणिकराजा, हजारो नयनमालाओं से दर्शित बनता हुआ, हजारो हृदयमाला से अभिनदित होता हुआ, हजारों मनोरथ माला से (उसके सहवास में निवास के लिये) वाञ्छित होता हुआ, कान्ति-सोभाग्य से प्रार्थित होता हुआ, हजारों वचनों से प्रशंसित होता हुआ ।

बहूणं णरणारिसहस्साणं दाहिणहत्थेणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे, मंजुमंजुणा घोसेणं पडिपुच्छमाणे पडिपुच्छमाणे +, भवणपंतिसहस्साइं समइच्छमाणे समइच्छ-

† उसइज्जमाणे-त्ति पा० ।

+ पडिबुज्झमाणो-त्ति० पा० । अपडिबुज्झमाणो-त्ति पा० ।

माणे, × चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ ।

वहुत-से हजारो नर नारियों की हजारों अञ्जलिमाला को (नमस्कार) स्वीकार करता हुआ, मींठे कोमल स्वर से कुशलवार्ता पूछता हुआ और हजारो भवनो की पंक्तियों को लांघता हुआ, चम्पानगरी के बीचोंबीच होकर निकला ।

## भगवान् की पर्युपासना

णिगच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्ताईए तित्थयराइसेसे पासइ ।

चम्पानगरी से निकलकर, जहां पूर्णभद्र चैत्य था, वहां आये । वहां आकर, न अधिक नजदीक न अधिक दूर ऐसे

---

× वाचनान्तरे त्वेवं—तंती-तल-ताल-तुडिय-गीय-वाइयरवेणं (महुरेणं) मणहरेणं जयसद्दुग्घोसविसएणं मंजुमंजुणा घोसेणं अपडिवु-ज्झमाणे,कंदरगिरि-विवर-कुहरगिरिवर पासादुद्ध-घण-भवण-देवकुल-सिंघा-डग-तिग-चउक्कचच्चरआरामुज्जाणकाणणसभापवापदेसदेसभागे पडिसद्द (डिसुआ) सयसहस्ससंकुलं करेंति । हयहेसिय हत्थिगुलगुलाइय रहघणा-घणसद्दमीसएणं महया कलकलरवेणं जणस्स महुरेण पूरयंते,सुगंधवरकुसुम-चुण्णउव्विद्धवासरेणुकविलं नभं करेंते, कालागुरुकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवनिवहेण-जीवलोगमिव वासयंते, समंतओ खुभियचक्कवालं, पउरजणवालवुड्ढपमुइ-यतुरियपहाविय विउलाउलवोलवहुलं नभं करेंते–इति ।

स्थान से श्रमण भगवान् महावीर के छत्र आदि तीर्थङ्कर के अतिशय (=विशेषताएँ) देखे।

**पासित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं ठवेइ। ठवित्ता आभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ।**

तब आभिषेक्य हस्तिरत्न को खड़ा रखा और उससे नीचे उतरे।

**आभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहित्ता अवहट्टु पंच रायककुहाइं। तं जहा—खग्गं छत्तं उप्फेसं वाहणाओ वालवीयणं।**

हस्तिरत्न से उतरकर, पाँच राजचिन्हों को अलग किये यथा—खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानद् (=जूते) और चामर।

**जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छति। तं जहा—१ सच्चित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए २ अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, ३ एगसाडियं उत्तरासंगकरणेणं, ४ चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं*, ५ मणसो एगत्तभावकरणेणं।**

फिर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आये और पांच अभिगम (=धर्म सभा के औपचारिक नियम) सहित श्रमण भगवान् महावीर के सन्मुख गये। यथा—१ सचित्त

* हत्थिक्खंधविट्ठंभणयाए-त्ति वा०।

(=सजीव) द्रव्यों को छोड़ना, २ अचित्त द्रव्यों का व्यवस्थित करना, ३ एक शाटक, (=अखण्ड-बिना सिला हुए वस्त्र दुपट्टे) से उत्तरासंग (=उत्तर=श्रेष्ठ+आसग=लगाव) करना, ४ धर्म-नायक के दृष्टि गोचर होते ही हाथ जोड़ना और ५ मन का एकत्त्व भाव करना या एक चित्त होना।

**समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदति णमंसति।**

फिर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा की....वन्दना की और उन्हें नमस्कार किया।

**वंदित्ता णमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ। तं जहा—काइयाए वाइयाए माणसियाए।**

वंदना नमस्कार करके, तीन प्रकार की पर्युपासना से पर्युपासना करने लगा। यथा—कायिकी, वाचिकी और मानसिकी।

**काइयाए ताव संकुइयग्गहत्थपाए सुस्सूसमाणे णमंसमाणे, अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ।**

कायिकी—हाथ-पैर को संकुचित करके श्रवण करते हुए—नमस्कार करते हुए, भगवान् की ओर मुंह रखकर, विनय से हाथ जोड़े हुए, पर्युपासना करता था।

**वाइयाए—जं जं भगवं वागरेइ—एवमेयं भंते! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते! असंदिद्धमेयं भंते! इच्छिअमेयं भंते!**

**पडिच्छियमेयं भंते ! इच्छिय पडिच्छियमेयं भंते ! से जहेयं तुब्भे वदह–अपडिकूलमाणे पज्जुवासइ ।**

वाचिकी–जो जो भगवान् कहते, उससे–'यह ऐसा ही है भन्ते !' 'यही तथ्य है भन्ते !' यही सत्य है भन्ते !' 'निः-संदेह ऐसा ही है भन्ते !' 'यही इष्ट है भन्ते !' 'यही स्वीकृत है भन्ते !' 'यही वाञ्छित-गृहीत है भन्ते !–जैसाकि आप यह कह रहे हैं ।'–यों अप्रतिकूल बनकर पर्युपासना करता था।

**माणसियाए महया संवेगं जणइत्ता तिव्वधम्माणुरागरत्तो पज्जुवासइ ।**

मानसिकी–अति संवेग (=उत्साह या मुमुक्षुभाव) उत्पन्न करके, धर्म के अनुराग में तीव्रता से आरक्त होकर पर्युपासना करता था ।

**३३–तए णं ताओ +सुभद्दापमुहाओ देवीओ अंतो अंतेउरंसि ण्हायाओ जाव पायच्छित्ताओ सव्वालंकार-विभूसियाओ,‡**

तब (=भगवान् के आगमन की सूचना मिलने पर)

---

+ क्व. दृ.–धारिणीप्पमुहाओ-त्ति ।

‡ वा.–वाहुयसुभयसोवत्थियवद्धमाणपुस्समाणवजयविजयमंगल-सएहिं अभिथुव्वमाणीओ कप्पायछेयायरियरइयसिरसाओ, महया गंधद्धणि मुयंतीओ...

अन्तःपुर में निवास करनेवाली सुभद्रा प्रमुख देवियों ने स्नान किया....यावत् प्रायश्चित्त किया और वे सभी अलंकारों से विभूषित हुई।

**बहूहिं खुज्जाहिं चिलाईहिं वामणीहिं वडभीहिं बब्बरीहिं पयाउसियाहिं जोणियाहिं पण्हवियाहिं इसिगिणियाहिं वासिइणियाहिं लासियाहिं लउसियाहिं सिंहलीहिं दमीलीहिं आरबीहिं पुलंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सबरियाहिं पारसीहिं णाणादेसीविदेसपरिमंडियाहिं* इंगियचिंतियपत्थिय×विजाणियाहिं सदेसणेवत्थग्गहियवेसाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरकंचुइज्जमहत्तरगवंदपरिक्खित्ताओ अंतेउराओ णिग्गच्छंति।**

फिर बहुत-सी कुब्जाओं, चेटिकाओं, वामनियों, वडभियों, बब्बरी, पयाउसिया, जोणिआ, पण्हविआ, इसिगिणिया वासिइणिया, लासिया, लउसिया, सिंहली, दमिली, आरबी, पुलंदी, पक्कणी, बहली, मुरुंडी, सबरी और पारसी—इन नाना देश-विदेश की निवासिनियो—जो कि अपनी स्वामिनी के इंगित (=मुखादि के चिन्ह, या चेष्टा), चिन्तित (सोची हुई बात) और प्रार्थित (=अभिलषित बात) की जानकार थी, जो अपने अपने देश की वेशभूषा को पहने हुए थीं. उन चेटियों के समूह

* विदेश परिपिंडियाहिं—इति वा.—

× इंगियचिंतियपत्थियमणोगत...इति पा.।

वर्षधर (=नाजर, कृत नपुंसक), कंचुकीय (=अन्त:पुर के रक्षक) और महत्तरग (=अंत:पुर के रक्षकों के अधिकारी) से घिरी हुई, अन्त:पुर से निकली।

**अंतेउराओ णिग्गच्छित्ता जेणेव पाडिएक्कजाणाइं तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं दुरूहंति।**

....जहां प्रत्येक के यान खड़े थे, वहां आयी और.... जुते हुए यात्राभिमुख यानों पर सवार हुई।

**दुरूहित्ता णियगपरियाल सद्धिं संपरिवुडाओ चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति। णिग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छंति।**

...अपने परिवार से घिरी हुई चम्पानगरी के मध्य से होकर निकली।...जहां पूर्णभद्र चैत्य था, वहां आयीं।

**उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तादिए तित्थयरातिसेसे पासंति। पासित्ता पाडिएक्क पाडिएक्काइं जाणाइं ठवंति। ठवित्ता जाणेहिंतो पच्चोरुहंति।**

...दृष्टि योग्य स्थान से श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थङ्करत्व सूचक छत्रादि अतिशय देखे।.. तब यानों को ठहराये और...उनसे नीचे उतरी।

**जाणेहिंतो पच्चोरुहित्ता बहूहिं खुज्जाहिं जाव परिक्खित्ताओ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति। तेणेव**

**उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति। तं जहा–१ सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए २ अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, ३ विणओणताए गायलट्ठीए ४ चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं ५ मणसो एगत्त-करणेणं।**

...,बहुत-सी कुब्जाओ से...यावत् घिरी हुई, जहां श्रमण भगवान् महावीर थे, वहां आयीं और पांच अभिगम सहित उनके सन्मुख गई। यथा–१सचित्त द्रव्यों को छोड़ना, २ अचित्त द्रव्यों को नहीं छोड़ना, ३ विनय से देह को झुकाना ४ चक्षु.स्पर्श होने पर हाथ जोड़ना और ५ मन को एकाग्र करना।

**समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति। वंदंति। णमंसंति। वंदित्ता णमंसित्ता कूणियरायं पुरओ कट्टु ठिइयाओ चेव सपरिवाराओ अभिमुहाओ विणएणं पंजलिउडाओ पज्जुवासंति।**

फिर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा की। वन्दना की। नमस्कार किया।...कूणिकराजा को आगे रखकर, परिवार सहित स्थित होकर, भगवान् की ओर मुख रखकर, विनय से करबद्ध होकर पर्युपासना करने लगीं।

टिप्पण–'ठिइयाओ' का टीकाकार ने 'ऊर्ध्वस्थिता' अर्थात् ,खड़ी

हुई' अर्थ किया है। तो उन्होंने ऐसा भक्तिभाव से किया था ? या समवसरण में स्त्रियों को बैठने का अधिकार नहीं था ?—और ऐसा था तो क्यों ?—न इसका रहस्य समझ में आया और न कहीं इसका स्पष्टीकरण ही देखने में आया।

विचार करने पर यह अर्थ उचित नहीं लगता है। मूल पाठ में भी ऐसे अर्थ का भास नहीं होता है और सभा-विसर्जन के समय का पाठ तो इस अर्थ से बिलकुल विपरीत अर्थ को बतला रहा है। वहां सुभद्रा प्रमुख देवियों के लिए ,उट्ठाए उट्ठित्ता' शब्दों के प्रयोग की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। अतः यह अर्थ ठीक लगता है कि—कूणिकराजा को आगे करके...वहीं पर ठहरी अर्थात् कूणिकराजा आगे और वे पीछे ठहरीं।

## भगवान् महावीर की धर्म देशना

३४—तए णं समणे भगवं महावीरे कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स सुभद्दाप्पमुहाणं देवीणं तीसे य महइ● महालियाए परिसाए इसीपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए देवपरिसाए अणेगसयाए अणेगसयवंदए अणेगसयवंदपरियालाए+ ओहबले अइबले महब्बले अपरिमियबलवीरियतेयमाहप्पकंतिजुत्त सारयनवत्थणियमहुरगंभीरकोच णिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरे वित्थडाए, कंठेऽवट्ठियाए, सिरे समाइण्णाए,

● महति—इति पा०।

+ परिवाराए—इति पा०।

**अगरलाए अमम्मणाए सव्वक्खरसन्निवाइयाए पुण्णरत्ताए× सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सइए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए (भासंति अरिहा)* धम्मं परिकहेइ।**

तव ओघबली (=सदा समान बलवाले), महाबली (=प्रशस्त बलवाले), अपरिमित शारीरिक शक्ति (=बल= शारीरिक प्राण), वीर्य (=आत्म जनित बल), तेज, माहत्म्य (=महानुभावता) ओर कान्ति से युक्त ओर शरद ऋतु के नव-मेघ की मधुर-गंभीर ध्वनि, क्रौंच पक्षी के निर्घोष और दुंदुभि-नाद के समान स्वरवाले उन श्रमण भगवान् महावीर ने भंभसारपुत्र कूणिक को, सुभद्रा आदि देवियो को, कई सौ कई सौ वृन्द और कई सौ वृन्द परिवार वाली उस अति विशाल परिषद् को, ऋषि (=अतिशय ज्ञानी साधु)–परिषद् को. मुनि (=मौनधारी साधु परिषद् को, यति (=चरण में उद्यत साधु) परिषद् और देव परिषद् को, हृदय में विस्तृत होती हुई, कण्ठ में ठहरती हुई, मस्तक में व्याप्त होती हुई, अलग-अलग निज स्थानीय उच्चारणवाले अक्षरो से युक्त, अस्पष्ट उच्चारण से रहित (या हकलाहट से रहित), उत्तम स्पष्ट वर्ण-संयोगों से

---

× फुडविसयमहुरगंभीरगाहियाए सव्वक्खरसण्णिवाइएइदम–धिकम्।

* कोष्ठक गत पाठ टीका से और अर्थ संगति की दृष्टि से भी उचित प्रतीत नहीं होता है। अथवा 'अद्ध.....अरिहा' यह वाक्य अन्य स्थान का भी हो सकता है। क्योकि आगे भी भाषा का उल्लेख है।

युक्त, स्वरकला से संगीतमय और सभी भाषाओं में परिणत होनेवाली सरस्वती के द्वारा, एक योजन तक पहुंचने वाले स्वर से, अर्धमागधी भाषा में धर्म को पूर्णरूप से कहा।

**तेसिं सव्वेसिं आयरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ। साऽविय णं अद्धमागहा भासा, तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ।**

उन सभीं आर्य-अनार्यो को अग्लानि से (=तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय से अनायास—बिना थकावट के) धर्म कहा। वह अर्द्धमागधी भाषा भी, उन सभी आर्य-अनार्यों की अपनी-अपनी-स्वभाषा में परिवर्तित हो जाती थी।

**तं जहा—अत्थि लोए। अत्थि अलोए। एवं जीवा अजीवा, बंधे मोक्खे, पुण्णे पावे, आसवे संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरिहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरगा, नेरइया, तिरिक्खजेणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसओ, देवा, देवलोया, सिद्धी, सिद्धा, परिणिव्वाणं, परिणिव्वुया**

वह यथा—'लोक है। अलोक है। इसी प्रकार जीव,—अजीव, बध—मोक्ष, पुण्य-पाप, आश्रव—संवर, वेदना-निर्जरा, अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव—वासुदेव, नरक-नैरयिय, तिर्यञ्च-योनिक-तिर्यञ्चयोनिका, माता-पिता, ऋषि, देव-देवलोक, सिद्धि-सिद्ध और परिनिर्वाण-परिनिर्वृत है।

टिप्पण—शून्यवाद के निरसन के लिए लोक और अलोक के

अस्तित्त्व का प्रतिपादन है। जीव के अस्तित्त्व के प्रतिपादन से लोकायत मत का निषेध होता है अर्थात् जड़-अद्वैतवाद का खण्डन होता है और अजीव के अस्तित्त्व की मान्यता से पुरुष-अद्वैतादि वाद का। बंध और मोक्ष के प्रतिपादन से इस मत का निषेध हो जाता है कि–'नानां आश्रया प्रकृति ही वद्ध और मुक्त होती है, न कि आत्मा।' 'पाप की ही हानि-वृद्धि सुख-दुःख में कारण है या पुण्य की-वृद्धि-हानि। अतः पाप ही है या पुण्य ही है'–इस एकान्त मान्यता पर, पाप-पुण्य रूप द्वन्द्व का प्रतिपादन प्रहार करता है और इस मान्यता पर भी कि–'जगत-वैचित्र्य का कारण एक मात्र स्वभाव ही है। आश्रव और संवर के अस्तित्त्व से वन्ध-मोक्ष की निष्कारणता का प्रतिषेध होता है या वीर्य की प्रधानता का उद्घोष। वेदना (=कर्म का अनुभव या पीड़ा) और निर्जरा (=देशतः कर्मक्षय) के अस्तित्त्व से 'बिना भोगे कर्म क्षीण नहीं होते हैं'–इस बात का प्रतिपादन होता है। अर्हदादि चार की सत्ता का कथन, उनके अतिशायित्त्व (=जगत् श्रेष्ठत्त्व) को अविश्वास की दृष्टि से देखनेवालों में, उस विषय में श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिए है। 'प्रमाण ग्राह्य नही होने से नरकादि नहीं है' इस मत का निषेध, नरक-नैरयिक के अस्तित्त्व से होता है। तिर्यंग् आदि के प्रतिपादन से यह मत ध्वस्त हो जाता है कि–'प्रत्यक्ष प्रमाण की भ्रान्ति के कारण, यह कुवासनादि जन्य तिर्यगादि-प्रतिभास है। वस्तुतः उनकी सत्ता नहीं है।' माता-पिता के अस्तित्त्व के कथन से उनकी उपकारिता का निर्देश होता है और इस मत का निरास, कि–'माता-'पिता जनकता को अपेक्षा से कहे जाते है। तो फिर जूं,कृमि, गण्डोलक आदि को आश्रय करके भी यह व्यवहार होना चाहिए। क्योंकि वे भी अंगज है। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए यह माता-पितृ रूप व्यवहार वास्तविक नहीं है।' 'ऋषि' की सत्ता से–'पुरुषों के रागादिवाले होने के कारण कोई भी अतीन्द्रिय पदार्थो का दृष्टा नहीं हो सकता है'–

इस मत का निषेध होता है। 'देव नहीं ह–प्रत्यक्ष नहीं होने से'–इस मत का खण्डन देव-सत्ता के कथन से होता है। इसी प्रकार के मतों की भ्रान्ति हटाने के लिए सिद्धि–(=सिद्धालय या कृतार्थता)–सिद्ध और परिनिर्वाण (=परम शान्ति)–परिनिर्वृत्त (=आनन्दघन) का कथन है। –टीकाकार

**अत्थि पाणाइवाए मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुणे परिग्गहे। अत्थि कोहे माणे माया लोभे....जाव मिच्छादंसणसल्ले।**

'प्राणातिपात (=प्राणघात, हिंसा), मृषावाद (=असत्य) अदत्तादान (=चोरी), मैथुन और परिग्रह है। क्रोध, मान, माया, लोभ....यावत् मिथ्यादर्शन शल्य है।'

टिप्पण–१ 'प्राणातिपात आदि बन्ध मोक्ष-के हेतु नहीं है। क्योंकि बन्धनीय-मोचनीय (=बन्धने-छुटने योग्य) जीव का अभाव है'–इस मत का निरास प्राणातिपात आदि की सत्ता के कथन से होता है। –टी०

२ 'जाव' शब्द से इन पदों का संग्रह होता है–'पेज्जे दोसे कलहे अब्भक्खाणे पेसुन्ने परपरिवाए अरइरई मायामोसे'। प्रेम (=अप्रकट माया और लोभ से व्यक्त होने वाला रोचकभाव), द्वेष (=अप्रकट मान और क्रोध से व्यक्त होनेवाला अरोचक भाव), कलह (=राटि, राड़), अभ्याख्यान (=असत्य दोषारोपण), पैशून्य (=किसी के गुप्त दोषों को प्रकट करना), परपरिवाद (=निन्दा), अरति रति (=अरति मोहनीय के उदय से चित्त-उद्वेग जन्य भाव और मोहनीय से विषयों में होनेवाली अभिरति अर्थात् क्लान्तिजन्य आकर्षण) और माया-मृषा (=कपट सहित झूठ=विश्वासघात)। 'मायामृषा' इस संयोगी शब्द के द्वारा, सभी पापो के संयोगिभावों को समझना चाहिए। इस शब्द के द्वारा तीसरे कषाय और दूसरे आश्रव के मिश्रित भाव को समझना चाहिए। अथवा वेषान्तर

और भावान्तर-करण से जो परवञ्चन किया जाता है वह मायामृषा है। –टीका०

अत्थि पाणाइवायवेरमणे मुसावायवेरमणे अदिण्णादाणवेरमणे मेहुणवेरमणे परिग्गहवेरमणे.....जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे।

'प्राणातिपात-विरमण (=प्राणघात से वृत्ति हटा लेना) मृषावाद-विरमण (=असत्य से वृत्ति हटा लेना), अदत्तादान विरमण (=चोरी से विरत होना), मैथुन विरमण, परिग्रह विरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य विवेक (=मिथ्या विश्वास रूप काँटे को त्यागना) है।'

टिप्पण–प्राणातिपात से विरमण और क्रोधादि के विवेक की सत्ता का कथन इसलिए है कि–'सर्वथा अप्रमाद अशक्य नहीं है, अतः वह स्थिति असंभव नहीं है'–इस बात के प्रतिपादन के द्वारा इसके मत का निरोध हो। –टी०

सव्वमत्थि भावं अत्थि–त्ति वयति। सव्वं णत्थिभावं णत्थित्ति वयति।

'सभी अस्तिभाव (=स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से होनें वाले भाव) को अस्ति है। यह कहा और सभी नास्तिभाव (=पर द्रव्यादि की अपेक्षा से होने वाले भाव) को 'नास्ति' (=नहीं है)–यह कहा। (अथवा तत्त्व का प्रतिपादन, विधानात्मक और निषेधात्मक–दोनों शैलियों से किया।)'

टिप्पण– सभी द्रव्यों में अस्ति और नास्ति भाव विद्यमान हैं-।

अस्ति-नास्ति भावों के अविरोधी संयोजन से ही, उनका वस्तुत्त्व कायम रह सकता है। अतः जैन धर्म की दृष्टि सापेक्ष है।

**सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति। दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति।**

'सद्-आचरण (=तपादि क्रियाएँ) सुचरितफल (=सुचरित के हेतु रूप पुण्यकर्मादि बन्ध रूप फल) वाले होते है और बुरे आचरण दुश्चरित (=अशुभ) फलवाले होते है।'

**फुसइ पुण्णपावे। पच्चायंति जीवा। सफले कल्लाण-पावए।**

'जीव (सुचरित से इन क्रियाओं से) पुण्य-पाप बांधते है। (जिससे) जन्म-मरण करते है। ( इस कारण ) कल्याण और पाप (=शुभाशुभ कर्म) सफल है।'

**धम्ममाइक्खइ-इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलए पडिपुण्णे संसुद्धे णेयाउए सल्लकत्तणे,**

(भगवान् प्रकारान्तर से ) धर्म की प्ररूपणा करने लगे-'यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन (=जड़-चेतन की ग्रन्थि को छुड़ाने वाला उपदेश=आत्मानुशासन) सत्य है। अनुत्तर (=सर्वोत्तम, अलौकिक) है। केवल (=अद्वितीय या केवलि प्रणीत या अनन्त अर्थ की विषयता के कारण अनन्त ) हैं। प्रतिपूर्ण (=अल्पग्रन्थतादि प्रवचन गुणों से सर्वांग सम्पन्न ) है। संशुद्ध (=कषादि से शुद्ध स्वर्ण के समान गुणपूर्णता के कारण निर्दोष) है। नैयायिक (=प्रमाण से बाधित नहीं होने वाला ) है। शल्यकर्तन (=मायादि शल्य का निवारक) है।

**सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे अवितह-मविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे,**

सिद्धिमार्ग(=कृतार्थता का उपाय)है। मुक्तिमार्ग (=कर्म रहित अवस्था का हेतु) है। निर्याणमार्ग(पुनः नही लौटनेवाले गमन का हेतु) है। निर्वाणमार्ग (=सकल संताप रहितता का पन्थ) है। अवितथ (=सद्भूतार्थ=वास्तविक) और अविसन्धि अर्थात् महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से इसका न कभी विच्छेद होता है और न कभी विच्छेद होगा और सर्व दुःख-प्रहीणमार्ग (=सकल दुःखों को निःशेष करने का पन्थ अथवा जहां सभी दुःख प्रहीण हैं ऐसे मोक्ष का यह मार्ग है।

**इहट्ठिया जीवा सिज्झंति। वुज्झंति। मुच्चंति। परिणिव्वा-यंति। सव्वदुक्खाणमंतकरेंति।**

इस ( प्रवचन में ) स्थित जीव सिद्ध (=सिद्धिगमन के योग्य अथवा इस लोक में अणिमादि महासिद्धियों को प्राप्त) होते है। बुद्ध (=केवलज्ञानी=पूर्णज्ञानी) होते हैं। मुक्त (=भवोपग्राही कर्मांश से रहित) होते है। परिनिर्वृत (=कर्मकृत सकल सताप से रहित=आनन्दघन) होते है और सभी दुःखो का अन्त करते है।

**एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।**

या फिर एक ही मनुष्य देह धारण करना शेष रही

हैं जिन्हें ऐसे (=एगच्चा) कोई भदन्त (=कल्याणी) किसी देवलोक में पूर्व कर्म के बाकी रहने से देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

टिप्पण—'भयंतारो' के अर्थ-विकल्प—१ भदन्ताः=कल्याणिनः=शुभ प्रवृत्तिवाले। २ भक्तारो वा=नैर्ग्रन्थ्य प्रवचनस्य सेवयितारः=निर्ग्रन्थ प्रवचन का सेवन करनेवाले। —टी०

'शुभ प्रवृत्तिवाले'—इस विशेषण और 'पूर्व कर्मविशेष' इस पद द्वारा 'तप और संयम का फल देवलोक ही है'—इस एकान्त मान्यता का निषेध होता है। अर्थात् संयमी के देवलोक में उत्पन्न होने का मुख्य कारण 'संवर और निर्जरा' नहीं; किंतु संवर और निर्जरा के कारणों का सेवन करते हुए होनेवाली शुभ प्रवृत्ति और क्षय होते-होते अवशिष्ट रहे हुए कर्म हैं।

'देवत्ताए' पद के द्वारा एकेन्द्रियादि रूप से उत्पन्न होने का निषेध होता है।

**महड्ढिएसु जाव महासुक्खेसु दूरंगइएसु चिरट्ठिईएसु, ते णं तत्थ देवा भवंति—महड्ढीए जाव चिरट्ठिईया हारविराइयवच्छा जाव पभासमाणा कप्पोवगा गतिकल्लाणा आगमेसिभद्दा जाव पडिरूवा।**

(वे देवलोक) महर्द्धिक यावत् महासौख्यवाले, अनुत्तर विमान तक की गतिवाले (=दूरंगतिक) और लम्बी स्थितिवाले हैं। वहां वे देव महर्द्धिक यावत् लम्बे आयुष्यवाले होते हैं। उनके वक्षस्थल हारों से सुशोभित होते हैं।....यावत् वे अपनी देहप्रभा से दसों दिशा में प्रभा फैलाते हैं। वे देवलोक में

उत्पन्न,शुभ गति के धारक और भविष्य काल में भद्र(=निर्वाण लक्षणात्मक) अवस्था को प्राप्त करनेवाले....यावत् प्रतिरूप होते हैं।

टिप्पण–इस 'सूत्र' में चार वार 'जाव' शब्द से पाठ को संक्षिप्त किया गया है। पहली वार के जाव से 'महज्जुइएसु महाबलेसु महायसेसु महाणुभागेसु', दूसरी वार के 'जाव' से–पूर्ववत्, तीसरी वार के जाव से–'कडयतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडकण्णपीठधारी विचित्तहत्थाभरणा दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा' और चौथी वार के 'जाव' से 'पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा' पदों का संग्रह किया गया है। अर्थ पूर्ववत्।

**तमाइक्खइ।**

(निर्ग्रन्थ प्रवचन के फलकथन का उपसंहार करते हुए कहा गया कि–) यह उसका फल है।

**एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरंति। णेरइत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइसु उववज्जंति।**

(भगवान् प्रकारान्तर से धर्म कहने लगे–) इस प्रकार के चार कारणों से जीव नैरयिक भव के कर्म का बन्ध करता है और...नरक में उत्पन्न होता है।

**तं जहा–महारंभयाए महापरिग्गहयाए पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं।**

यथा–महारंभता (=अत्यधिक हिंसा के भाव), महा

परिग्रहता (=अत्यधिक संग्रह के भाव), पञ्चेन्द्रियवध और मांसाहार से।

**एवं एएणं अभिलावेणं तिरिक्खजोणिएसु माइल्लयाए णियडिल्लयाए अलियवयणेणं उक्कंचणयाए वंचणयाए।**

इस प्रकार इस अभिलाप (=सूत्र पाठ) से तिर्यञ्च योनिकों में (उत्पन्न होते हैं)-यथा-मायावीपनसे, निकृति (=वेष आदि बनाकर ठगना) से, झूठ बोलने से और उत्कञ्चनता-(=मुग्ध जन को ठगने में प्रवृत्त हुए व्यक्ति का, समीपवर्ती किसी चतुर पुरुष के चित्त में सन्देह प्रविष्ट नहीं होने देने के लिए, क्षणभर के लिए, किसी प्रकार की क्रिया नहीं करती हुई-सी अवस्था में स्थित रहना) वञ्चनता (=प्रतारणा =धूर्तता) से।

**मणुस्सेसु-पगइभद्दयाए पगइविणीयताए साणुक्कोसयाए अमच्छरियताए।**

(इन कारणों से) मनुष्यों में (उत्पन्न होतें हैं)-यथा-स्वाभाविक भद्रता (=दूसरों को दुःखी नहीं करने के भाव या सरलता) से, स्वाभाविक विनीतता से, सदयता से और अमत्सरता (=अन्य के उत्कर्ष के प्रति ईर्ष्या का अभाव या गुणादि के उत्कर्ष में प्रमोदभावना) से।

**देवेसु-सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, अकामणिज्जराए बालतवोकम्मेणं। तमाइक्खइ।**

देवों में (उत्पन्न होते है–) सराग संयम से, संयमा-संयम (=देशविरति) से, अकाम निर्जरा (=निरुद्देश्य या विवशता वश कष्ट-सहना) से और बाल (=वास्तविक समझ से शून्य) तप से। –यह धर्म कहा।

जह णरगा गम्मंति, जे णरगा जा य वेयणा नरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्ख जोणीए ॥

जिस प्रकार नैरयिक नरक में जाते है और वहां पर जो नैरियक जैसी वेदना पाते है। तिर्यञ्च योनि में जो शारीरिक–मानसिक दुःख होते है। (उसका कथन किया)।

माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवे य देवलोए, देविड्ढिं देवसोक्खाइं ॥

व्याधि, बुढापा, मृत्यु और वेदना से भरपूर अनित्य मनुष्य भव का (स्वरूप) और देव और देवलोक, उनकी ऋद्धि एवं उनके सुख का (कथन किया)।

णरगं तिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोयं च।
सिद्धे य सिद्धवसहिं, छज्जीवणियं परिकहेइ ॥

नरक, तिर्यञ्च योनि, मनुष्य के भाव, देवलोक, सिद्ध, सिद्धालय और छह जीवनिकाय को सम्पूर्ण रूप से कहा।

जह जीवा बज्झंति, मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं, करंति केई अपडिबद्धा ॥

जिस प्रकार जीव बन्धते है, मुक्त होते है और जिस प्रकार महान् क्लेश पाते है एवं कई अनासक्त व्यक्ति जिस-प्रकार दुःखों का अन्त करते है (यह समझाया)।

**अट्टा अट्टियचित्ता,* जह जीवा दुक्खसागरमुविंति।**
**जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्गं विहाडंति ॥**

आर्त (=शरीर से दुःखी) और आर्तचित्तवाले जीव जिस प्रकार दु.खसागर में गिरते है और जिस प्रकार वैराग्य को प्राप्त होकर, कर्मदल को चूर कर देते है-(यह समझाया)।

**जहा रागेण कडाणं, कम्माणं पावगो फलविवागो।**
**जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुविंति ॥ +**

जिस प्रकार राग से किये हुए कर्मों का फल-विपाक पापरूप (होता है) और जिस प्रकार सकल कर्म से रहित सिद्ध सिद्धालय को प्राप्त होते है-(यह समझाया)।

**तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ। तं जहा--अगारधम्मं अणगार-धम्मं च।**

उसी धर्म को दो प्रकार का कहा। वह यथा--अगार-धर्म और अनगार धर्म।

---

* 'अट्टणियट्टियचित्ता'-त्ति पा०। 'अट्टदुहट्टियचित्ता'-इत्यपि पा०।

+ दूसरी वाचना में ये गाथाएँ भिन्न क्रम से कही गई है। फिर यह विशेष वर्णन है--'एवं खलु जीवा निस्सीला णिव्वया णिग्गुणा निम्मेरा णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासा अक्कोहा णिक्कोहा छीणक्कोहा अणुपुव्वेणं अणमिच्छमीससम्मा'--इत्यादिना क्रमेण।

**अणगारधम्मो ताव-इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयइ।**

जो अनगार धर्म...इस संसार में जो सर्वतः (=द्रव्य और भाव से) सम्पूर्ण आत्मा से (=सर्वात्मना=सभी क्रोधादि आत्म परिणामों के त्याग से) मुंड होकर, गृहवास से निकल-कर, अनगार अवस्था में जाते हे–

**सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं...मुसावाय वेरमणं...अदि-ण्णादाण वेरमणं...मेहुण वेरमणं...परिग्गह वेरमणं राईभो-यणाउ वेरमणं।**

वे सम्पूर्ण प्राणातिपात.....मृषावाद, अदत्तादान..... मैथुन...परिग्रह...और रात्रि भोजन से विरत (होते है)।

**अयमाउसो! अणगार सामइए धम्मे पण्णत्ते।**

आयुष्यमान्! यह अनगार सामयिक (=अनगारों का सैद्धान्तिक या समाचरणीय) धर्म कहा गया है।

**एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ।**

इस धर्म की शिक्षा में उपस्थित निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी विचरण करते हुए आज्ञा के आराधक होते हैं।

**अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ। तं जहा–पंचअणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं।**

अगार धर्म (=गृहस्थ उपासक का धर्म) बारह प्रकार

का कहा। यथा—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत।

**पंच अणुव्वयाइं। तं जहा—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं। थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं। सदारसंतोसे। इच्छापरिमाणे।**

पाँच अणुव्रत। यथा—स्थूल प्राणातिपात से निवृत्ति। स्थूल मृषावाद मे निवृत्ति। स्थूल अदत्तादान से निवृत्ति। स्व-स्त्री-संतोष और इच्छा की मर्यादा।

**तिण्णि गुणव्वयाइं। तं जहा—अणत्थदंडवेरमणं। दिसिव्वयं। उवभोग परिभोगपरिमाणं।**

तीन गुणव्रत (=गुणों की वृद्धि करनेवाले नियम)। यथा—अनर्थदण्ड( =आत्मगुणघातक निरर्थक प्रवृत्ति)का त्याग। दिग्व्रत ( =दिशाओं में गमन सम्बन्धी मर्यादा) और उपभोग ( =जिन्हे कई बार भोगी जा सके ऐसी वस्तुएँ-जैसे वस्त्र आदि) और परिभोग ( =एक ही बार भोगी जा सके ऐसी वस्तुएँ-जैसे खान-पान, उबटन आदि) का परिमाण।

**चत्तारि सिक्खावयाइं। तं जहा—सामाइयं। देसावगासियं। पोसहोववासे। अतिहिसंविभागे।**

चार शिक्षाव्रत ( =अभ्यास सम्बन्धी व्रत)। यथा—सामायिक ( =समभाव की सम्पूर्ण साधना के लिये किया जाने वाला नियत समय का अभ्यास)। दिशावकाशिक ( =नित्यप्रति

निवृत्ति की वृद्धि का अभ्यास) पौषधोपवास (= आत्मभाव के पोषण के लिये आहार, अब्रह्म आदि का नियत तिथियों में त्याग) और अतिथि के लिये विभाग (= अनिमंत्रित संयमीजन अथवा साधर्मी बन्धुओं को अपने अनुग्रह के लिये, संयमोपयोगी और जीवनोपयोगी स्व-अधिकृत सामग्री का भाग, आदर सहित देकर और सदैव संविभाग की भावानुवृत्ति से अकेले ही भोगने की भावना को दूर हटाने का अभ्यास)।

**अपच्छिमा मारणांतिया संलेहणाजूसणाराहणा। अयमाउसो! अगारसामइए धम्मे पण्णत्ते।**

अन्तिम मरण रूप अन्तवाली और तप के द्वारा काया को कृश बनाने वाली क्रिया की सेवना और आराधना (= ज्ञानादि गुणों को विशेष रूप से पालना)। आयुष्यमान्! यह आगार-सामयिक (गृहस्थाचार) धर्म कहा गया है।

**[एयस्स] धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति।**

'इस धर्म की शिक्षा में उपस्थित श्रमणोपासक वा श्रमणोपासिका जीवन व्यतीत करते हुए आज्ञा के आराधक होते हैं।'

## सभा-विसर्जन

**३५—तए णं सा महइमहालिया× मणूसपरिसा**

× ....महालिआ महच्चपरिसा'-त्ति टीकायाम्।

समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा-णिसम्म हट्ठतुट्ठ....जाव हियया उट्ठाए उट्ठेइ ।

तब वह विशाल मनुष्य-सभा, श्रमण भगवान् महावीर के समीप धर्म को सुनकर–हृदय में धारणकर, हर्षित, संतुष्ट... यावत् विकसित हृदय हुई और उठ खड़ी हुई ।

उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ । करेत्ता वंदइ णमंसइ ।

....श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा की...वन्दना की और नमस्कार किया ।

वंदित्ता णमंसित्ता अत्थेगइआ मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए । अत्थेगइया पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवण्णा ।

.....कई मुण्ड होकर गृहवास से निकलकर अनगार अवस्था में आये और कइयों ने पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रत रूप बारह प्रकार के गृहिधर्म को स्वीकार किया ।

टिप्पण–तीन गुणव्रत को भी शिक्षाव्रत में गिन लेने के ये कारण हो सकते हैं–कथन-संक्षेप, दोनों का उत्तरगुण होना, नियम रूप होना, अभ्यास रूप होना आदि ।

अवसेसा णं परिसा समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी--

शेष परिषदा ने श्रमण भगवान् महावीर को वंदना की–नमस्कार किया।....फिर इसप्रकार बोली–

**सुयक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे। एवं सुपण्णत्ते सुभासिए सुविणीए सुभाविए अणुत्तरे ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे।**

भंते ! आपने निर्ग्रन्थ-प्रवचन सुन्दर रूप से कहा। इसीप्रकार सुप्रज्ञप्त (=विशेषता युक्त उत्तम रीति से कहा हुआ), सुभाषित (=सुन्दर भाषा से कहा हुआ), सुविनीत शिष्यों में उत्तम विनियोजित) सुभावित (=तत्त्व कथन उत्तम भाव युक्त बना हुआ) और अनुत्तर (=सर्वोत्तम) है। भंते ! जड़-चेतन की ग्रन्थियों का मोचक है आपका उपदेश।

**धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भं उवसमं आइक्खह। उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह। विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह। वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह।**

आपने धर्म की व्याख्या करते हुए उपशम (=क्रोधादि के निरोध) का व्याख्यान किया। उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक (=बाह्य परिग्रह या बहिर्भाव के त्याग) का स्वरूप कहा। विवेक की व्याख्या करते हुए विरमण (=मन की निवृत्ति अथवा निज स्वरूप मे लौटने की प्रक्रिया) का कथन किया और विरमण की व्याख्या करते हुए पापकर्मों (=अशुभ भाव=आत्मा की मलिन अवस्था में गति) को नही करने का कहा।

टिप्पण—पापों का अकरण, विरमण, विवेक और उपशम ये क्रियात्मक धर्म के प्रमुख अंग हैं। क्रियात्मक धर्म पापकर्मों के त्याग से प्रारम्भ होकर, उपशम में प्रतिष्ठित होता है।

**णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणेवा जे एरिसं धम्म-माइक्खित्तए। किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं!**

नहीं है अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण—जो ऐसा धर्म कह सके। तो फिर इससे श्रेष्ठ धर्म का उपदेश कौन दे सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

**एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआ तामेव दिसं पडिगया।**

इस प्रकार कहकर, जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में वापिस गये।

## कूणिक और रानियों का गमन

**३६—तए णं कूणिए राया भंभसारपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ.... जाव हियए उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेत्ता वंदइ णमंसइ। वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—सुयक्खाए ते भंते! णिग्गंथे पावयणे....जाव किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं?—एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।**

तब भंभसारपुत्र कूणिक राजा.......वापिस गये ।

३७--तए णं ताओ सुभद्दापमुहाओ देवीओ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा-णिसम्म हट्ठतुट्ठ....जाव हिययाओ....उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेन्ति । करेत्ता वंदंति णमंसंति । वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-सुयक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे....जाव किमंग पुण इत्तो उत्तरतरं ? एवं वदित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूयाओ तामेव दिसिं पडिगयाओ । समोसरणं सम्मत्तं ।

तब सुभद्रा आदि देवियाँ.........वापिस गयी ।



## समवसरण वर्णन समाप्त

# औपपातिक पृच्छा

३८—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई नामं अणगारे गोयम-गोत्तेणं

उसकाल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम गौत्रीय इन्द्रभूति नाम के अनगार थे।

सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वइरोसहनारायसंघयणे कणगपुलगनिग्घसपम्हगोरे

वे सात हाथ ऊँचे थे। उनकी आकृति समचतुरस्र संस्थान-सस्थित थी। उनकी देहयष्टि का बन्धन सर्वोत्तम ( =वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन ) था। निकष (=सोने की कसौटी का पत्थर)पर अङ्कित स्वर्णरेखा-सी पद्मगोर (=कमल के गर्भ-सी गोरी) उनकी कान्ति थी।

उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ( घोरतवे ) उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी

वे उग्र तपस्वी, दीप्त ( =कर्मवन को जलाने के लिये प्रदीप्त अग्नि के समान ज्वलित तेजोमय)तपस्वी, तप्ततपस्वी,

महातपस्वी, भीम (=भयानक), घोर, घोरगुणी और घोर-तपस्वी थे।

टिप्पण—उग्र, दीप्त, तप्त और महा—ये तप के चार विशेषण दिये गये है। 'उग्र' पद तप में तल्लीनता का सूचक है। 'दीप्त' पद उनके तप की सार्थकता बतला रहा हैं। 'तप्त' पद उनके स्वयं की तपोरूपता का सङ्केत कर रहा है। अर्थात् वे इसप्रकार तपोरूप बन गये थे—जिस प्रकार कि तपा हुआ लोहे का गोला; जिससे वे अन्य के लिए अस्पृश्य-से हो गये थे। 'महा' विशेषण प्रशस्त वा बृहत् अर्थ में आया हैं। 'ओराले' अर्थात् 'भीम', किस प्रकार ?—अतिकष्टमय तप को करते हुए, समीप-वर्ती अल्प सत्त्ववाले जीवों के लिये भयानक हो गये थे—(टी०)। अन्य इस पद का अर्थ प्रधान करते हैं। 'घोर'=१ परीषह-इन्द्रिय-कषायादि रिपुओं का विनाश करनें में घृणा से रहित (—टी०)।=२ आत्म-निरपेक्ष =अपने आपके प्रति उदासीन (—अन्य)। 'घोरगुण'=अन्य से कठिनता से पाले जा सके, ऐसे मूलगुण आदि के धारक थे।

**घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेयलेस्से समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।**

घोर ब्रह्मचर्यवासी (=अल्पसत्त्ववाले जीवों के द्वारा मुश्किल से पालन हो सकने के कारण दारुण ब्रह्मचर्य वास के धारक), शरीर संस्कार के त्यागी, संक्षिप्त-विपुल (=शरीर के भीतर लीन—अनेक योजन प्रमाण क्षेत्राश्रित वस्तुओं को दग्ध करने में समर्थ होने से विस्तीर्ण) तेजोलेश्या (=लब्धि विशेष) के स्वामी वे श्रमण भगवान् महावीर से न अधिक

नजदीक, न अधिक दूर, ऊर्ध्व जानु (=ऊँचे घुटने) और अधो-शिर (=नीचे मुख) रखकर अर्थात् उत्कुटुकासन से बैठकर, ध्यान रूपी कोष्ठ (=कोठे) मे प्रवेश करके, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचर रहे थे।

टिप्पण—टीकाकार ने उत्कुटुकासन से बैठने का कारण बतलाया है कि—'शुद्ध पृथिवी और आसन का वर्जन तथा औपग्रहिक निषद्या (=मञ्चिकादि) का अभाव'।

**तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहल्ले, उप्पण्णसड्ढे उप्पण्णसंसए उप्पण्णकोऊहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोऊहल्ले, समुप्पण्णसड्ढे समुप्पण्णसंसए समुप्पण्णकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ।**

तब भगवान् गौतम में श्रद्धा (=इच्छा), संशय (=अनिर्धारित अर्थ=शंका), कुतूहल की प्रवृत्ति हुई....उत्पत्ति हुई,...प्राप्ति हुई,...मूर्तिमान् हुए। अतः उठकर खड़े हुए।

टिप्पण—उत्पन्नश्रद्ध और जातश्रद्ध में क्या अर्थभेद है?—कुछ भी नहीं। तो फिर इनका प्रयोग क्यों किया गया है?—हेतुत्व प्रदर्शन के लिए। यथा—उत्पन्न श्रद्धत्व के कारण जातश्रद्ध हुए।—(टी०)

अन्य कहते हैं—जिसे पूछने की इच्छा हुई उसे 'जातश्रद्ध' कहते हैं। 'जातश्रद्ध' किस प्रकार हुए?—जातसंशय होने के कारण। 'संशय' क्यो पैदा हुआ?—पहले—'किस प्रकार यह उपपात होता होगा?'—यह कुतूहल होने के कारण।—यहाँ तक यह अवग्रह हुआ। इसी प्रकार उत्पन्न सञ्जात-समुत्पन्न श्रद्धादि ईहा, अपाय और धारणा के भेद रूप से वाच्य हैं।—(टी०)

उट्ठाए उठित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करेत्ता वंदइ। णमंसइ। वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी–

....जहां श्रमण भगवान् महावीर थे वहाँ आये...। तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की।....वंदना की। नमस्कार किया। ...न अधिक सटकर-न अधिक दूर रहकर सुश्रूषा और नमस्कार करते हुए, अभिमुख होकर, करबद्ध होकर पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले–

## कर्म बन्धन

जीवे णं भंते! असंजए अविरए× अप्पडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते पावकम्मं अण्हाइ?–हंता अण्हाइ ॥१॥

हे भन्ते! जिसने संयम नही साधा, प्राणातिपातादि से निवृत्ति नही की (=अविरत), वास्तविक श्रद्धान के द्वारा पाप कर्मों को हलके नही किये (अप्रतिहत), सर्वविरति (=सम्पूर्ण त्यागवृत्ति) से आते हुए पाप कर्मों को नहीं रोके, जो कायिकी आदि क्रिया से युक्त है, जिसने इन्द्रियों का

× 'असंजय-अविरय-अप्पडिहय....' इति टीकायाम्।

निरोध नहीं किया, जो स्व-पर को सर्वथा पापकर्म से दण्डित करता है, सर्वथा मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यात्व निद्रा से बिलकुल सुप्त है, वह जीव पापकर्म से लिप्त होता है क्या? –हाँ होता है।

टिप्पण–कुछ चिन्तकों की मान्यता है कि–जब जीव भोगयोनि में होता है तब वहां परवशता के कारण कर्मबन्ध नहीं करता है; किन्तु केवल पापकर्मों को भोगता ही है। कुछ ऐसे ही भाव से उत्पन्न हुई यह जिज्ञासा, इस प्रश्न के मूल में प्रतीत होती है कि–'क्या कर्मबन्ध के सभी कारणों के विद्यमान् रहते हुए,जीव अबन्धक हो सकता है?-यदि ऐसा होता हो तो संयतादि अवस्था मुक्ति के लिये अनावश्यक है? एक न एक दिन सम्पूर्ण कर्मों को भोग लेनें के बाद जीव अनायास ही जन्म-मरण से परे हो जायगा।' यह शङ्का भगवान् के उत्तर से निर्मूल हो जाती है। असंयत आदि विशेषणों से युक्त जीव का, एक क्षण के लिये भी कर्म-बन्ध नहीं रुकता।

अर्थ विकल्प–अविरत=विरति रहित। किस कारण असंयत है? –क्योंकि अविरत है–विरति से रहित है।–(टी०)

अथवा निन्दा द्वारा अतीतकालकृत पापों को प्रतिहत करना और अनागतकालभावी पापों को निवृत्ति से प्रत्याख्यात करना अर्थात जिसनें ऐसा किया हो वह प्रतिहत-प्रत्याख्यात है और जिसने ऐसा नहीं किया हो वह 'अप्रतिहत-प्रत्याख्यात पापकर्मा' है।–टी०

जीवे णं भंते! असंजय-अविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपाव-कम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते मोह-णिज्जं पावकम्मं अण्हाइ?–हंता अण्हाइ ॥२॥

भन्ते! जिसने संयम नहीं साधा.....जो एकान्त सुप्त

(=स्व-पर के हिताहित के भान से सर्वथा शून्य) है, वह मोह-नीय पापकर्म बाँधता है? —हाँ बाँधता है।

टिप्पण—चारों गतियों में परिभ्रमण करानेवाला मोहनीय कर्म है। मोहनीय की तीव्रता-मंदता के अनुसार अशुभ-शुभ आयु का बंध होता है। आगे 'उपपात' के विषय में प्रश्न करेंगे-इसलिए उन प्रश्नों की 'उत्थानिका' के रूप में ये प्रश्न किये जा रहे हैं। जब मोहनीय कर्म मन्दतर मन्दतम दशा में पहुँच जाता है, तब आयुष्य कर्म का बन्ध, सबसे पहले ही रुक जाता है। अर्थात् तीव्र तीव्रतम मोह के बन्ध में पड़ा हुआ जीव, बेभान बनकर पुनः पुनः मदिरा पीनेवाले मद्यप के समान, असंयतादि अवस्था में रहकर, बार बार मोह-मदिरा का पान करता रहता है। जिससे उसके जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।

'दुष्कर्म का अनजान को कम दोष या अनजान निर्दोष'—यह मान्यता भी इस प्रश्न के उठने में कारण हो सकती है।

**जीवे णं भंते! मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे किं मोहणिज्जं कम्मं बंधइ....? वेयणिज्जं कम्मं बंधइ?—गोयमा! मोह-णिज्जंपि कम्मं बंधइ; वेयणिज्जंपि कम्मं बंधइ। णण्णत्थ चरिममोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे वेयणिज्जं कम्मं बंधइ; णो मोहणिज्जं कम्मं बंधइ ॥२॥**

भन्ते! जीव, मोहनीय कर्म को वेदता हुआ, क्या मोहनीय कर्म बांधता है?—क्या वेदनीय कर्म बांधता है?

—गौतम! मोहनीय कर्म भी बाँधता है और वेदनीय कर्म को भी बाँधता है। किन्तु चरम मोहनीय कर्म को वेदता

हुआ वेदनीय (=सुखादि अनुभूति में कारण रूप) कर्म को बांधता है, मोहनीय (=वस्तुतत्त्व के विश्वास और आचार में भ्रान्ति पैदा कराने में कारण रूप) कर्म को नहीं बांधता है।

टिप्पण—जीव, सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में, चरममोहनीय=लोभमोहनीय को सूक्ष्म किट्टिका रूप में वेदते हुए, वेदनीय को बांधता है। क्योंकि वेदनीय के प्रबन्धक सिर्फ अयोगी ही होते हैं और वह मोहनीय को नहीं बांधता है। क्योंकि सूक्ष्मसम्पराय में स्थित जीव मोहनीय और आयुष्य को छोड़कर, छह प्रकृतियों का ही बन्धक होता है। कहा है—'सत्तविहबंधगा होंति पाणिणो आउवज्जियाणं तु। तह सुहुमसंपराया छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा।।मोहाउयवज्जाणं पयडीणं ते उ बंधगा भणिया।'—टी०

वेदनीय और मोहनीय कर्म का बहुत निकट का सम्बन्ध है। वेदनीय कर्म, मोहनीय की उदयावस्था में प्रायः उसका पोषक हो जाता है और मोहनीय की उदयावस्था तक ही अघातिया कर्म का अशुभ रूप में बन्ध होता है अथवा मोहनीय कर्म का वेदन ही अघातिया कर्मों में शुभता-अशुभता का निमित्त बनता है। अघातिया कर्म ही भवोपग्राही कर्म है। इन भवोपग्राही कर्मों में से भी, मुक्त होने से कुछ क्षणों के पहले तक वेदनीय कर्म का ही बन्ध होता है। जिस भव में मोहनीय कर्म का क्षय होता है, उसी भव में वेदनीय कर्म भी क्षीण हो जाता है। अतः भव-परम्परा की वृद्धि में इस कर्मयुगल का बहुत बड़ा हाथ है। यही कारण है कि उपपात सम्बन्धी प्रश्नों की उत्थानिका के रूप में, अन्य कर्मों की वेदना और बन्ध के विषय में प्रश्न न करते हुए, इन्हीं के विषय में प्रश्न किया गया है।

## असंयत....एकान्त सुप्त का उपपात

**जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपाव-कम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते ओसण्णतसपाणघाई। कालमासे कालं किच्चा णिरइएसु उववज्जइ ?-हंता उववज्जइ ॥४॥**

भन्ते ! जिसने सयम नही साधा......जो एकान्त सुप्त है और जो बहुलता से त्रस प्राणियो का घातक है, वह जीव काल के समय में काल करके क्या नैरयिको में उत्पन्न होता है?

—हां, होता है ।

**जीवे णं भन्ते ! असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपाव-कम्मे इओ चुए पेच्चा देवे सिया ?-गोयमा ! अत्थेगइया देवे सिया। अत्थेगइया णो देवे सिया।**

भन्ते ! जिसने संयम नहीं साधा, जिसने पापों से निवृत्ति नहीं की, वास्तविक श्रद्धान के द्वारा पापकर्म को हलके नही किये और सर्वविरति से आते हुए पापकर्मों को नही रोके, वे जीव यहाँ से मरकर, दूसरे जन्म में क्या देव होते हैं ?

—गौतम ! कोई देव होते हैं; कोई देव नही होते ।

**से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइया देवे सिआ, अत्थे-गइया णो देवे सिआ ?-गोयमा ! जे इमे जीवा गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-**

संवाह-सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं अकामअण्हाणगसीयायवदंसमसगसेयजल्लमल्लपंकपरितावेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति। अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।

भन्ते ! आप किस कारण से इस प्रकार कहते है कि–कोई जीव देव होते है और कोई जीव देव नही होते ?

–गौतम ! जो ये जीव ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी, खेड, कर्वट, मडव, द्रोणमुख, पट्टण, आश्रम, सवाह और सन्निवेशों में, कर्मक्षयादि की इच्छा से रहित भूख-प्यास के सहने से....ब्रह्मचर्य के पालन से....अस्नान, शीत, आतप, मच्छर, स्वेद (=पसीना), 'जल्ल' (=रज), 'मल्ल' (=सूखकर कठोर बना हुआ मैल) और पङ्क (=पसीने से गीला बना हुआ मैल) के परिताप से, थोड़े या बहुत काल तक, अपने आपको क्लेश देते है। थोड़े-बहुत समय तक अपने को क्लेशित करके, काल के समय में काल करके, वाणव्यन्तर देवलोक में से किसी देवलोक में, देव रूप से उत्पन्न होते हैं। वहां उनका जाना,... स्थित रहना और...देव रूप से होना कहा गया है।

टिप्पण–वेदनीय कर्म की तीव्र वेदना के कारण, मोहनीय कर्म-

का वेदन मंद हो जाता है। जिससे देवायु का बन्ध होता है। यथा—

इत्थ वि समोहया मूढचेयणा वेयणाणुभवखिन्ना।
तंमित्तचित्तकिरिया न संकिलिस्संति अन्नत्थ ॥१५७॥

—तिर्यग् लोक में भी वेदनीय समुद्घात को प्राप्त हुए जीव, मूढ चेतनावाले और वेदनानुभव से खिन्न हो जाते हैं। अतः चित्त वेदना में ही लीन हो जाता है। अन्यत्र रागादि परिणाम को प्राप्त नहीं होता है।

ता तिव्व राग दोसाभावे, वंधो वि पयणुओ तेसिं।
सम्मोहओच्चिय तहा खओ वि णेगंतमुक्कोसो ॥१५८

इस प्रकार तीव्र राग-द्वेष के अभाव में बंध भी हलका होता है किंतु निमित्त की दुर्बलता के कारण क्षय भी उत्कृष्ट नहीं होता है।

—श्रावकप्रज्ञप्त्याम्।

**तेसि णं भंते! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता?—गोयमा! दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।**

भन्ते! उन देवों का आयुष्य, कितने काल का बतलाया गया है।

—गौतम! दस हजार वर्ष की स्थिति बतलाई गई है।

**अत्थि णं भंते! तेसिं देवाणं इड्ढी वा, जुई वा, जसे इ वा,* बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कारपरिक्कमे इवा?—हंता अत्थि।**

भन्ते! उन देवों के ऋद्धि (=परिवारादि सम्पत्ति), द्युति (=शरीर, आभरणादि की दीप्ति), यश (=ख्याति), बल

* उट्ठाणे इ वा, कम्मे इवा—त्ति क्वचित्।

(=शारीरिक प्राण) वीर्य (=जीवप्रभव या जीव जनित प्राण), पुरुषाकार (=पुरुषाभिमान=मर्दानगी) और पराक्रम (=हिम्मत भरी बहादुरी) है ?

—हाँ ! है।

ते णं भंते ! देवा परलोगस्साराहगा ?—णो इणट्ठे समट्ठे।५।

भन्ते ! क्या वे देव परलोक के आराधक है ?

—यह आशय संगत नही है अर्थात् वे परलोक के आराधक नही हैं।

## बन्दी....आदि का उपपात

से जे इमे गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणा-सम-संबाह-सण्णिवेसेसु मणुया भवंति। तं जहा—अंडुबद्धगा णियलबद्धगा हडिबद्धगा चारगबद्धगा हत्थच्छिण्णगा पायच्छिण्णगा कण्णच्छिण्णगा णक्कच्छिण्णगा उट्ठच्छिण्णगा जिब्भच्छिण्णगा सीसच्छिण्णगा •मुखच्छिण्णगा मज्झच्छिण्णगा वेकच्छछिण्णगा।

ये जो इन ग्राम, आकर....सन्निवेशों में मनुष्य होते हैं। यथा—अन्दुक (=लोहे या काठ के बन्धन विशेष) से जिनके हाथ पैर जकड़े हुए है, बेड़ियों से जकड़े हुए, खोड़े में फँसे हुए,

• मुखच्छिन्नगा-अपि दृश्यते।

अन्धकारमय कारागार में पड़े हुए, (सजा आदि के कारण) छिदे हुए हाथ, पैर, कान, नाक, होठ, जीभ, शीश, गलघण्टिका (=मुख=टेंटुआ), कमर या उदर और जनेऊ के स्थलवाले (=या जनेऊ के आकार में छिदे हुए अंगवाले),

**हियउप्पाडियगा णयणुप्पाडियगा दसणुप्पाडियगा वसणुप्पाडियगा गेवच्छिण्णगा तंडुलच्छिण्णगा**

जिनके हृदय का मांस नोच लिया गया हो, जिनके नेत्र उखाड़ लिये गये हों, जिनके दांत उखड़वा लिये हों, जिनके अण्डकोश उखाड़े गये हों, जिनके गले के अवयव छेद दिये गये हो, जिसके मांस के चांवल के दाने के बराबर टुकड़े किये गये हो–ऐसे व्यक्ति,

**कागणिमंसक्खाइयया ओलंबिया* लंबियया घंसियया घोलियया फाडियया पीलियया× सूलाइयया सूलभिण्णगा**

जिसे उसकी देह से ही कोमल मांस उखाड़-उखाडकर खिलाया गया हो, जो रस्सी से बान्धकर खड्डे में लटकाये गये हो, जो भुजाओं से वृक्ष की शाखा पर बांधे गये हों, जो (चन्दन के समान) घीसे गये हों, जो (दधिघट या पट के समान) घोलित (=मथा गया) हुए हों, जो (लकड़ी के समान) कुठार से फाड़ गये हों, जो (इक्षु के समान) यन्त्र में पीले

---

* उल्लंबियगा–अपि दृ० ।

× टीकायां पाठान्तरे निर्दिष्टमिदम् ।

गये हों, जो शूली पर चढ़ाये गये हों, जो शूल से भिन्न हो गये हों, ऐसे व्यक्ति,

खारवत्तिया वज्झवत्तिया सीहपुच्छियया

जिस पर क्षार डाला गया हो या जो क्षार में फेंके गये हो, जो गीले चमड़े से बांधे गये हों, जिन्हें सिंहपुच्छ-से कर दिये गये हों, ऐसे व्यक्ति

टिप्पण–'सिंहपुच्छ' यहां उपचार से 'पुच्छ' शब्द से 'मेहन' (=लिंग) का ग्रहण किया गया है। मैथुन से निवृत्त सिंह का मेहन, अति आकर्षण के कारण कदाचित् टूट जाता है। इस प्रकार किसी अपराध में राजपुरुष अपराधी के मेहन को तोड़ देते हैं, उसे 'सिंहपुच्छित' कहते हैं अथवा हलक से लगाकर पुतप्रदेश तक की चमड़ी उधेड़ कर सिंहपुच्छाकार कर दी जाती है उसे...। (–टी०)

दवग्गिदड्ढगा पंकोसन्नगा पंकेखुत्तगा वलयमयगा वसट्टमयगा णियाणमयगा अंतोसल्लमयगा गिरिपडियगा तरुपडियगा मरुपडियगा+ गिरिपक्खंदोलिया‡ तरुपक्खंदोलिया मरुपक्खंदोलिया

दावाग्नि से जले हुए, कीचड़ में डूबे हुए, कीचड़ में फंसे हुए, संयम से भ्रष्ट बनकर या भूख आदि परीषहों से घबराकर मरे हुए, विषय-सेवन में परतन्त्र होने से पीडित होकर मरे हुए

+ भरपडियगा–त्ति क्व० ।

‡ ....पक्खंदोलया–त्ति क्व० ।

या हरिण के समान शब्दादि विषयों में लीन बनकर मरे हुए, निदान करके मरे हुए, (बाल तपस्वी आदि), भावशल्य को या मध्यवर्ती भल्लि आदि शल्य को निकाले विना ही मरे हुए, पर्वत से गिरकर या महापाषाण के गिरने से मरेहुए, वृक्ष से गिरकर या वृक्ष के गिरने से मरे हुए, निर्जल प्रदेश में जा पड़ने वाले, पर्वत से झंपापात करके मरने वाले, वृक्षों से झंपापात करके मरने वाले, मरुभूमि की रेती में गिर कर मरने वाले,

**जलपवेसिगा जलणपवेसिगा विसभक्खियगा सत्थोवाडियगा वेहाणसिया गिद्धपिट्ठगा कंतारमयगा दुब्भिक्खमयगा**

जल में प्रवेश करके मरनेवाले, अग्नि में प्रवेश करनेवाले, विष भक्षण करनेवाले, शस्त्र से अपने आपको विदारनेवाले, गले में फाँसी लगाकर या तरुशाखादि आकाश में उछलकर मरनेवाले, किसी के मरे हुए कलेवर में प्रवेश करके गृद्ध पक्षियों की चोंचों से मरनेवाले, जंगल में और दुर्भिक्ष में मरने वाले,

**असंकिलिट्ठपरिणामा ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।**

यदि ये व्यक्ति संक्लिष्ट परिणाम (=महा आर्त-रौद्र ध्यान) वाले न हों तो काल के समय काल करके, वाणव्यंतर के देवलोक में से किसी देवलोक में देव रूप से उत्पन्न होते हैं। वहां उनकी गति, स्थिति और उत्पत्ति कही गई है।

तेसि णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? -गोयमा ! बारसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता ।

भन्ते ! वहां उनकी कितनी स्थिति है ?—गौतम ! बारह हजार वर्ष की....।

अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्ढी वा जुई वा जसे इ वा बले इ वा वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरिक्कमे इ वा ?—हंता अत्थि । ते णं भंते ! देवा परलोगस्साराहगा ?—णो इणट्ठे समट्ठे ॥६॥

भन्ते उन देवों के ऋद्धि.....पराक्रम है ? —हां है । भन्ते ! वे देव, परलोक के आराधक है ?—यह आशय संगत नही है ।

## भद्रप्रकृतिवाले आदि...का उपपात

से जे इमे गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-संणिवेसेसु मणुया भवंति

ये जो ग्राम, आकर....में मनुष्य होते हैं ।

तं जहा—पगइभद्दगा पगइउवसंता पगइपयणु कोह-माण-माया-लोहा मिउ-मद्दव-संपण्णा अल्लीणा × विणीया, अम्मापिउ-सुस्सूसगा अम्मापिईणं अणतिक्कमणिज्जवयणा, अप्पिच्छा

× आलीणा—त्ति पा. । भद्दगा—इत्यधिकम् क्व. ।

अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा, अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारं-भेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिं कप्पेमाणा बहूइं वासाइं आउयं पालंति।

यथा–स्वभाव से ही भद्र अर्थात् परोपकार करनेवाले, स्वभाव से ही शान्त, स्वभाव से ही क्षणिक या हलके क्रोध, मान, माया और लोभवाले, कोमल–अहङ्कार रहित स्वभाव-वाले, गुरुजनों (=बड़ों) के आश्रित, विनीत, माता-पिता के सेवक, माता-पिता के वचनों का उल्लंघन नहीं करनेवाले, अल्प इच्छावाले, अल्प आरम्भ (=कृषि आदि रूप पृथिवी आदि जीवों का उपमर्दन) वाले, अल्प परिग्रह (=धन धान्यादि का स्वीकार) वाले, अल्प आरम्भ (=जीवों का विनाश) अल्प समारंभ (=जीवों को परितापित करना) और अल्प आरम्भ-समारम्भ से जीविका उपार्जन करनेवाले बहुत वर्षों की आयु व्यतीत करते हैं।

पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते। तेसि णं भंते! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता?–गोयमा! चउद्दसवास सहस्साइं ॥७॥

आयुष्य व्यतीत करके, काल के समय मे काल करके, वाणव्यंतर के किसी देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न होते हैं....

गौतम ! उनकी चौदह हजार वर्ष की स्थिति...है ।

## गतपतिका (प्रोषित भर्तृका) आदि का उपपात

से जाओ इमाओ गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-सन्निवेसेसु इत्थियाओ भवंति

—ये जो ग्राम...सन्निवेशों मे स्त्रियां होती है ।

तं जहा—अंतो अंतेउरियाओ, गयपइयाओ मयपइयाओ बालविहवाओ छड्डियल्लिओ माइरक्खियाओ पियरक्खियाओ भायरक्खियाओ कुलघरक्खियाओ[†] ससुरकुलरक्खियाओ

जैसे—जो अन्तःपुर में रहती हो, जिनके पति परदेश चले गये हो, जो बाल विधवा हो, जिन्हे पतियो ने छोड़ दिया हों, जो माता, पिता या भाई से रक्षित हों, जो कुलगृह (=पीहर=नैहर) या श्वशुरकुल (=सुसराल) से रक्षित हों

परूढ-णह-केस-कक्ख-रोमाओ[●] ववगय-पुप्फगंधमल्लालंकाराओ अण्हाणगसेयजल्लमलपंकपरितावियाओ ववगयखीर-दहिणवणीयसप्पितेल्लगुललोणमहुमज्जमंसपरिचत्तकयाहाराओ

(विशिष्ट संस्कार के अभाव के कारण) जिनके नख, केश और कांख के बाल बढ़ गये हों, जो फूल, गंध, माला और

---

† मित्तनाइ नियय संबंधि रक्खियाओ—त्ति क्व. ।

● पकढ-नह-केस-मंसु-रोमाओ—त्ति पा० ।

अलङ्कारों से दूर रहती हों, जो अस्नान, स्वेद, रज, मल और पङ्क (=पसीने से गीले हुए मैल) से परितापित हों, जो दूध, दही, मक्खन, घी, तैल, गुड़ और नमक से रहित तथा मधु, मद्य और मांस से रहित आहार का सेवन करती हो,

**अप्पिच्छाओ अप्पारंभाओ अप्पपरिग्गहाओ, अप्पेणं आरंभेणं, अप्पेणं समारंभेणं, अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिं कप्पेमाणीओ, अकामबंभचेरवासेणं तामेव पइसेज्जं णाइक्कमइ।**

जिनकी इच्छाएँ अल्प हो, जो अल्प हिंसावाली हो, जिनका परिग्रह (=धनादि का सञ्चय या स्वीकार) अल्प हो और जो अल्प आरम्भ (=हिंसा), अल्प समारम्भ (=परिताप) और अल्प आरम्भ-समारम्भ से वृत्ति (=आजीविका) करने वाली हों, ऐसी स्त्रियां अकाम (=निर्जरा की इच्छा के बिना) ब्रह्मचर्य के पालन से उसी पति की शय्या का अतिक्रमण नहीं करती है अर्थात् अकाम ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई रहती है, किन्तु उपपति नहीं करती है।

**ताओ णं इत्थिआओ एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणीओ... सेसं तं चेव जाव चउसट्ठिवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता ॥८॥**

वे स्त्रियां इस प्रकार की चर्या में जीवन व्यतीत करती हुई...शेष उसी तरह यावत् चौंसठ हजार वर्ष की स्थिति....है।

## द्वि द्रव्य भोजी-आदि का उपपात

**से जे इमे गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-**

दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-संनिवेसेसु मणुआ भवंति। तं जहा-दगबिइया दगतइया दगसत्तमा दगएक्कारसमा

ये जो....मनुष्य होते हैं। जैसे-उदकद्वितीय (=ओदन द्रव्य की अपेक्षा से दूसरा द्रव्य जल अर्थात् एक भात और दूसरा जल ऐसे दो द्रव्य के भोजी), उदकतृतीय (=ओदन आदि दो द्रव्य और तीसरा जल के भोजी), उदकसप्तम (=ओदन=भात आदि छह द्रव्य और सातवें जल के भोजी), उदकएकादश (=भात आदि दस द्रव्य और ग्यारहवें जल के भोजी)

गोयमा गोव्वइया गिहिधम्मा धम्मचिंतका अविरुद्धविरुद्ध-वुड्ढसावकप्पभियओ

यहाँ गौतम शब्द का अर्थ है बैल से आजीविका करने-वाले), गोव्रतिक (=गाय से सम्बन्धित व्रतवाले), गृहधर्मी, धर्मचिन्तक (=धर्मशास्त्र पाठक), अविरुद्ध (=वैनयिकभक्ति-मार्गी), विरुद्ध (=अक्रियावादी), वृद्धश्रावक (=ब्राह्मण) अथवा वृद्ध (=तापस) और श्रावक (=ब्राह्मण) प्रभृति-

टिप्पण-पैरों में पड़ने आदि विचित्र शिक्षा से शिक्षित और जन के चित्ताक्षेप में दक्ष, छोटे बैल के द्वारा भिक्षाटन करनेवाले को 'गौतम' कहते हैं।-टी०

गाय से सम्बन्धित व्रत के करनेवाले को 'गोव्रतिक' कहते हैं। वे गायों के ग्राम के बाहर निकलने पर बाहर निकलते हैं, चरने पर चरते हैं, पीने पर पीते हैं, आने पर आते हैं और सोने पर, सोते हैं। कहा है-

गावीहिं समं निग्गम-पवेस-सयणासणाइ पकरेंति ।
भुंजंति जहा गावी, तिरिक्खवासं विहावित्ता ॥–टी०

गृहस्थधर्म ही श्रेष्ठ है–ऐसा विचार करके देव, अतिथि आदि के लिये दानादि रूप गृहस्थधर्म का अनुगमन करनेवाले को 'गृहिधर्मा' कहते हैं ।–टी०

अविरुद्ध=वैनयिक (=देवादि का विनय करनेवाला) । कहा हैः–

अविरुद्धो विणयकरो, देवाईणं पराए भत्तीए ।
जह वेसियायणसुओ, एवं अन्नेऽवि नायव्वा ॥

वृद्ध अर्थात् तापस । वृद्धकाल (=पुरातन काल में) दीक्षा लेने के कारण और आदिदेव के काल में सकल लिंगियों में पहले उत्पन्न होने के कारण तापसों को 'वृद्ध' कहा गया है –टी०

धर्मशास्त्र को श्रवण करने के कारण ब्राह्मणों को श्रावक कहा गया है अथवा वृद्ध शब्द को श्रावक का विशेषण मान लिया जाय तो भी 'वुड्ढसावय' (=पुराने श्रावक) का अर्थ ब्राह्मण ही होगा ।–(टीका०)

**तेसिं मणुयाणं णो कप्पइ इमाओ नव रसविगईओ आहारित्तए । तं जहा–खीरं दहिं णवणीयं सप्पि तेल्लं फाणियं महुं मज्जं मंसं । णण्णत्थ एक्काए सरिसवविगईए । ते णं मणुया अप्पिच्छा....तं चेव सव्वं । णवरं चउरासीइ वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता ॥६॥**

उन मनुष्यों के ये नव विकृतियां खाने का कल्प नहीं है । यथा–दूध, दही, मक्खन, घी, तैल, गुड (=फाणित), मधु (=शहद), मद्य (=शराब) और मांस । इन में से एक सरसों का तैल छोड़कर । वे मनुष्य अल्प इच्छा वाले....शेष सब

पूर्ववत् । केवल स्थिति चोरासी हजार वर्ष की है ।

टिप्पण–'तं चेव सव्वं' पद से 'अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारंभेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्ति कप्पेमाणा बहुइं वासाइं आउयं पालंति । पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गती...' आदि वाक्यों का संक्षेपीकरण समझना चाहिए । अर्थ पूर्ववत् ।

## वानप्रस्थ तापसों का उपपात

**से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति । तं जहा– होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जण्णई**

वे जो ये गंगा के किनारे रहनेवाले वानप्रस्थ (=वन-वासी) तापस होते है। जैसे-होत्रिक (=अग्निहोत्र करनेवाले), वस्त्रधारी, कौत्रिक–भूमिशायी (=भूमि पर सोनेवाले), यज्ञयाजी (=याज्ञिक=यज्ञ करनेवाले),

**सड्ढई थालई हुंबउट्ठा + दंतुक्खलिया उम्मज्जगा संमज्जगा निमज्जगा संपक्खालगा**

श्रद्धा करनेवाले, पात्र रखनेवाले या खप्परधारी, कुण्डिकाधारी, फलभोजी, एक बार पानी में डुबकी लगा कर स्नान करनेवाले (=उन्मज्जक), सन्मज्जक (=उन्मज्जन के बार बार करने से स्नान करनेवाले), निमज्जक (=पानी में कुछ देर तक डूब कर स्नान करनेवाले), संप्रक्षालक (=मिट्टी

+ हुंपउट्ठा–त्ति पा.

आदि के द्वारा रगड़कर अंगों को धोनेवाले),

**दक्खिणकूलगा उत्तरकूलगा संखधमगा कूलधमगा मियलुद्धया● हत्थितावसा**

गंगा के दक्षिण के किनारे पर ही रहनेवाले, गंगा के उत्तरी किनारे पर ही रहनेवाले,शख धमकर भोजन करनेवाले, किनारे पर स्थित होकर शब्द करके भोजन करनेवाले, मृगलुब्धक, हस्तितापस (=हाथी को मारकर, उसके भोजन से वहुत काल व्यतीत करनेवाले)।

**उद्दंडगा दिसापोक्खिणो वक्कवासिणो ( अंबुवासिणो बिलवासिणो )* चेलवासिणो× जलवासिणो रुक्खमूलिया**

डण्डे को ऊँचा रखकर फिरनेवाले, दिशाओं की तरफ पानी छींट कर फूल-फलादि चुननेवाले, वल्कलधारी (अम्बुवासी ? बिलवासी), वस्त्रधारी, जल में ही रहनेवाले, वृक्ष के मूल में रहनेवाले,

**अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा तयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा बीयाहारा परीसडियकंद मूल-तय-पत्त-पुप्फ-फलाहारा(जलाभिसेयकढिणगायभूया)+**

---

● मिगलुद्धका–त्ति पा.

* टीकायां न दृश्यते पदद्वयम्।

× वेलवासिणो–त्ति पा.।

+ जलाभिसेयकढिणगायभूया–त्ति पा.।

मात्र जलभक्षक, वायुभक्षक, शैवाल (=काँई=सेवार) भक्षक, मूलाहारी, कंदाहारी, त्वक् (=छाल) आहारी, पत्राहारी, पुष्पाहारी, बीजाहारी, सडे हुए या गिरे हुए या किसी के द्वारा छोड़े गये कंद, मूल, छाल, पत्र, फूल और फल का आहार करनेवाले, विना स्नान किये भोजन नहीं करनेवाले (—टी.) या स्नान के कारण सफेद बनी हुई देहवाले (वृद्धाः)'

**आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं कंडुसोल्लियंपिव कंट्ठसोल्लियंपिव[1] अप्पाणं करेमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणंति। बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता, कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।.....पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहिअं ठिई......आराहगा ?—णो इणट्ठे समट्ठे ॥१०॥**

और पञ्चाग्नि की आतापना के द्वारा अपने आपको अंगारों से पका हुआ-सा, भाड में भुना हुआ-सा.....करते हुए, बहुत वर्षों तक उस अवस्था को पाकर के, काल के समय में काल करके उत्कृष्ट रूप से ज्योतिषी देवों में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।..पल्योपम और एकलाख वर्ष अधिक की स्थिति....ये परलोक के आराधक नहीं है।

## प्रव्रजित श्रमण (कान्दर्पिक आदि) का उपपात

**से जे इमे....जाव सन्निवेसेसु पव्वइया समणा भवंति। तं**

[1] नास्ति टीकायामिदं पदम्।

जहा–कंदप्पिया कुक्कुइया मोहरिया गीयरइप्पिया नच्चण-सीला। ते णं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणंति।

ये जो....सन्निवेशों में प्रवृजित श्रमण (=निर्ग्रन्थ) होते है। जैसे–हास-परिहास करनेवाले (=कान्दर्पिक), भाँड़ के समान चेष्टा को करते हुए स्वय हँसकर दूसरों को हँसानेवाले (=कौकु-चिक), उटपटांग वृथा बोलनेवाले (=मौखरिक), गीत के साथ रमणक्रीड़ा जिसे प्रिय हो या गीतरतिवाले लोक जिसे प्रिय हों ऐसे श्रमण (=गीतरतिप्रिय) और अस्थिर शीलाचारवाले या नर्तनशील। वे ऐसी चर्या से काल व्यतीत करते हुए, बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय को पालते है।

बहूइं वासाइं सामण्ण परियायं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइअ-अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे कंदप्पिए देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई...-सेसं तं चेव। णवरं पलि-ओवमं वाससयसहस्स मब्भहियं ठिई ॥११॥

....उस स्थान की (=अतिचार-दोष सेवन की) आलो-चना प्रतिक्रमण (=उनको दोष रूप से मानकर पश्चाताप) किये बिना ही, काल के समय में कालकर के, उत्कृष्ट सौधर्म-कल्प (=पहले देवलोक) में कान्दर्पिक देवों में उत्पन्न होते है.... एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की स्थिति होती है।

# परिव्राजकों का उपपात

**से जे इ मे...जाव सन्निवेसेसु परिव्वायगा भवंति । तं जहा-संखा जोई कविला भिउच्चा**

ये जो....सन्निवेसों में परिव्राजक होते हैं । यथा-सांख्य (=बुद्धि-अहङ्कारादि तत्त्वों को माननेवाले और प्रकृति और पुरुष दोनों को जगत्कारण माननेवाले), योगी (=अध्यात्म शास्त्र के अनुष्ठायी), कापिल (=निरीश्वर सांख्य), भार्गव,

टिप्पण-सांख्य और योगियों का तत्त्वज्ञान समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि सांख्य तत्त्वज्ञान पर अधिक जोर देते हैं और योगी अनुष्ठान पर । सांख्य को कुछ लोग निरीश्वरवादी मानते हैं तो कुछ लोग ईश्वरवादी । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें दोनों प्रकार के मतवादी थे । जो निरीश्वरवादी थे वे कापिल कहलाते थे ।

जो सृष्टि के कारण रूप से अनादिसे निर्लिप्त पुरुष विशेष को मानते हैं, वे ईश्वरवादी और सृष्टिकर्त्ता रूप से ईश्वर को मानने से इन्कार करते हैं वे निरीश्वरवादी कहलाते हैं ।

भृगुऋषि के शिष्य भार्गव कहलाते हैं ।

**हंसा परमहंसा बहुउदया कुडिव्वया कण्हपरिव्वायगा ।**

(चार प्रकार के परिव्राजक यति) हंस (=पर्वत की गुफा, आश्रम, देवकुल आदि में रहनेवाले और भिक्षार्थ ग्राम में प्रवेश करनेवाले परिव्राजक), परमहंस (=वे परिव्राजक यति जो नदी के पुलिनों (=किनारों) पर या समागम प्रदेशों में रहते हों और चीर, कौपीन और कुश का त्याग करके प्राण

निष्णात थे ।

**ते णं परिव्वायगा दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणा पण्णवेमाणा परूवेमाणा विहरंति ।**

वे परिव्राजक दानधर्म, शौचधर्म (=स्वच्छता रूप धर्म) और तीर्थाभिषेक (=तीर्थस्नान) का कथन करते हुए, समझाते हुए प्रतिपादन करते हुए विचरते थे ।

**जण्णं अम्हे किंचि असुई भवइ, तण्णं उदएण य मट्टियाए य पक्खालियं सुई भवइ ।**

'जो हमें किञ्चित् भी अशुचि होती है तो उसे जल और मिट्टी से धोकर पवित्र हो जाते हैं ।

**एवं खलु अम्हे चोक्खा चोक्खायारा, सुई सुइसमायारा भवेत्ता, अभिसेयजलपूअप्पाणो अविग्घेणं सग्गं गमिस्सामो ।**

'इस प्रकार हम स्वच्छ (=विमल देह और वेशवाले) और स्वच्छ (=विमल) आचारवाले-शुचि (=पवित्र) और शुचि आचारवाले होकर, जलद्वारा अभिषेक (=स्नान) से पवित्र आत्मा बनकर, निर्विघ्न स्वर्ग में जायेंगे' ।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ–अगडं वा तलायं वा नइं वा वाविं वा पुक्खरिणिं वा दीहियं वा गुंजालिअं वा सरं वा + सागरं वा ओगाहित्तए । णण्णत्थ अद्धाणगमणे ।**

---

+ सरसिं वा–त्ति क्व. ।

उन परिव्राजकों का, मार्ग में गमन के सिवाय, कूप, तालाब, नदी, बावड़ी, पुष्करिणी (=कमलों से भरा हुआ गोलघाटबन्ध जलाशय), दीर्घिका (=सारणी), गुञ्जालिका (=एक तरह की बावड़ी=वक्रसारणी), सर और सागर में प्रवेश करने का कल्प नही है।

**णो कप्पइ सगडं वा.....संदमाणिअं वा दुरुहित्ता णं गच्छित्तए।**

कल्प (=आचार) नही है—गाड़ी....यावत् डोली में चढ़कर चलने का।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ—आसं वा हत्थिं वा उट्टं वा गोणिं वा महिसं वा खरं वा दुरुहित्ता णं गमित्तए।**

उन परिव्राजकों का कल्प नहीं है—घोड़े, हाथी, ऊँट, बैल, भैंसे और गधेपर सवार होकर चलने का।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ—नडपेच्छा इ वा....जाव मागहपेच्छा इ वा पिच्छित्तए।**

उन...का कल्प नही है, नटप्रेक्षा (=नट के अभिनय).... मागधप्रेक्षा देखने का।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ—हरियाणं लेसणया वा घट्टणया वा थंभणया वा* उप्पाडणया वा करित्तए**

---

* लूसणया वा—त्ति क्व.।

छोड़ते हों), बहूदक (=गांव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात तक वास करते हुए, अपने योग्य प्राप्त सामग्री का उपयोग करते हुए विचरण करनेवाले परिव्राजक यति), कुटीचर (=वे जो घर में रहते हुए क्रोध, लोभ और मोह से दूर रहकर, अहङ्कार का त्याग करते हैं) और कृष्ण परिव्राजक (=नारायण भक्त परिव्राजक विशेष)।

**तत्थ खलु इमे अट्ठ माहणपरिव्वायगा भवंति । तं जहा–**

**कण्हे य करकंडे य, अंबडे य परामरे ।**
**कण्हे दीवायणे चेव, देवगुत्ते य णारए ॥**

उन (परिव्राजकों) में ये आठ (जाति के) ब्राह्मण परिव्राजक होते हैं। यथा–१ कृष्ण, २ करकण्ड, ३ अम्बड, ४ पाराशर, ५ कृष्ण, ६ द्वीपायन, ७ देवगुप्त और ८ नारद।

**तत्थ खलु इमे अट्ठ खत्तियपरिव्वायया भवंति । तं जहा–**

**सीलई ससिहारे (य), णग्गई भग्गई ति य ।**
**विदेहे रायाराया, रायारामे बलेति अ ॥**

उनमें ये आठ क्षत्रिय परिव्राजक होते हैं। यथा–१ सीलई (=शीलजित्), २ ससिहार (=शशिधर), ३ नग्गई, ४ भग्गई, ५ विदेह, ६ रायाराय ७ रायाराम और ८ बल।

टिप्पण–इन सोलह जाति के परिव्राजकों का वर्णन कहीं देखने में नहीं आया। टीकाकार ने भी 'लोकतोऽवसेयाः' कहकर, व्याख्या नहीं की है।

**ते णं परिव्वायगा रिउव्वेय-जजुव्वेय-सामवेय-अहव्वणवेय इतिहासपंचमाणं णिग्घंटुछट्ठाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेयाणं सारगा पारगा धारगा** ×

वे परिव्राजक ऋजु, यजुः साम, अथर्वण, पांचवां इतिहास (=पुराण) और छट्ठे निघण्टु (=नाम कोश) रूप अंगोपांग और रहस्य सहित चारो वेदों के सारग (=अध्यापन के द्वारा प्रवर्तक या दूसरों को याद करवाने के कारण स्मारक), पारग (=अन्त तक पहुँचने वाले) और धारग (=धारण करने में समर्थ) थे। (क्वचित् वारग=भ्रष्ट उच्चारण आदि के वारक)।

**सडंगवी सट्ठितंतविसारया संखाणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे णिरूत्ते जोतिसामयणे अण्णेसु य बहूसु बंभण्णएसु** + **य सत्थेसु सुपरिणिट्ठिया यावि हुत्था।**

शिक्षा (=अक्षर-स्वरूप निरूपकशास्त्र), कल्प (=तथा-विध आचार निरूपक शास्त्र), व्याकरण, छन्द, निरुक्त (=शब्दों की निरुक्ति प्रतिपादक शास्त्र) और ज्योतिष् शास्त्र इन वेदों के छह अंगो के ज्ञाता (=शडंगविद्) षष्ठितत्र (=कापि-लीय तन्त्र) के पण्डित और गणित (=संखाण) तथा और भी वेद के व्याख्यान रूप ब्राह्मण सम्बन्धी शास्त्रों में पूर्ण रूप से

× वारगा–त्ति क्व०।

+ परिव्वाएसु य नएसु–त्ति पा०।

उनका...कल्प नहीं है—वनस्पति को परस्पर मिलाने या मसलने, इकट्ठी करने, ऊँची करने और उखाड़ने का।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ- इत्थिकहा इ वा भत्तकहा इ वा देसकहा इ वा रायकहा इ वा चोरकहा इ वा अणत्थ-दंडं करित्तए।**

उन...का कल्प नहीं है—स्त्रीकथा, भातकथा, देशकथा, राजकथा और चोरकथा—जिनसे कि स्व-पर को क्लेश हो ऐसी निरर्थक कथाएँ करने का।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ--अयपायाणि वा तउय-पायाणि वा तंबपायाणि वा जसदपायाणि वा सीसगपायाणि वा रुप्पपायाणि वा सुवण्णपायाणि वा अण्णयराणि वा बहुमुल्लाणि वा धारित्तए। णण्णत्थ लाउपाएण वा दारु-पाएण वा मट्टिआपाएण वा।**

...तुम्बे, लकड़ी और मिट्टी के पात्रों के सिवाय, लोहे, त्रपुक (=कथीर), ताम्ब, जसद, शीशे, चांदी और सोने के पात्र रखने का कल्प नहीं है।

टिप्पण—टीकानुसार निम्नलिखित पाठ होना संभव है—'तेसिं णं... कप्पइ-अय पायाणि वा....जाव अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि महद्ध मोल्लाइं धारित्तए। णण्णत्थ अलाबुपाएण...।' जाव करण से निम्न विशेषण-वाले पात्र ग्रहण किये गए हैं—'त्रपुकसीसकरजतजातरूपकाचवेडन्तियवृत्त-लोहकंसलोहहारपुटकरीतिका मणिशंखदंतचर्मशैलशब्दविशेषितानि पात्राणि दृश्याणि।' जातरूप=स्वर्ण। वृत्तलोह=त्रिकुठी। कंसलोह=कांसा। हारपु-

टक=मोती के सीप के पुट। रीतिका=पीतल।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ–अयबंधणाणि वा तउय-बंधणाणि वा तंबबंधणाणि....जाव बहुमुल्लाणि धारित्तए।**

उनके....लोहे के बन्धन, कथीर के बन्धन, ताम्बे के बन्धन....यावत् किसी भी प्रकार के बहुमूल्य बन्धनवाले (पात्र) रखना नहीं कल्पता है।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ णाणाविहवण्णराग-रत्ताइं वत्थाइं धारित्तए। णण्णत्थ एक्काए धाउरत्ताए।**

....गेरुएं रंग से रगे हुए (=धातुरत्त) वस्त्र के सिवाय-दूसरे नाना प्रकार के रंगों से रंगे हुए वस्त्र धारण करने का कल्प नही है।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ–हारं वा अद्धहारं वा एकावलिं वा मुत्तावलिं वा कणगावलिं वा रयणावलिं वा मुरविं वा कंठमुरविं वा पालंबं वा तिसरयं वा कडिसुत्तं वा दसमुद्दिआणंतकं वा कडयाणि वा तुडियाणि वा अंगयाणि वा केऊराणि वा कुंडलाणि वा मउडं वा चूलामणिं वा पिणि-द्धित्तए। णण्णत्थ एक्केणं तंबिएणं पवित्तएणं।**

...एक ताम्बे की पवित्रक (=अंगूठी) के सिवाय, अन्य हार, अर्द्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, मुरवि, कंठमुरवी (=कंठला), प्रालम्ब (=लम्बीमाला), त्रिस-

रक, कटिसूत्र, दस अंगुठियाँ, कटक, त्रुटित, अंगद, केयूर, कुंडल या चूडामणि (=मुकुट) पहनने का कल्प नहीं है।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ–गंथिमवेढिमपूरिमसंघातिमे चउव्विहे मल्ले धारित्तए। णण्णत्थ एगेणं कण्णपूरेणं।**

...एक कर्णपूरक (=फूलों का कान का आभरण) के सिवाय, अन्य ग्रन्थिम (=गूंथी हुई), वेष्टिम (=लपेटने से बनी हुई), पूरिम (=वंशशलाका–जाल के पूरणमय या पूरने से बनी हुई) और संघातिम (=संघात से बनी हुई=नाल में नाल उलझाने से बनी हुई) इन चार तरह की मालाओं को धारण करने का कल्प नही है।

**तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ–अगलुएण वा चंदणेण वा कुंकुमेण वा गायं अणुलिंपित्तए। णण्णत्थ एक्काए गंगामट्टिआए।**

...एकमात्र गंगा की मिट्टी के सिवाय, अगरु, चन्दन अथवा कुंकुम से शरीर को लिप्त करने का कल्प नही है।

**तेसि णं कप्पइ मागहए पत्थए जलस्स पडिगाहित्तए। से वि य वहमाणे, णो चेव णं अवहमाणे। से वि य थिमिओदए, णो चेव णं कद्दमोदए। से वि य बहुपसण्णे, णो चेव णं अबहुपसण्णे। से वि य परिपूए, णो चेव णं अपरिपूए। से वि य णं दिण्णे, णो चेव णं अदिण्णे। से वि य पिवित्तए, णो चेव णं हत्थ-पायचरुचमसपक्खालणट्ठाए**

सिणाइत्तए वा।

उनको एक मागध प्रस्थक जल ग्रहण करना कल्पता है। वह भी बहता हुआ, बंधा हुआ नही।...निर्मलभूमि का जल, नीचे कीचड़ जमा हुआ हो ऐसा नहीं।...अतिस्वच्छ, गंदा नही।..छना हुआ, बिना छना हुआ नही।...दिया हुआ, अदत्त नही।.....पीने के लिए ही, किन्तु हाथ, पैर, चरु, चमस (=लकड़ी का चम्मच—दर्विका) धोने के लिये या स्नान करने के लियें नही।

टिप्पण—जैसे आजकल बंगाली तोल आदि तोल प्रसिद्ध है। वैसे ही पहले मागधादि तोल प्रसिद्ध थे। मागधप्रस्थक का उल्लेख उपर्युक्त सूत्र में हुआ है। वह प्रमाण इस प्रकार है। यथा—

दो असईओ पसई, दोहि पसईहि सेइया होइ।
चउसेइओ उ कुलओ, चउकुलओ पत्थओ होइ॥
चउपत्थमाढयं तह, चत्तारि य आढया भवे दोणो।

२ असई (=असती)=१ पसई (=प्रसृति)।
२ पसई १=सेइया (=सेतिका)।
४ सेइया=१ कुलओ (=कुलवः)।
४ कुलओ=१ पत्थओ (=प्रस्थक)।
४ पत्थओ (=प्रस्थक) =१ आढय (=आढक)।
४ आढय=१दोणो (=द्रोण)। (—टी०)

तेसि णं परिव्वायगाणं कप्पइ मागहए अद्धाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए। से वि य वहमाणे, णो चेव णं अवहमाणे। ....जाव णो चेव णं अदिण्णे। से वि य हत्थपायचरुचमस-

पक्खालणट्ठाए, णो चेव णं पिबित्तए सिणाइत्तए वा।

उन परिव्राजकों के आधा मागध आढक जल लेने का कल्प है। वह भी बहता हुआ, बंधा हुआ नहीं।....यावत् अदत्त नहीं।....हाथ, पैर, चरु, चमस को धोने के लिए; पीने और स्नान के लिए नहीं।

ते णं परिव्वायगा एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणंति। पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई,...दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।...सेसं तं चेव ॥१२॥

वे परिव्राजक इस तरह की चर्या से रहते हुए, बहुत वर्षों तक उस अवस्था को धारण करते हैं।....फिर काल के समय में काल करके, ब्रह्मलोक कल्प (=पाँचवें स्वर्ग) में देव रूप से उत्पन्न होते है।....उनकी....दस सागरोपम की स्थिति है।....शेष उसी प्रकार।

## अम्बड़ परिव्राजक के सात सौ शिष्य

३९—तेणं कालेणं तेणं समएणं अम्मडस्स परिव्वायगस्स सत्त अंतेवासिसयाइं गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूल-

मासंसि गंगाए महानईए उभओकूलेणं कंपिल्लपुराओ णयराओ पुरिमतालं णयरं संपट्ठिया विहाराए।

उस काल उस समय अम्बड़' परिव्राजक के सातसौ अन्तेवासी (=शिष्य) ग्रीष्मकाल के ज्येष्ठा-मूल अर्थात् ज्येष्ठ मास में गंगा महानदी के दो किनारो से कंपिल्लपुर' नगर से पुरिमताल नगर को जाने के लिए रवाना हुए।

टिप्पण-ज्येष्ठामूल मास=ऐसा महिना कि जिसकी पूर्णिमा को ज्येष्ठा या मूल नक्षत्र पड़ता हो। -(टी०)

तए णं तेसिं परिव्वायगाणं तीसे अगामियाए छिण्णावायाए× दीहमद्धाए अडवीए कंचि देसंतरमणुपत्ताणं, से पुव्वग्गहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुंजमाणे झीणे।

तब वे परिव्राजक, उस ग्राम से रहित और सार्थ-गोकुलादि के मिलन से रहित, लम्बे मार्गवाली अटवी के किसी भाग में पहुँच गये। पहले ग्रहण किया हुआ पानी बार-बार पीने से समाप्त हो गया।

तए णं ते परिव्वायगा● झीणोदगा समाणा तण्हाए पारब्भमाणा-पारब्भमाणा उदगदातारमपस्समाणा अण्णमण्णं सद्दावेंति।

तब वे परिव्राजक पानी के समाप्त हो जाने से, प्यास

× छिण्णोवायाए-त्ति पा०।

● परिव्वाया-त्ति पा०।

के बढ़ने से और जल-दाता के दिखाई नहीं देने से, एक–दूसरे को पुकारने लगे अथवा परस्पर बातें करने लगे।

**सद्दावित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमीसे अगामिआए...जाव अडवीए कंचि देसंतरमणुपत्ताणं, से उदए...जाव झीणे; तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमीसे अगामीए...जाव अडवीए उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करित्तए।**

पुकारकर इस प्रकार बोले–'हे देवानुप्रिय! इस ग्राम रहित...अटवी के किसी भाग में हम आ पड़े हैं।...जल...खत्म है। अतः हे देवानुप्रियों! इसी में भला है कि हम इस ग्राम रहित...अटवी में एकसाथ चारों ओर जलदाता की खोज करें'।

टिप्पण–मार्गण=अन्वयधर्म के द्वारा अन्वेषण (=वस्तुगतधर्म के द्वारा खोज) गवेषण=व्यतिरेकधर्म के द्वारा अन्वेषण (=विपरीत-धर्म के द्वारा खोज) –टीका०

**– त्तिकट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एअमट्ठं पडिसुणंति। पडिसुणित्ता तीसे अगामियाए....जाव अडवीए उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेंति।**

इस प्रकार एक–दूसरे के पास से यह बात सुनने लगे। सुनकर वे उस ग्राम रहित...अटवी में चारों ओर एक साथ जलदाता की खोज करने लगे।

**करित्ता उदगदातारमलभमाणा दोच्चंपि अण्णमण्णं सद्दावेंति। सद्दावेत्ता एवं वयासी–**

उदकदाता के नहीं मिलने पर, पुनरपि अन्योन्य बातें करने लगे।...इस प्रकार बोले–

इह णं देवाणुप्पिया! उदगदातारो णत्थि। तं णो खलु कप्पइ अम्हं अदिण्णं गिण्हित्तए। ● अदिण्णं सातिज्जित्तए। तं मा णं अम्हे इयाणिं आवइकालंमि अदिण्णं गिण्हामो–अदिण्णं सादिज्जामो। मा णं अम्हं ‡वयलोवे भविस्सइ।

'देवानुप्रियों! यहां उदकदाता नहीं है। अदत्त ग्रहण करने का हमारा कल्प नहीं है और न अदत्त भोगने का ही। तो हम इस आपत्तिकाल में भी अदत्त ग्रहण नहीं करें–नहीं भोगें, तो हमारे व्रत का लोप नहीं होगा।

तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया! तिदंडए कुंडियाओ य कंचणियाओ य करोडियाओ य भिसियाओ य छण्णालए य अंकुसए य केसरियाओ य पवित्तए य गणेत्तियाओ य छत्तए य वाहणाओ य (पाउयाओ य) धाउरत्ताओ य एगंते एडित्ता, गंगं महानइं ओगाहित्ता, वालुयासंथारए संथरित्ता, संलेहणाझोसियाणं भत्तपाणपडियाइक्खियाणं पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए।

---

● अदिण्णं भुंजित्तए–त्ति क्व०।

‡ कहीं कहीं–'तवलोवे' पाठ देखा जाता है। किन्तु वह 'वतलोवे' पाठ के वर्ण-व्यत्यय से बना हुआ भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है।

'तब हे देवानुप्रियों ! यही अच्छा है कि–हम त्रिदण्ड, कमण्डलु, रुद्राक्ष की मालाएँ, करोटिका (=मिट्टी का पात्र विशेष), वृषिका (=बैठने की पट्टडो), षण्नालक (=त्रिकाष्ठिका), अंकुशक (=देवार्चन के लिये वृक्ष के पत्तों को खीचने का सावन). केशरिका (=प्रमार्जन के लिये वस्त्रखण्ड), पवित्रक (=ताम्बे की अंगूठी), गणेत्रिक (=हस्ताभरण विशेष) छत्र, पादुकाएं और गैरिकवस्त्र एकान्त में छोड़कर, गंगा महानदी को पार करके या...नदी में प्रवेश करके, बालुका का संस्तारक (=बिछौना) करके, संलेखना (=देह और विचारो के विराधक संस्कार को क्षीण करने की क्रिया) का सेवन करते हुए, भात-पानी का त्याग करके, वृक्ष की–सी स्थिति में रहते हुए और मरण की इच्छा नही करते हुए ।' शान्त चित्त से रहे ।'

– त्तिकट्टु अरणमण्णस्स अंतिए एअमट्ठं पडिसुणंति । ....पडिसुणित्ता, तिदंडए....जाव एगंते एडेइ । एडित्ता गंगं महाणइं ओगाहेंति । ओगाहित्ता वालुयासंथारए संथरंति ।

इस प्रकार यह बात एक–दूसरे से कर्णोपकर्ण सुनी ।... सुनकर त्रिदण्ड....आदि को एकान्त में छोड़े ।... गंगा महानदी में प्रवेश किया ।...रेत का संस्तारक (=बिछौना) बनाया ।

वालुयासंथारयं दुरुहिंति । दुरूहित्ता पुरत्थाभिमुहा संपलि-

यंकनिसन्ना करयल....जाव कट्टु एवं वयासी–

रेत के संस्तारक पर बैठे। पूर्वाभिमुख पद्मासन से बैठकर, हाथ जोड़कर....इस प्रकार बोले–

णमोत्थु णं अरहंताणं....जाव संपत्ताणं। णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स....जाव संपाविउकामस्स। णमोत्थु णं अम्मडस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स।

'नमस्कार हो अर्हन्त प्रभु को...सिद्धि स्थान पर पहुँचे हुओं को। नमस्कार हो श्रमण भगवान् महावीर को..., निकट भविष्य में जो सिद्धिस्थान प्राप्त करनेवाले हैं। नमस्कार हो हमारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक अम्बड परिव्राजक को।'

पुव्विं णं अम्हे अम्मडस्स परिव्वायगस्स अंतिए थूलगपाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए।...मुसावाए...अदिण्णादाणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए। सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए। थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जावज्जीवाए।

पहले हमने 'अम्बड' परिव्राजक के पास स्थूल प्राणातिपात....मृषावाद....अदत्तग्रहण....सर्व मैथुन.....स्थूल परिग्रह का त्याग किया था, जीवनभर के लिये।

इयाणिं अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामो जावज्जीवाए। एवं...जाव सव्वं परि-

ग्गहं पच्चक्खामो जावज्जीवाए। सव्वं कोहं माणं मायं लोहं पेज्जं दोसं कलहं अब्भक्खाणं पेसुण्णं परपरिवायं अरइरइं मायामोसं मिच्छादंसणसल्लं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामो जावज्जीवाए। सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं चउव्विहंपि आहारं पच्चक्खामो जावज्जीवाए।

अब हम श्रमण भगवान् महावीर के समीप सम्पूर्ण प्राणातिपात....जाव सम्पूर्ण परिग्रह...सम्पूर्ण क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, अरतिरति, मायामृषा....मिथ्यादर्शनशल्य...नही करने योग्य योग (=मन, वचन और काया की क्रिया)...अशन (=अन्नादि), पान (=पानी), खाद्य (=मेवा आदि) और स्वादय (मुख-वासादि)—इन चार प्रकार के आहार का त्याग करते है जीवनभर के लिए।

जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं मणुण्णं मणामं पेज्जं× वेसासियं, संमयं बहुमयं अणुमयं, भण्डकरंडगसमाणं मा णं सीयं मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं वाला, मा णं चोरा, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वातिय-पित्तियसंनिवाइयं विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु—त्तिकट्टु एयं पि णं चरिमेहिं ऊसासणीसासेहिं वोसि-रामि।

---

× थेज्जं—ति पा०।

'यह जो शरीर इष्ट (=वल्लभ), कान्त (=सुन्दर), प्रिय, मनोज्ञ (=मन भावन), मणोम (=मनोरम), प्रेय (प्रीति के योग्य) या प्रेज्य (=पूजनीय), विश्वसनीय, सम्मत (=स्वयं को मान्य), बहुमत (=बहुतो का इष्ट) और अनुमत (=विगुण देखने पर भी पुनः पुनः मान्य) था और जिसे भूषण के करण्डक के समान माना था। कही इसे शीत न लग जाय, गर्मी न लग जाय, कही यह भूखा न रह जाय, कही प्यासा न मर जाय, कही इसे सर्प आदि न सतावे, कहीं यह चोरो से पीड़ित न हो जाय, डांस-मच्छर के उपद्रव में न फँस जाय, वात, पित्त और सन्निपातादि विवध रोगो से आतङ्कित न हो जाय और परीषह (क्षुधादि) और उपसर्ग (=देवादि के कष्ट) न सहना पड़े—इस प्रकार सुरक्षा से जिसे रक्खा है, उसे भी अन्तिम श्वास-उच्छ्वास में त्याग दें।'

—त्ति कट्टु संलेहणाझूसिया* भत्तपाण पडियाइक्खिया पाओवगया कालं अणवकंखमाणा विहरंति। तए णं ते परिव्वायगा बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति। छेदित्ता आलोइअ पडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववण्णा। तहिं तेसिं गई.....दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। परलोगस्स आराहगा। सेसं तं चेव।

---

* संलेहणा झूसणा झूसिया—त्ति पा०।

इस प्रकार तपस्या से शरीर को सोत्साह कृश करते हुए, भात-पानी का त्याग करके, वृक्ष-सी स्थिर अवस्था में रहकर, मरने की इच्छा से परे बने हुए, काल व्यतीत करने लगे। तब उन परिव्राजकों ने बहुत-से भक्त (=भोजनकाल) को अनशन (=अनाहार) से छेदन किये-विताए।....दोषों को देखकर, उनसे परे हटे। समाधि (=शान्ति=चित्त विशुद्धि) पाई। काल के समय में काल करके, ब्रह्मलोक कल्प में देव-रूप से उत्पन्न हुए..दस सागरोपम की स्थिति...परलोक के आराधक....शेष पूर्ववत्।

## अम्बड परिव्राजक

**४०—बहुजणे णं भंते! अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ एवं परूवेइ--एवं खलु अंमडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे णयरे घरसए आहारमाहरेइ, घरसए वसहिं उवेइ। से कहमेयं भंते! एवं!**

'भगवन्! बहुत-से मनुष्य परस्पर इस प्रकार कहते है...बोलते है,,.जतलाते हैं, प्ररूपणा करते है कि—'अम्बड़ परिव्राजक 'कंपिल्लपुर' नगर में सौ घरों में आहार करता है—सौ घरों में निवास करता है।'—तो क्या भन्ते! यह बात ऐसी ही है?'

गोयमा ! जण्णं से बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ...
जाव एवं परूवेइ–एवं खलु अम्मडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे...
जाव घरसए वसहिं उवेइ, सच्चे णं एसमट्ठे। अहं पि णं
गोयमा ! एवमाइक्खामि...जाव एवं परूवेमि–एवं खलु
अम्मडे परिव्वायए...जाव वसहिं उवेइ।

'गौतम ! जो बहुजन इस प्रकार कहते है कि अम्बड़ परिव्राजक...सौ घरो में निवास करता है...यह बात सत्य है। गौतम ! मै भी इस प्रकार कहता हूँ...'

से केणट्ठे णं भन्ते ! एवं वुच्चइ--अम्मडे परिव्वायए...जाव
वसहिं उवेइ।

'भन्ते ! किस कारण से इस प्रकार कहते है कि...?'

गोयमा ! अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स पगइभद्दयाए...जाव
विणीययाए छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं
बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए
आयावेमाणस्स, सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं
पसत्थाहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, अण्णया कयाइं तदावर-
णिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहावूहामग्गणगवेसणं करे-
माणस्स वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिणाणलद्धी
समुप्पण्णा।

हे गौतम ! स्वाभाविक भद्रता ( परोपकारशीलता )

से.,.यावत् विनीतता से युक्त, निरन्तर षष्ठोपवास (=दो-दो दिन के उपवास) रूप तप.कर्म सहित, भुजाएँ ऊँची रखकर और मुख सूर्य की ओर करके आतापना भूमि में आतापना लेनेवाले 'अम्बड' परिव्राजक को, शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्य-वसाय और विशुद्ध होती हुई प्रशस्त लेश्या के द्वारा, किसी समय तदावरणीय (=वीर्य लब्धि और वैक्रिय लब्धि के आव-रक तथा अवधिज्ञानावरण ) कर्मों का क्षयोपशम होने पर, जिज्ञासात्मक मति (=ईहा), निर्णयात्मक मति (=व्यूह),वस्तुगत धर्म के आलोचन (=मार्गण) और वस्तु में जो धर्म नहीहै उनके आलोचन (=गवेषण) रूप बुद्धि का व्यापार करते हुए, वीर्य-लब्धि और वैक्रियलब्धि के साथ अवधिज्ञान लब्धि प्राप्त हुई।

टिप्पण—लेश्या=मन, वचन और काया की क्रिया में प्रयुक्त पुद्-गलद्रव्य और उसके निमित्ति से होने वाला आत्मिक असर। अध्यवसाय =भावमन का व्यापार। परिणाम=जीव की परिणति। ज्यों-ज्यों मन, वचन और काया की क्रिया शुभ होती जाती है, त्यों-त्यों उनसे गृहीत पुद्गल द्रव्य भी शुभ और शुद्ध होता जाता है। जिससे अध्यवसाय में शुभता आती है। फिर शुभ अध्यवसायों से जीव की परिणति शुभ होती है और अन्त में शुद्ध दशा में भी स्थिति हो सकती है। प्रायः साधक दशा से साध्य दशा में पहुँचने का यही राजमार्ग प्रतीत होता है। ईहा ='यह वही है या अन्य ?'—इस प्रकार की आलोचनाभिमुख मति। व्यूह='यह वही है'—इस प्रकार का निश्चय। यथा—यह ठूंठा है या पुरुष? (ईहा)। यह तो ठूंठा ही है—(व्यूह)। क्योंकि बेलें आदि लिपटी हुई दिखाई दे रही है—(मार्गण) और पुरुष के समान शिर आदि भी नही हिला रहा है—(गवेषण)।

तए णं से अम्मडे परिव्वायए ताए वीरियलद्धीए वेउव्विय-लद्धीए ओहिणाणलद्धीए समुप्पण्णाए जणविम्हावणहेउं कंपिल्लपुरे घरसए...जाव वसहिं उवेइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–अम्मडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे णयरे घरसए...जाव वसहिं उवेइ।

तब वह 'अम्बड' परिव्राजक वीर्यलब्धि (=विशेष-शक्ति की प्राप्ति), वैक्रियलब्धि (=अनेक रूप बनाने की शक्ति) और अवधिज्ञानलब्धि (=रूपी पदार्थों को आत्म प्रदेशों से जानने की शक्ति) के प्राप्त होने पर, मनुष्यों को विस्मित करने के लिये, 'कंपिल्लपुर' नगर में सौ घरों में आहार करता है–सौ घरों में निवास करता है। इस कारण हे गौतम! इस प्रकार कहता हूँ, कि– 'अम्बड....'।

टिप्पण–टीकाकार सूचित करते हैं कि–'बहुत-सी प्रतियों में 'अम्मड' के साथ जो 'परिव्वायग' विशेषण आता है वह अयुक्त है। क्योंकि स्थानांगादि में केवल 'अम्बड' ही देखा जाता है।' संभव है–टीकाकार को अम्बड' के बारह व्रतधारी होने के कारण 'परिव्वायग' विशेषण अयुक्त लगा हो। अतः स्थानांगादि का प्रमाण दिया। किन्तु परिव्राजक वेश के रहते हुए, उन्हें परिव्राजक 'विशेषण' लगाना असंगत तो नहीं है। क्योंकि पीछे के सूत्र में उनके शिष्यों को भी परिव्राजक ही कहा है। 'अम्बड' और 'अम्बड' के शिष्यों का वर्णन ही संभवतः यह बताने के लिये हुआ है, कि–परिव्राजकों में परिव्राजक वेष के रहते हुए श्रावक व्रतों का पालन करने से वे परलोक के आराधक हो सकते है।

पहू णं भंते! अम्मडे परिव्वायए देवाणुप्पियाणं अंतिए

मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ?–णो इणट्ठे समट्ठे ।

भन्ते ! अम्बड परिव्राजक देवानुप्रिय के पास में मुंडित होकर गृहवास से निकलकर, अनगार अवस्था को प्राप्त करने के लिये समर्थ है ? हे गौतम! –यह शक्य नही है ।

गोयमा ! अम्मडे णं परिव्वायए समणोवासए अभिगय-जीवाजीवे... जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । णवरं ऊसिय-फलिहे अवंगुयदुवारे चियत्तंतेउरघर-दार-पवेसी एयं ण वुच्चइ ।

किन्तु गौतम! अम्बड परिव्राजक श्रमणोपासक होकर, जीव और अजीव को जानता हुआ... यावत् आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करता रहेगा । 'ऊसिय...' आदि तीन विशेषण नही कहना चाहिए ।

टिप्पण–'जाव' करण से 'उवलद्धपुण्णपावे आसव..' आदि विशेषणों का ग्रहण होता है । जिनका अनुवाद २० वे प्रश्न में आयेगा । 'ऊसियफलिहे' आदि तीन विशेषण यहां नहीं कहने चाहिए, क्योंकि ये परिव्राजक (संन्यासी) के वेष में श्रावक बने हैं । इसलिए इनके घर आदि नहीं है । अतएव ये तीन विशेषण इनके लिए नहीं कहने चाहिए ।

अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स थूलए पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए...जाव परिग्गहे, णवरं सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए ।

'अम्बड'..के स्थूल प्राणातिपात..मृषावाद...अदत्तादान... सर्वमैथुन...स्थूल परिग्रह के जीवनभर के लिये प्रत्याख्यान हैं।

**अम्मडस्स णं णो कप्पइ अक्खसोयप्पमाणमेत्तं पि जलं सयराहं उत्तरित्तए। णण्णत्थ अद्धाण-गमणेणं।**

'अम्बड'.. को मार्ग-गमन के सिवाय, गाड़ी की धुरा डूबने जितने जल में भी अकस्मात् उतरना नही कलपता है।

**अम्मडस्स णं णो कप्पइ सगडं... एवं चेव भाणियव्वं जाव णण्णत्थ एगाए गंगामट्टियाए।**

अम्बड को गाडी..आदि यानो में बैठना नही कलपता है। इसी प्रकार 'एगाए गगाए मट्टियाए' तक कहना चाहिए अर्थात् पहले परिव्राजको के वर्णन में जो ये विशेषण आ चुके है वैसे ही विशेषणो से युक्त 'अम्बड' भी थे।

**अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ-आहाकम्मिए वा उद्देसिए वा मीसजाए इ वा अज्झोयरए इ वा पूइकम्मे इ वा कीयगडे इ वा पामिच्चे इ वा अणिसिट्ठे इ वा अभिहडे इ वा ठइत्तए इ वा * रइए इ वा कंतारभत्ते इ वा दुब्भिक्खभत्ते इ वा पाहुणगभत्ते इ वा गिलाणभत्ते इ वा वद्दलियाभत्ते इ वा भोत्तए वा पाइत्तए वा।**

—अपने लिये बनाया हुआ, किसी साधु के लिये बनाया

---

* रइत्तए—त्ति पा.।

हुआ, साधु और गृहस्थ दोनों के लिये बनाया हुआ, गृहस्थ के बनते हुए भोजन में साधु के लिये कुछ और बढ़ाकर बनाया हुआ, अपने लिये बनाए हुए भोजन-पान के अंश से मिश्रित बना हुआ, अपने लिये खरीदा हुआ, उधार लिया हुआ, घर के व्यक्ति या मुखिया से बिना पूछे दिया जानेवाला, सामने लाकर दिया जानेवाला, अपने लिये ही अलग रखा हुआ, अपने लिये संस्कारित किया हुआ, अटवी उल्लंघन के लिए घर से लाया हुआ पाथेय (भाता) रूप आहार, अथवा भिक्षुकों के निर्वाह के लिये जंगल में संस्कारित किया हुआ, दुर्भिक्ष पीडितों के लिये या दुर्भिक्ष के कारण भिक्षुओ के लिये बना हुआ, पाहुने से सम्बन्धित रहा हुआ, रोगी के लिये बना हुआ और दुर्दिन=बादल आदि से आच्छन्न दिन में गरीबो के लिये बना हुआ भोजन-पान, अम्बड को खाना-पीना नही कल्पता है।

**अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ-मूलभोयणे इ वा... जाव बीयभोयणे इ वा भोत्तए वा पाइत्तए वा।**

अम्बड. .के मूलभोजन...बीजभोजन करने का कल्प नही है।

टिप्पण—'जाव' करण से—'कंदभोयणे इ वा' 'फलभोयणे इ वा' और 'हरियभोयणे इ वा' आदि पदों का ग्रहण होता है। अर्थ—कंद से लेकर बीज तक का सचित्त वस्तु का भोजन अम्बड को नहीं कल्पता है।

**अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स चउव्विहे अणत्थदंडे पच्च-क्खाए जावज्जीवाए। तं जहा--अवज्झाणायरिए पमायायरिए**

हिंसप्पयाणे पावकम्मोवएसे।

अम्बड...ने जीवनभर के लिये चार प्रकार की निरर्थंक हिसक क्रियाएँ (=अनर्थदण्ड ) छोड़ दी है। यथा-बुरे ध्यान का सेवन, प्रमाद-सेवन, हिंसा के साधन अन्य को देना और पाप से होनेवाली क्रियाओं के करने का उपदेश देना।

**अम्मडस्स कप्पइ मागहए अद्धाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए। से वि य वहमाणे नो चेव णं अवहमाणए... जाव से वि य पूए, नो चेव णं अपरिपूए। से वि य सावज्जे-त्ति काउं, णो चेव णं अणवज्जे। से वि य जीवा-× त्ति कट्टु, णो चेव णं अजीवा। से वि य दिण्णे,णो चेव णं अदिण्णे। से वि य दंतहत्थपायचरुचमसपक्खालणट्ठयाए पिवित्तए वा, णो चेव णं सिणाइत्तए।**

वहता हुआ जल, किंतु बन्धा हुआ नही.. .छना हुआ जल, किन्तु अनछना नहीं....वह सावद्य जल है, किन्तु निरवद्य नही है...सजीव है किन्तु अजीव नही है...दत्त जल किन्तु अदत्त नहीं-ऐसा मगध का आधा आढक जल, हाथ-पैर, दाँत, चरु, चमस धोने के लिये और पीने के लिये, किन्तु स्नान के लिये नही-अम्मड के लेने का कल्प है। अर्थात् हाथ आदि धोने के लिये और पीने के लिए वहते हुए प्रवाह से, सावद्य और सजीव से छानकर दिया हुआ जल, मगध के आधे आढक

× जीवा इति कट्टु-इति पा०



जितना लेने का, अम्बड के कल्प है ।

टिप्पण-'यह जो जल का परिमाण करण है वह जल सावद्य है-सजीव हैं'-ऐसा करके परिमाण करना अथवा छना हुआ जल किस कारण से ग्रहण करते हैं ?-जल सावद्य है, उसमें पूतरकादि जीव हैं-ऐसा सोचकर । यह भाव है ।-टी०

अर्थात् अम्बड ने यह प्रतिज्ञा नहीं की थी, कि-'मैं सावद्य और सजीव जल ही काम में लूंगा' । क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा सुप्रत्याख्यान में नहीं गिनी जा सकती । अतः इन प्रतिज्ञागत वाक्यों का यह आशय है, कि-'जिस जल का मैं उपयोग करता हूँ, वह जल सावद्य और सजीव है, किन्तु निरवद्य और निर्जीव नहीं है'-ऐसा विचार करके, जल की मर्यादा की, अथवा जल को छानकर,उपयोग में लेने का नियम लिया । 'त्ति काउं' और 'तिकट्टु' शब्दों से भी यही ध्वनि निकलती है ।

**अम्मडस्स कप्पइ मागहए आढए जलस्स पडिग्गाहित्तए । से वि य वहमाणे... जाव दिन्ने, णो चेव णं अदिण्णे । से वि य सिणाइत्तए, णो चेव णं हत्थपायचरुचमस-पक्खालणट्ठयाए पिवित्तए वा ।**

अम्बड के मागध एक आढक जल लेने का कल्प है । वह भी बहता हुआ...जाव दत्त...स्नान के लिये, किन्तु हाथ, पैर...आदि धोने और पीने के लिये नहीं ।

**अम्मडस्स णो कप्पइ अण्णउत्थिया वा, अण्णउत्थियदेव-याणि वा, अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा चेइयाइं वंदित्तए वा णमंसित्तए वा...जाव पज्जुवासित्तए वा । णण्णत्थ**

अरिहंते वा, अरिहंतचेइयाइं वा ।

'अम्बड'को नही कल्पता है—अन्य तैथिकों, अन्य तैथिक देवों और अन्यतैथिको से परिगृहीत 'चेइयो' को वन्दन—नमस्कार करना...यावत् उनकी पर्युपासना करना, केवल अर्हन्तों और 'अरिहन्तचेइयो' को छोड़कर ।

टिप्पण—'चेइय' शब्द के अर्थ में मत-भेद है । इस 'सूत्र' में दो बार 'चेइय' शब्द आया है । मूर्तिपूजक पक्ष 'चेइय' शब्द का अर्थ 'जिन-प्रतिमा' करते हैं । उनका कहना है, कि—'अण्णउत्थिया शब्द से 'जिनेन्द्र शासन की अपेक्षा दूसरे शाक्य आदि संघों', 'अण्णउत्थियदेवयाणि'पद से 'उन संघों के आराध्यो' और '—अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा चेइयाइं' पद से 'इतर मतावलम्बियों से पूरी तरह ग्रहण करली गई जिनप्रतिमाओं' को वंदना आदि करने का निषेध है और 'अरिहंते' पद से 'अर्हन्तों' और 'अरिहंतचेइयाइं' पद से 'अर्हन्तों की प्रतिमाओं' को वन्दनादि करने का स्वीकार । टीकाकार ने भी—'चेइयाइं'—ति अर्हच्चैत्यानि-जिनप्रतिमा-इत्यर्थः'—यह टीका की है । किन्तु अमूर्तिपूजक पक्ष का कहना है, कि—यहाँ 'चेइय' पद का अर्थ 'जिनप्रतिमा' ही करना असंगत है । 'अम्मड' श्रमणोपासक ही थे, श्रमण नहीं । जब कि श्रमणों के लिये भी चारित्र-वृद्ध श्रमणों को वन्दना करना आवश्यक है, तो फिर 'श्रमणोपासकों' के लिये वह वर्जनीय कैसे हो सकता है ? यदि 'अर्हन्तचैत्य' का अर्थ 'जिन-प्रतिमा' ही किया जाय तो 'अरिहन्त' और उनकी 'प्रतिमाओ' के सिवाय अन्य को वन्दनादि करने का निषेध हो जाता है । तो क्या 'अम्मड' जैसे श्रमणोपासक 'निर्ग्रन्थ श्रमणो' की अवहेलना करते थे ?—ऐसा संभव नहीं है । अतः यहाँ 'अरिहन्तचेइय' का 'निर्ग्रन्थ श्रमण' अर्थ होना चाहिए और 'अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि चेइयाइं' पद का अर्थ 'दृष्टिभ्रष्ट



और चारित्र भ्रष्ट' अर्थात्'जिनशासन को छोड़कर इतर संघों में मिले हुए' 'निर्ग्रन्थ श्रमण'—होना चाहिए। चेइय शब्द का यह अर्थ हमारा मनः-कल्पित नहीं है। कहा है—

वुद्धं जं वोहतो, अप्पाणं चेइयाइ अण्णं च
पचमहव्वयसुद्धं, णाणमयं जाण चेदिहरं ॥८॥
——बोधपाहुड

जिसने ज्ञानी को जानते हुए, अपने आपको और अन्यको जाना है, जो पाँच महाव्रत से शुद्ध बन गये हैं—ऐसे ज्ञानमय को 'चैत्यगृह' जानो।

इस प्रकार यहाँ 'अरिहंतचेइय' शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और चेतनावान के लिये ही। जिसमें साधक दशा में रहे हुए अरिहन्तो से लगाकर, वीतराग भाव के लिये सतत् परिश्रमी सभी पूर्ण त्यागियों का समावेश हो जाता है। जिनकी चेतना का प्रवाह, राग-रञ्जित लक्ष्यविन्दुओं से हटकर, रागरहित लक्ष्यविन्दु 'अरिहन्त' की ओर मुड़ गया हो, सचमुच में वे ही 'अरिहन्तचेइय' है। कभी कभी द्रव्य अरिहन्त साधक दशा में स्थित तीर्थंकरादि से साधारण निर्ग्रंथ साधकों को भिन्न वताने के लिये, उनका अलग शब्द से भी निर्देश कर दिया जाता है। यथा—'भगवई' अंग में चमरेन्द्र के वर्णन में।

'अण्णउत्थियपरिग्गहिय चेइय' का यह भी अर्थ हो सकता है, कि—'जिसकी चेतना 'निर्ग्रंथ-शासन' वत् हो चुकी हो, किन्तु अन्यतैर्थिकों का आश्रय छोड़कर, निर्ग्रंथ प्रवचन से अनुमोदित चारित्र को ग्रहण नहीं किया हो, ऐसा इतर संघीय साधक और जिसका श्रद्धान और ज्ञान निर्ग्रंथ प्रवचन के अनुकूल हो, किन्तु तदनुमोदित चारित्र का त्यागकर, इतर-संघीयों का आश्रित वन गया हो —ऐसा निर्ग्रन्थ श्रमण।'

# अम्बड के भविष्य के भव

अम्मडे णं भंते ! परिव्वायए कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?--गोयमा ! अम्मडे णं परिव्वायए उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा बहूइं वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणिहिइ । पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता, आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिइ । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं अम्मडस्सवि देवस्स दस सागरोवमाइं ठिई ।

भन्ते ! अम्बड परिव्राजक काल के समय में काल करके कहाँ जायगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?

हे गौतम ! अम्बड परिव्राजक छोटे बड़े विविध प्रकार के शीलव्रत (=अणुव्रत), गुणव्रत, विरमण (=रागादि से विरति के प्रकार), प्रत्याख्यान (='णम्मुक्कारसहिय' आदि पच्चक्खाण') और पोषधोपवास (=अष्टमी आदि पर्व दिनों में की जानेवाली विशेष प्रकार की आत्मिक साधना) के द्वारा अपनी आत्मा को भावित करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक अवस्था को पालेगा ।...फिर एक महिने की संलेखना

से आत्मा में लीन होकर (=अप्पाणं=आत्मा को+झूसित्ता=सेवन करके), साठ भक्त (=भोजन के समय) को निराहार अवस्था से काटकर, आत्म-दोषों का स्मरण करके, उनसे पीछे हटता हुआ समाधि (=आत्मशान्ति) की प्राप्ति करता हुआ, काल के समय में काल करके, ब्रह्मलोककल्प में देवरूप से उत्पन्न होगा। वहाँ पर कई देवों की स्थिति दस सागरोपम की होती है। तो वहाँ पर 'अम्बड' देव की भी स्थिति दस सागरोपम की होगी।

**से णं भंते ! अम्मडे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता। कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?–गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवंति–अड्ढाइं दित्ताइं वित्ताइं विच्छिण्णविउल-भवणसयणासणजाणवाहणाइं बहुधणजायरूवरययाइं आओ-गपओगसंपउत्ताइं विच्छड्डियपउरभत्तपाणाइं बहुदासीदास-गोमहिसगवेलगप्पभूयाइं बहुजणस्स अपरिभूयाइं। तहप्प-गारेसु कुलेसु† पुमत्ताए पच्चायाहिइ।**

भन्ते ! 'अम्मड' देव उस देवलोक से आयु...भव (=देव-गति)...और स्थिति के क्षीण होने पर, चव कर कहाँ जायगा ? कहां उत्पन्न होगा ?

गौतम ! महाविदेह क्षेत्र में जो कुल है, वे समृद्ध, दर्प-

---

† 'कुले'–त्ति क्वचित्।

वान् और प्रसिद्ध हैं। अनेकों भवन, शयनासन, यान और वाहनो से युक्त है। उनके यहाँ धन, सोने, चाँदी की कमी नही। वे अर्थलाभ के उपायो का सफलता से प्रयोग करते है। कुल मनुष्यों के भोजन के बाद, अन्य बहुत-से मनुष्यों का भी गुजारा हो सके, इतना प्रचुर भोजन-पान उनके यहां बनता है। वहाँ दास-दासियों की भी कमी नही। वे गायें आदि पशुधन से समृद्ध हैं। ऐसे कुलों में से एक कुल में पुरुष रूप से उत्पन्न होगा।

टिप्पण–आयुक्षय=आयुःकर्म के दलिकों का आत्मा से सम्बन्ध छूटना।
भवक्षय=देवादि भव के निबन्धनभूत कर्मों का क्षय होना।
स्थितिक्षय=आयुःकर्म और दूसरे भी तद्योग्य कर्मों का आत्मा के साथ लगे रहने का काल समाप्त हो जाना–टी०

देव की जो 'अम्बड' संज्ञा कही गई है, वह इस भव की अपेक्षा से। वहाँ अन्य संज्ञा होना संभव है।

**तए णं तस्स दारगस्स गब्भत्थस्स चेव समाणस्स अम्मा-पिईणं धम्मे दढा पइण्णा भविस्सइ।**

तब उस बालक के गर्भ में आते ही माता-पिता की धर्म में दृढ़ प्रतिज्ञा होगी।

**से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणराइं-दियाणं वीइक्कंताणं सुकुमालपाणिपाए...जाव ससिसोमाकारे**

कंते पियदंसणे सुरूवे दारए पयाहिइ ।

वहाँ पूर्ण नव महिने और साढ़े सात रात्रि-दिन वीतने पर, सुकुमार हाथ-पैर वाले....यावत् चन्द्र के समान सौम्याकार, कान्त और प्रिय दर्शनवाले सुरूप वालक का जन्म होगा।

तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठिइवडियं काहिंति ।

तब उस वालक के माता-पिता, पहलेदिन कुल क्रम के अनुसार पुत्र जन्म के योग्य क्रिया करेंगे ।

विइयदिवसे चंदसूरदंसणियं काहिंति । छट्ठे दिवसे जागरियं काहिंति ।

दूसरे दिन 'चन्द्र-सूर्य-दर्शनिका' नामक जन्म उत्सव करेंगे । छट्ठे दिन 'जागरिका' नामक जन्मोत्सव करेंगे ।

एक्कारसे दिवसे वीइक्कंते णिव्वित्ते असुइजायकम्मकरणे, संपत्ते वारसाहे दिवसे अम्मापियरो इमं * एयारूवं गोणं गुणनिप्फण्णं नामधेज्जं काहिंति—जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भत्थंसि चेव समाणंसि धम्मे दढपइण्णा, तं होउ णं अम्हं दारए दढपइण्णे णामेणं । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेहिंति—दढपइण्णे--त्ति । +

* 'अयं'—इति पा. ।

+ इहस्थाने पुस्तकान्तरे 'पंचधाइपरिग्गहिए' इत्यादि ग्रन्थो दृश्यते ।

ग्यारह दिन बीत जाने पर—जनन-क्रिया सम्बन्धी अशुचि के विधान के निवृत्त होने पर—बारहवें दिन माता-पिता यह इस रूप से गुणों से सम्बन्वित गुणनिष्पन्न (=गुणानुसार बननेवाला) नाम-सस्कार करेंगे—'क्योंकि यह बालक गर्भ में था, उस समय धर्म मे हमारी दृढ प्रतिज्ञा हुई थी। अतः हमारा बालक 'दढपइण्ण' (=दृढप्रतिज्ञ) नाम से (प्रसिद्ध) हो।'—तब माता-पिता उस बालक का नाम 'दढपइण्ण' रखेंगे।

**तं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो साइरेगऽट्ठवासजायगं जाणित्ता सोभणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेहिंति।**

फिर वे 'दढपइण्ण' बालक को आठ वर्ष से अधिक का हुआ जानकर, शुभ तिथि, करण और नक्षत्रवाले मुहूर्त में कलाचार्य के पास ले जायेंगे।

**तए णं से कलायरिए तं दढपइण्णं दारगं लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणरूयपज्जवसाणाओ बावत्तरि कलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सेहाविहिइ, सिक्खाविहिइ।**

तब कलाचार्य उस 'दढपइण्ण' बालक को लेखादि (=लेखनकला आदि मे है जिसके ऐसी), गणितप्रधान 'शकुन रुत' पर्यन्त बहोत्तर कलाएँ सूत्र से, अर्थ से और प्रयोग से सधाएंगे—सिखाएंगे।

तं जहा—लेहं, गणियं, रूवं, णट्टं, गीयं, वाइयं, सरगयं, पुक्खरगयं, समतालं, जूयं, जणवायं, पासकं, अट्ठावयं, पोरेकच्चं, दगमट्टियं, अण्णविहिं, पाणविहिं, वत्थविहिं, विलेवणविहिं, सयणविहिं, अज्जं, पहेलियं, मागहियं, गाहं, गीइयं, सिलोयं, हिरण्णजुत्तिं, सुवण्णजुत्तिं, गंधजुत्तिं, चुण्णजुत्तिं, आभरणविहिं, तरुणीपडिकम्मं, इत्थिलक्खणं, पुरिसलक्खणं, हयलक्खणं, गयलक्खणं, गोणलक्खणं, कुक्कुडलक्खणं, चक्कलक्खणं, छत्तलक्खणं, चम्मलक्खणं, दंडलक्खणं, असिलक्खणं, मणिलक्खणं, काकणिलक्खणं, वत्थुविज्जं, खंधारमाणं, नगरमाणं, वत्थुनिवेसणं, वूहं पडिवूहं, चारं पडिचारं, चक्कवूहं, गरुलवूहं, सगडवूहं, जुद्धं, निजुद्धं, जुद्धाइजुद्धं, मुट्ठिजुद्धं, बाहुजुद्धं, लयाजुद्धं, इसत्थं, छरुप्पवाहं, धणुव्वेयं, हिरण्णपागं, सुवण्णपागं वट्टखेडं, सुत्तखेड्डं, णालियाखेड्डं, पत्तच्छेज्जं, कडवच्छेज्जं, सज्जीवं, निज्जीवं, सउणरुय-मिति बावत्तरिकलाओ सेहावित्ता ।

वे यथा—१ लेख, २ गणित, ३ रूप, ४ नाटच, ५ गीत, ६ वादित, ७ स्वरगत, ८ पुष्करगत, ९ समताल, १० द्यूत, ११ जनवाद. १२ पाशक, १३ अष्टापद, १४ पोरस्कृत्य, १५ उदक-मिट्टिय, १६ अन्नविधि. १७ पानविधि, १८ वस्त्र-विधि, १९ विलेपनविधि, २० शयनविधि, २१ आर्या, २२ प्रहेलिका, २३ मागधिका, २४ गाथा, २५ गीतिका, २६ श्लोक,

२७ हिरण्ययुक्ति, २८ सुवर्णयुक्ति, २९ गन्धयुक्ति, ३० चूर्ण-युक्ति, ३१ आभरणविधि, ३२ तरुणीप्रतिकर्म, ३३ स्त्रीलक्षण, ३४ पुरुषलक्षण, ३५ हयलक्षण, ३६ गजलक्षण, ३७ गोलक्षण, ३८ कुक्कुटलक्षण, ३९ चक्रलक्षण, ४० छत्रलक्षण, ४१ चर्म-लक्षण, ४२ दंडलक्षण, ४३ असिलक्षण, ४४ मणिलक्षण, ४५ काकणिलक्षण, ४६ वास्तुविद्या, ४७ स्कंधारमाण, ४८ नगरमाण, ४९ वास्तुनिवेसन, ५० व्यूह–प्रतिव्यूह, ५१ चार–प्रतिचार, ५२ चक्रव्यूह, ५३ गरुडव्यूह, ५४ शकट-व्यूह, ५५ युद्ध, ५६ नियुद्ध, ५७ युद्धातियुद्ध, ५८ मुष्टियुद्ध, ५९ बाहुयुद्ध, ६० लतायुद्ध, ६१ 'इसत्थं छरुप्पवाह', ६२ धनु-र्वेद, ६३ हिरण्यपाक, ६४ सुवर्णपाक, ६५ वट्टखेड, ६६ मुत्त-खेडु, ६७ नालियाखेडु ६८ पत्रच्छेद्य, ६९ कुडवछेद्य, ७० सजीव, ७१ निर्जीव और ७२ शकुनरुत–ये बहोतर कलाएँ सिखायेंगे।

टिप्पण–तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के तीन अंग बताये हैं। स्मृति के लिये सूत्रात्मक पद्धति से, समझ के विकाश के लिये व्याख्यात्मक पद्धति और दक्षता के लिये प्रयोगात्मक पद्धति से शिक्षा दी जाती थी।

सिक्खावेत्ता अम्मापिईणं उवणेहिइ। तए णं तस्स दढपइण्णा-स्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विउलेणं असण-पाणखाइमसाइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेहिंति-सम्मा-णेहिंति। सक्कारेत्ता संमाणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइस्सइ।......दलइत्ता पडिविसज्जेहिंति‡।

‡ 'विन्नयपरिणयमेत्ते'–त्ति क्वचित्।

तब कलाचार्य उसे मात-पिता के पास ले जाएंगे। तब उस 'दढपइण्ण' के माता-पिता उन कलाचार्य का विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, गन्ध, माल्य और अलंकार से सम्मान करेंगे-सत्कार करेंगे।....जीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान देंगे। फिर...विसर्जन करेंगे।

**तए णं से दढपइण्णे दारए बावत्तरिकलापंडिए नवंगसुत्त-पडिबोहिए अट्ठारसदेसीभासाविसारए गीयरई गंधव्वणट्ट-कुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी वियालचारी साहसिए अलं भोगसमत्थे यावि भविस्सइ।**

तब वह बहोत्तर कला में पण्डित, सुप्त नव अंगों की जागृतिवाला, अठारह देश की भाषा में विशारद, संगीत-प्रेमी, गन्धर्व-नाटच में कुशल, हय, गज, रथ, और बाहुयुद्ध का कुशल योद्धा, बाहुओं से प्रमर्दन करनेवाला, विकालचारी (=रात्रि में भी भ्रमण करने में निर्भय), और साहसिक 'दढपइण्ण' बालक पूर्णतः भोगानुभव करने की शक्ति-वाला होगा।

टिप्पण—'नवांग सुप्तप्रतिबोधित' अर्थात् दो कान, दो आँखें, दो घ्राण (=नाक), एक जिह्वा, एक त्वचा और एक मन—ये नव अंग, जो बाल अवस्था के कारण सोये हुए-से (=अव्यक्त चेतनावाले) थे वे जागृत (=यौवन से व्यक्त चेतनावाले) हुए।

**तए णं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो बावत्तरिकलापंडियं ...जाव अलं भोगसमत्थं वियाणित्ता, विउलेहिं अण्ण-**

भोगेहिं पाणभोगेहिं लेणभोगेहिं वत्थभोगेहिं सयणभोगेहिं उवणिमंतेहिंति।

तब माता-पिता 'दढपइण्ण' बालक को बहोत्तर कला में पण्डित ...जाव पूर्ण भोग-समर्थ जानकर, विपुल अन्नभोग (=अन्नादि खाने योग्य भोग्य पदार्थ), पानभोग (=पानी आदि पीने योग्य पदार्थ), लयनभोग (=गृह आदि निवास योग्य पदार्थ), वस्त्रभोग (=वस्त्र आदि पहनने योग्य पदार्थ), और शयन-भोग (=शय्या आदि सोने-आराम करने योग्य पदार्थ) में जोड़ेंगे।

तए णं से दढपइण्णे दारए तेहिं विउलेहिं अण्णभोगेहिं ...जाव सयणभोगेहिं णो सज्जिहिइ, णो रज्जिहिइ, णो गिज्झिहिइ, णो मुज्झिहिइ णो अज्झोववज्जिहिइ।

वह 'दढपइण्ण' बालक अन्न आदि भोगों में संग (=सम्बन्ध स्थापित) नहीं करेगा, राग-रञ्जित नहीं होगा, अप्राप्त भोगों की आकाक्षा नहीं करेगा और अत्यन्त लीन नहीं होगा।

से जहाणामए उप्पले इ वा, पउमे इ वा, कुसुमे इ वा, नलिणे इ वा, सुभगे इ वा, सुगंधे इ वा, पोंडरीए इ वा, महापोंड-रीए इ वा, सयपत्ते इ वा, सहस्सपत्ते इ वा, सयसहस्सपत्ते इ वा, पंके जाए, जले संवुड्ढे णोवलिप्पइ पंकरएणं, णोवलि-प्पइ जलरएणं; एवमेव 'दढपइण्णे' वि दारए कामेहिं जाए,

**भोगेहिं संवुड्ढे, णोवलिप्पिहिइ कामरएणं, णोवलिप्पिहिइ भोगरएणं, णोवलिप्पिहिइ मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरि-जणेणं ।**

जैसे उत्पल (=नीलकमल), पद्म (=पीत कमल), कुसुम (=रक्त कमल), नलिन (=कुछ कुछ लाल–गुलाबी कमल), सुभग (=संभवतः सुनहरा कमल),सुगन्ध (=नील कमल=संभ-वत हरा कमल ), पुण्डरीक (=सफेद कमल), महापुण्डरीक, शतपत्र (=सौ पँखड़ीवाला कमल), सहस्रपत्र (=हजार पँख-ड़ीवाला कमल ) और शतसहस्रपत्र (=लाख पंखड़ीवाला) कीचड़ में उत्पन्न हुए और जल में वृद्धि पाए; किन्तु लिप्त नही होते है पंक-रज (=कीचड़ के सूक्ष्म कणों) से–लिप्त नहीं होते हें जलरज (=जल कण) से । वैसे ही वह 'दढपइण्ण' बालक भी काम में उत्पन्न हुआ और भोगों में पला; किन्तु लिप्त नहीं होगा कामरज(=शब्द और रूपरूपी रज)से, लिप्त नहीं होगा भोगरज (=गंध, रस और स्पर्श रूप रज) से और लिप्त नहीं होगा मित्र, सजातीय, भाई-बेटे (=णियग), स्वजन (=मामा आदि), सम्बन्धी (=श्वसुरादि) और परिजन (=दासी-दास आदि) में ।

**से णं तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहिइ । बुज्झित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिइ ।**

वह तथारूप (=जिन आज्ञावर्ती ) स्थविरों के समीप

विशुद्ध सम्यग्दर्शन (=केवलबोधि) का अनुभव करेगा ।.....
फिर गृहवास से निकलकर अनगार बनेगा।

से णं भविस्सइ अणगारे भगवंते इरियासमिए....जाव गुत्त-बंभयारी । तस्स णं भगवंतस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिहिइ ।

वे होगे अनगार भगवन्त हलन-चलन में यतनावान्.... यावत् ब्रह्मचर्य के रक्षक नियमों से युक्त ब्रह्मचारी (=गुप्त-ब्रह्मचारी) । ऐसी चर्या से विचरनेवाले उन भगवन्त को अनन्त पदार्थों को विषय बनानेवाला (=अनन्त), सर्वश्रेष्ठ (=अनुत्तर), किसी भी प्रकार की रुकावट (=भीत आदि) या ओट में रहे हुए पदार्थों को भी जानने में समर्थ (=निव्वा-घाय), आवरण से रहित, सकल अर्थों का ग्राहक (=कसिण) और अपने समस्त अंशो से युक्त (=पडिपुण्ण) श्रेष्ठ केवल (समस्त निर्मल आत्म-प्रदेशों के द्वारा स्वतः ही होनेवाला) ज्ञान (=विशेष अवबोध) और केवल दर्शन (=सामान्य अव-बोध) उत्पन्न होगा।

तए णं से दढपइण्णे केवली बहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणिहिइ । पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं भूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेएत्ता, जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे मुंडभावे अण्हाणए अदंतवणए केसलोए बंभचे-

रवासे अच्छत्तगं अणोहवाहणगं भूमिसेज्जा फलहसेज्जा कट्ठ सेज्जा परघरपवेसो-लद्धावलद्धं परेहिं हीलणाओ खिंस णाओ णिंदणाओ गरहणाओ †तज्जणाओ तालणाओ परि भवणाओ पव्वहणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहो वसग्गा अहियासिज्जंति; तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सासणि स्सासेहिं सिज्झिहिइ, बुज्झिहिइ, मुच्चिहिइ, परिणिव्वाहिइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेहिइ ॥१४॥

वे 'दढपइण्ण' केवली बहुत वर्षों तक केवली अवस्था में विचरेंगे ।...फिर एक महीने की कर्ममल को क्षीण करनेवाली क्रिया (=सलेखना) के द्वारा अपने में आपको लीन करके अथवा अपने से ही आपको सेवित करके, भोजन के साठ समयों को बिना खाये-पीये ही काटकर, जिस लक्ष्य के लिए स्वीकार किया था-नग्नभाव (=शरीर और शरीर के संस्कारो के प्रति वेदरकारी), मुण्डभाव (=घर, समाज, देश, राष्ट्र आदि के ममत्त्व सम्बन्धो का त्याग), अस्नान, अदन्तवन (=दांत नहीं धोना), केशलोच(=बालों को उखाड़ना),ब्रह्मचर्यवास (=बाह्य अभ्यन्तर आत्मसाधना), छत्र धारण नही करना, जोड़े नहीं पहनना, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या और परघर में प्रवेश-जहाँ चाहे आहार मिला या नही मिला अथवा सन्मान सहित मिला या अपमान सहित मिला; हीलना (=जन्म और

† तालणाओ तज्जणाओ-त्ति पा।

कर्म के सम्बन्ध में तिरस्कार), निंदना (=मन के द्वारा कुत्सा), खिसना (=लोक के समक्ष कुत्सा), गर्हणा (=अपने समक्ष ही बहुत से व्यक्तियों के बीच अपनी कुत्सा होना), तर्जना (=अंगुली आदि बताते हुए या चटखाते हुए 'जानता है रे जाल्म !' इत्यादि कहना), ताडना (=चपेटादि से पिटाई), परिभवना (=पराभव), प्रव्यथना (=लोगो के द्वारा उत्पन्न किये गये भय), इन्द्रियो के लिये उत्कृष्टतर दु खकर बाईस परीषह (=संयम मार्ग में चलते हुए आने वाले कष्ट ) और उपसर्गो (=देवादि कृत सङ्कट) को सहन कर, उस लक्ष्य की आराधना करके, अन्तिम उच्छ्वास-नि:श्वास में सिद्ध होगें, बुद्ध होगे, मुक्त होगे, परिनिर्वृत्त होगे और सब दुखो का अन्त करेंगे।

-

## प्रत्यनीक का... उपपात

**४१—से जे इमे गामागर...जाव सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति। तं जहा—आयरियपडिणीया उवज्झायपडिणीया कुलपडिणीया गणपडिणीया, आयरियउवज्झायाणं अयसकारगा अवण्णकारगा अकित्तिकारगा।**

वे जो ग्राम....में प्रव्रजित श्रमण होते है। जैसे—आचार्य के प्रत्यनीक (विरोधी), उपाध्याय के प्रत्यनीक, कुल के प्रत्यनीक और गण के प्रत्यनीक, आचार्य-उपाध्याय का अपयश करने-

वाले और अनादर करनेवाले।

**बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति।**

वे (=आचार्यादि के विरोधी) असद्भाव के आरोपण अथवा उत्पादन और मिथ्याभिनिवेश के द्वारा अपने को, दूसरों को और स्व-पर को बुरी बात की पकड़- असत्य हठाग्रह में लगाते हुए-असद्भाव (=अनहोनी बातों) को आरोपण-कल्पना में मजबूत बनाते हुए, विचरण करके, बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन करते हैं।

**...पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय-अपडिक्कंता काल-मासे कालं किच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिब्बिसिएसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई...तेरस सागरोवमाइं ठिई...अणाराहगा। सेसं तं चेव ॥१५॥**

... उन दोषों का आलोचन-प्रतिक्रमण किये बिना ही, काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट लान्तककल्प (छट्ठे स्वर्ग) में देवकिल्विषिकों (=चाण्डाल तुल्य देवों) में किल्वि-षिक (=साफ-सफाई करनेवाले) देव रूप से उत्पन्न होते हैं। ....स्थिति तेरह सागरोपम की....परलोक के आराधक नहीं। शेष पूर्ववत्।

## संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिकों का उपपात

**से जे इमे सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पज्जत्तया भवंति। तं जहा—जलयरा खहयरा थलयरा।**

ये जो संज्ञी (=मनवाले) पञ्चेन्द्रिय (=पाँचो इन्द्रियोंवाले) तिर्यञ्च योनिक (=पशु आदि) पर्याप्तक होते हैं। जैसे—जलचर, नभचर और स्थलचर।

**तेसि णं अत्थेगइयाणं सुभेणं परिणामेणं, पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहावूहमग्गणगवेसणं करेमाणाणं सण्णीपुव्वजाईसरणे समुप्पज्जइ।**

उनमें से कई जीवो को, शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या से तदावरणीय (=पूर्वजन्म की स्मृति के आवारक) कर्मों का क्षयोपशम होने से, पदार्थों को जानने में प्रवृत्त हुई बुद्धि और पदार्थों का निश्चयात्मक ज्ञान करानेवाली बुद्धि के द्वारा वस्तु के स्वकीय धर्मों के अस्तित्त्व और परकीय धर्मों के नास्तित्त्व रूप हेतु से, वस्तुतत्त्व का निर्णय करते हुए, मनवाले जीव के रूप में किये हुए पहले के भवो की स्मृति रूप जातिस्मरण पैदा होता है।

**तए णं ते समुप्पण्णजाइसरा समाणा सयमेव पंचाणुव्वयाइं**

पडिवज्जंति । पडिवज्जित्ता बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमण-पच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा बहूइं वासाइं आउयं पालेंति।

तब जातिस्मरण ज्ञान के पैदा होने पर, स्वयं ही पाँच अणुव्रतों (=पूर्ण साधना की ओर ले जानेवाले या पूर्ण साधना का अनुगमन करनेवाले व्रत) को स्वीकार करते हैं ।....बहुत-से शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से आत्मा को भावित करते हुए, बहुत वर्षों की आयुष्य पाते है ।

पालित्ता भत्तं पच्चक्खंति । बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेयंति । छेइत्ता आलोइय-पडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई...अट्ठारस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । परलोगस्स आराहगा । सेसं तं चेव ॥१६॥

...भक्त का प्रत्याख्यान करते हैं । बहु-से भोजन के समयों को बिना खाये-पीये ही काटते हैं ।. .दोषो की आलोचना करके, उनसे परे होते हैं । समाधि को प्राप्त करते हैं और काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट सहस्त्रारकल्प (=आठवें स्वर्ग ) मे देव रूप से उत्पन्न होते हैं ।. .अठारह सागरोपम की स्थिति । परलोक के आराधक । शेष पूर्ववत् ।

## आजीविक--उपपात

से जे इमे गामागर....जाव संनिवेसेसु आजीविया भवंति।

तं जहा-दुघरंतरिया तिघरंतरिया सत्तघरंतरिया उप्पलबेंटिया घरसमुदाणिया विज्जुअंतरिया उट्टियासमणा ।

ये जो ग्राम...में आजीविक (=नियतिवादी) होते हैं। जसे-एक घर से भिक्षा लेकर, बीच में दो घरों को छोड़कर भिक्षा लेनेवाले, तीन घर के अन्तर से भिक्षा लेनेवाले, सात घर के अन्तर से भिक्षा लेनेवाले, नियम विशेष से कमलडंठल की भिक्षा लेनेवाले, प्रत्येक घर पर भिक्षाटन करनेवाले, विजली चमकने पर भिक्षा-ग्रहण नही करनेवाले और मिट्टी के बड़े भाजन में प्रविष्ट होकर तप करनेवाले ।

टिप्पण-'दुघरंतरिया' पद का अर्थ-विकल्प-'एक घर से भिक्षा लेकर, बीच में एक घर छोड़कर, दूसरे घर से भिक्षा लेने वाले।-(टी०) इसी प्रकार अन्य संख्यावाचक पदों के विषय में भी समझना चाहिए।

इन पदों की व्याख्या के विषयमें टीकाकार कहते हैं-'एषां च पदानामुत्प्रेक्षया व्याख्या कृते ति'-इन पदों की व्याख्या उत्प्रेक्षा के द्वारा की गई है। अर्थात् इन पदों का वास्तविक अर्थ टीकाकार को भी उपलब्ध नहीं था।

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता, कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई...बावीसं सागरोवमाइं ठिई। अणाराहगा। सेसं तं चेव ॥१७॥

वे इस प्रकार की चर्या से बहुत वर्षों की पर्याय (=अवस्था) को पालकर, काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट

अच्युत कल्प (=बारहवें स्वर्ग) में देव रूप से उत्पन्न होते हैं। ....बावीस सागरोपम की स्थिति। परलोक के अनाराधक। शेष पूर्ववत्।

## अत्तक्कोसिय....उपपात

**से जे इमे गामागर.....जाव सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति। तं जहा—अत्तुक्कोसिया परपरिवाइया भूइकम्मिया भुज्जो भुज्जो कोउयकारगा।**

ये जो ग्राम.... में प्रव्रजित श्रमण होते हैं। जैसे—आत्मोत्कर्षिक (=अपना ही उत्कर्ष बतलानेवाले), पर-परिवादिक (दूसरों के निन्दक), भूतिकर्मिक (=ज्वरादि से पीडितों की उपद्रव से रक्षा के लिये भूति=भभूत-भस्मि देनेवाले) और बार बार कौतुक (=सौभाग्यादि के निमित्त की जानेवाली क्रिया विशेष) करने—करानेवाले।

**ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्ण-परियागं पाउणंति। पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता, कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे आभिओगेसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई...बावीसं सागरोवमाइं ठिई। परलोगस्स अणारा-हगा। सेसं तं चेव ॥१८॥**

वे इस चर्य्या से विचरते हुए, बहुत वर्षों की श्रमण

अवस्था को पालते हैं ।...उन दोष-स्थानों की आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना ही, काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट अच्युतकल्प में आभियोगिक (=सेवक जाति) देवों में देव रूप से उत्पन्न होते हैं । ...बाईस सागरोपम की स्थिति । परलोक के अनाराधक । शेष पूर्ववत् ।

**टिप्पण–उन श्रमणों के देवत्व का कारण चारित्र है और सेवकता का कारण आत्मोत्कर्ष आदि है ।–(टी०)**

## निह्नव-उपपात

**से जे इमे गामागर...जाव सण्णिवेसेसु णिण्हगा भवंति । तं जहा–बहुरया, जीवपएसिया, अव्वत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया ।**

ये जो ग्राम....में निह्नव (=जिनोक्त अर्थ के अपलापक) होते हैं । जैसे–१ बहुरत (=अनेक समयों के द्वारा ही कार्य की निष्पत्ति माननेवाले), २ जीवप्रादेशिक (=एक प्रदेश भी न्यून हो वह जीव नहीं होता है, अतः जिस एक-प्रदेश की पूर्णता से जीव, जीव रूप से माना जाता है, वही एक-प्रदेश जीव है ऐसा माननेवाले), ३ अव्यक्तिक (=समस्त जगत् अव्यक्त है–ऐसा मत माननेवाले), ४ सामुच्छेदिक (=नरकादि भावों का प्रतिक्षण क्षय होता है–ऐसे मत को माननेवाले), ५ द्वैक्रिया (=एक समय में दो क्रिया का अनुभव होना माननेवाले), ६ त्रैराशिक (=जीव, अजीव और नो जीव रूप तीन

रागियों के माननेवाले ) और ७ अवद्धिक (=जीव कर्म से अहिकंचुकिवत् स्पृष्ट है, क्षीर-नीरवत् वद्ध नही–ऐसे मत के माननेवाले)।

**इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा केवल (लं)-चरियालिंग-सामण्णा मिच्छदिट्ठी बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता, वहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति**

ये सात प्रवचन के अपलापक, चर्या और लिंग की अपेक्षा से साधुके तुल्य–किन्तु मिथ्यादृष्टि वहुत–से असद्भाव के उत्पादन और मिथ्यात्त्व के अभिनिवेश के द्वारा स्वयं को, दूसरो को और स्व-पर को झूठे आग्रह में लगाते हुए–असत् आशय में दृढ़ वनाते हुए, वहुत वर्षो तक साधु अवस्था में रहते है।

**पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई...एक्कतीसं सागरोवमाइं ठिई। परलोगस्स अणाराहगा। सेसं तं चेव।**

...फिर काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट ऊपरी ग्रैवेयक में देव रूप से उत्पन्न होते हैं।....एकतीस सागरोपम की स्थिति। परलोक के अनाराधक। शेष पूर्ववत्।

टिप्पण–ये निह्नववाद क्रमशः जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढाचार्य के शिष्य, अश्वमित्र, गंगाचार्य, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल से उत्पन्न हुए थे। जमालि को छोड़कर, शेष निह्नवों का आविर्भाव भगवान् महावीर

देव के निर्वाण के पश्चात् हुआ था। निह्नवों की क्रिया आदि जिनशासन के अनुसार ही होती है। किन्तु सिद्धान्त के किसी एकदेश को लेकर वे हठाग्राही-मिथ्याभिनिवेशी बन जाते है।

## प्रतिविरत-अप्रतिविरत अल्पआरंभी...का उपपात

से जे इमे गामागर....जाव सण्णिवेसेसु मणुया भवंति। तं जहा-अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोइया धम्मपलज्जणा धम्म-समुदायारा धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा।

ये जो ग्राम..में मनुष्य होते हैं। जैसे-अल्प हिंसक, अल्प परिग्रही, धार्मिक (=श्रुत-चारित्र रूप धर्म के धारक), धर्मानुराग (=धर्म का अनुसरण करनेवाले), धर्मेष्ट (धर्म को ही इष्ट माननेवाले), धर्माख्यायी (=भव्यो के लिये धर्म का कथन करनेवाले), धर्मप्रलोकी (=धर्म को ही उपादेय मान नेवाले), धर्मप्ररञ्जन (=धर्म के रंग में रंगे हुए), धर्मसमु-दाचार (=धर्म रूप सदाचारवाले), श्रुत या चारित्र धर्म से अविरुद्ध भाव के द्वारा आजीविका का उपार्जन करनेवाले, सुशील, सुव्रत (=सद्व्रती) और सुप्रत्यानन्द (=शुभभाव के सेवन में सदा प्रसन्न चित्त रहनेवाले)।

साहूहिं एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया। एवं जाव परिग्गहाओ। एगच्चाओ

**कोहाओ माणाओ मायाओ लोहाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णाओ परपरिवायाओ अरतिरतीओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया।**

वे साधुओ के पास में अंशतः प्राणातिपात से क्रिया हटाते हैं, जीवनभर के लिये-अंशतः नही हटाते है। इसी प्रकार....यावत् परिग्रह से। अंशतः क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, अरतिरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य से मन, वचन और काया की क्रिया हटाते (=प्रतिविरत=योगनिवृत्त) हैं, जीवनभर के लिए और अंशतः नही हटाते हैं।

टिप्पण-'साहूहिं' पदकी संयोजना पूर्ववर्ती 'सुप्पडियाणंदा' पद से भी हो सकती है और उत्तरवर्ती 'एगच्चाओ···' आदि पदों से भी। पूर्ववर्ती पद से संयोजित होने पर यह अर्थ होगा-'साधुओं के प्रति अत्युत्तम चित्ताह्लाद रखनेवाले।'-(टी०)

मिथ्यादर्शन से जन्य अन्ययूथिकों के प्रति वन्दनादि की क्रिया। उससे भाव से तो विरत है। किन्तु राजाभियोगादि के कारण अविरत हैं।-(टी०)। वस्तुतः देखा जाय तो श्रमणोपासक त्याग की दृष्टि से तो सभी सावद्यादि क्रियाओं को त्याज्य ही समझता है। किन्तु निवृत्त होने में शक्त्यनुसार ही प्रवृत्त होता है। अपनी अंशतः अनिवृत्ति में, वह स्वकीय आत्मिक दुर्बलता का ही दर्शन करता है। अर्थात् दृष्टि में तो पूर्णतः विशुद्धि है, किन्तु प्रवृत्ति में नहीं। अंशतः क्रिया-निवृत्ति में भी वही दृष्टि-विशुद्धि कार्य कर रही है। जो सूत्रकार ने 'विरया' शब्द के

स्थान पर 'पडिविरया' शब्द का प्रयोग किया है, इसमें यही रहस्य प्रतीत होता है।

**एगच्चाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया। एगच्चाओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया। एगच्चाओ पयणपयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ पयणपयावणाओ अपडिविरया।**

अंशत: आरंभ-समारंभ से जीवनभर के लिये क्रिया-निवृत्त होते है और अशत. अनिवृत्त। अंशत: करने—कराने से ....पचन-पचावन से निवृत्त होते है—जीवनभर के लिए और अशत' अनिवृत्त।

**एगच्चाओ कोट्टणपिट्टणतज्जणतालणवहबंधपरिकिलेसाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया। एगच्चाओ ण्हाणमद्दणवण्णगविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया।**

अंशत: कुट्टन (=खदिरादि के समान छेद विशेष करना), पिट्टन (=मुद्गरादि से पीटना), तर्जन (=उपालभ देना), ताडन (चपेटादि से मारना), वध (=मारना), बन्ध (=रस्सी आदि से बांधना) और परिक्लेश (=बाधाउत्पादन) से जीवनभर के लिये....और स्नान, मर्दन. वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, माल्य और अलङ्कार से जीवनभर

के लिये निवृत्त और अंशतः अनिवृत्त है ।

**जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता + परपाणपरियावणकरा कज्जंति, तओ वि जाव एगच्चाओ अपडिविरया । तं जहा ● –समणोवासगा भवंति ।**

और भी इसी प्रकार निन्द्य-पापात्मक क्रिया से युक्त (=सावद्ययोग) और कूड़-कपट के प्रयोजन से युक्त (=औपधिक) कर्मांश व्यापार–जो दूसरों के प्राणों को कष्टकर होकरते है, उनसे....यावत् अंशतः अनिवृत्त हैं । जैसे कि–श्रमणोपासक होते है ।

**अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरनिज्जरकिरियाअहिगरणबंधमोक्खकुसला ।**

वे जीव और अजीव के स्वरूप को अनेक दृष्टियों से समझे हुए, पुण्य और पाप के अन्तर्-रहस्य को पूर्णतः पाये हुए और आश्रव (=आत्मा में कर्म-आगमन के मार्ग), संवर (=कर्म-प्रवाह को रोकने के उपाय), निर्जरा (=देशतः कर्मक्षय), क्रिया (=शरीरादि की प्रवृत्ति या प्रवृत्ति से अनिवृत्ति) अधिकरण (=संसार के आधार या खड्गादि का निर्वर्तनसंयोजन), बन्ध (=जड़-चेतन के मिश्रण की प्रक्रिया) और मोक्ष (=चेतन से जड़ का वियोग समस्त कर्मों का क्षय) में कुशल होते है ।

---

+ सावज्जा अवोहिया कम्मंता-त्ति पा. ।

● से जहानामए-त्ति क्व० ।

**असहेज्जाओ देवासुरणागसुवण्णजक्खरक्खसकिण्णरकिंपुरिसगरुल-* गंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा ।**

वे देव (=वैमानिक देव), असुर-नागकुमार (=भवनपति जाति के देव), सुवर्ण (ज्योतिष्क देव), यक्ष-राक्षस-किन्नर-किंपुरुष (=व्यन्तर जाति के देव), गरुड (=सुवर्णकुमार), गन्धर्व-महोरग (=व्यन्तर देव विशेष) आदि देवगणो के द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित नही होते है ।

**णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिया णिक्कंखिया णिव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता-+'अयमाउसो ! णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' ।**

वे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में नि·शङ्कित, अन्य दर्शन के पक्षपात से मुक्त और फल के प्रति सदेह रहित होते है । वे लब्धार्थ (=अर्थ को पाये हुए), गृहीतार्थ (=अर्थ को धारे हुए), पृष्टार्थ (=प्रश्न पूछकर अर्थ को जाने हुए), अभिगतार्थ (=अर्थ को अनेक दृष्टियों से जाने हुए) और विनिश्चितार्थ (=अर्थ में पूर्णत: निश्चयात्मक वुद्धि रखनेवाले) होते है । उनकी अस्थि-मज्जा तक निर्ग्रन्थ-प्रवचन के प्रेमानुराग से रगी हुई होती है ।

---

* गरुडे-त्ति क्वचिन्नास्ति ।

+ इणमो निग्गंथे-त्ति क्व० ।

(यह उनका अन्तर्घोष है, कि–) 'आयुष्यमान् ! यह जड़-चेतन की ग्रन्थियों को खोलनेवाला प्रवचन ही अर्थ (=सार, जीवन-लक्ष्य का साधक) है, यही परमार्थ (=चरम सत्य, उपकार-परायण) है और शेष (=सुखकर लगनेवाले पदार्थ, उनको पाने की साधना, कुप्रावचन आदि) अनर्थ (=व्यर्थ या हानिकर) है।'

टिप्पण–मार्ग की सत्यता का सन्देह, अन्य मार्ग का आकर्षण और कार्य की सफलता में डगमगाता हुआ विश्वास साधना के नाशक और अवरोधक है। मार्ग की सत्यता की प्रतीति, अन्यत्र आकर्षण का अभाव और उसकी सफलता का दृढ निर्णय साधना के उत्पादक, प्रेरक और पोषक है।

लद्धादि पदों के द्वारा बुद्धि के विविध रूपों का निर्देश किया गया है। बुद्धि के संग्राहात्मक, धारणात्मक, जिज्ञासात्मक, प्रदेशात्मक और व्यवसायात्मक कार्य का वर्णन है। बुद्धि के इन विविध रूपों से क्रियाशील होने पर ही साधना में सच्ची प्रीति और मुस्तदी की प्राप्ति हो सकती है।

'निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ है, परमार्थ है, शेष अनर्थ है'–यह अन्तर्जल्प ही साधना की रीढ का कार्य करता है। वे अन्य को प्रेरित करने के लिये भी यही उद्घोष करते हैं।

ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा ×चियत्तंतेउर-घरदारप्पवेसा चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणु-

× चियत्तघरंतेउरपवेसा–त्ति क्व०। 'चिय...पर घरदारप्पवेसा'–इत्यपि क्व०।

पालेमाणा,* समणे णिग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाण-खाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ओसह-भेसज्जेणं पडिहारएणं य पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिला-भेमाणा विहरंति ।

वे उन्नत स्फटिक के समान निर्मल चित्तवाले और कपाट से द्वार को बन्द नही रखनेवाले (अर्थात् सद्दर्शन के लाभ के कारण कही भी पाषण्डियो से नही डरनेवाले—शोभनमार्ग के परिग्रहण के कारण निर्भय) होते है। लोगों के अन्तःपुर, गृह या द्वार में उनका प्रवेश प्रीतिकर होता है अर्थात् अति-धार्मिकता के कारण सर्वत्र अनाशङ्कनीय होते है। वे चतुदर्शी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषध (=आत्मा की, पुष्टि के लिए आहार, अब्रह्म आदि चार तरह के त्याग की एक दिन-रात की साधना) का विशेष शुद्धिपूर्वक पुनः पुनः पालन करते हुए, श्रमण-निर्ग्रन्थ के लिए निर्दोष और ग्रहण करने योग्य अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल रजोहरण, औषध (=एक द्रव्याश्रित वस्तु अथवा त्रिफलादि दवा), भैषज्य (=अनेक द्रव्यों की समुदाय रूप वस्तु अथवा पथ्य), काम हो जाने पर पुनः लौटा दिये जाने योग्य (=पडि-हारिय) आसन, पाट, निवास स्थान और संस्तारक को प्रति-लाभित करते (=देते) हुए विचरण करते है।

टिप्पण—'ऊसिय....पवेसी' इन तीन पदों का उपर्युक्त अर्थ वृद्ध-

* अणुपालेत्ता—त्ति क्व०।

व्याख्या के अनुसार है। अन्य व्याख्या–'ऊसिय'....=अर्गला से रहित गृहद्वार वाले अर्थात् अतिशय दानी होने के कारण भिक्षुओं के प्रवेश में कोई रुकावट नहीं थी। 'अवंगुय....'=औदार्य के कारण उनके घर के द्वार सदा खुले थे। 'चियत्त'...=अन्तःपुर या गृह में मुख्य द्वार से शिष्टजनों का प्रवेश उन्हें अप्रीतिकर नहीं था अर्थात् उनमें ईर्ष्या का अभाव था।–(टी०)

विहरित्ता भत्तं पच्चक्खंति। ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदिंति। छेदित्ता आलोइय पडिक्कंता समाहिपत्ता, कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई,....बावीसं सागरोवमाइं ठिई। आराहया। सेसं तहेव ॥२०॥

....फिर आहारादि का त्याग करते हैं। बहुत से भोजन के समयो को बिना खाये-पीये काटते है ।...आलोचना प्रतिक्रमण करके, समाधि को प्राप्त होते है। काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट अच्युत कल्प (=बारहवे स्वर्ग) में देवरूप उत्पन्न होते है।... बाइस सागरोपम की स्थिति। आराधक। शेष पूर्ववत्।

## अनारम्भी....का उपपात

से जे इमे गामागर...जाव सण्णिवेसेसु मणुया भवंति। त जहा–अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया......जाव कप्पेमाणा सुसीला सुव्वया सुपडियाणंदा साहू सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरया......जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया।

सव्वाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ....जाव मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया।

ये जो ग्राम-नगर...में मनुष्य होते हैं। जैसे—अहिंसक, अपरिग्रही, श्रुतचारित्र धर्म के धारक...यावत् धर्मानुसार ही वृत्ति करनेवाले, सुन्दर शीलवाले, सद्व्रती, शुभभाव के सेवन में सदा प्रसन्न—उत्साह युक्त, साधु (=आत्मभाव की साधना में तल्लीन)—जो सम्पूर्णतः प्राणातिपात से अपनी क्रिया निवृत्त कर चुके है...यावत् सम्पूर्णतः परिग्रह...सर्वतः क्रोध, मान, माया लोभ...मिथ्यादर्शनशल्य से मन, वचन और काया की क्रिया को हटा चुके हैं।

सव्वाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया। सव्वाओ करण-कारावणाओ पडिविरया। सव्वाओ पयणपयावणाओ पडि-विरया। सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणतालणवहबंधपरिकिले-साओ पडिविरया। सव्वाओ ण्हाणमद्दणवण्णगविलेवण सद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ पडिविरया। जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाण परियावणकरा कज्जंति, तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए।

सर्वतः हिंसा से—दूसरो को पीडित करने से... करने-कराने से...पचन-पचावन (=पकाने-पकवाने) से...कूटने-पीटने, तिरस्कार करने, मार मारने, वध करने, बाँधने और दुःखित करने या बाधा-उत्पन्न करने से...सर्वतः स्नान, मर्दन, वर्णक

(=उबटन), विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, माल्य और अलङ्कार से निवृत्त हो चुके हैं। और भी जो प्राप्त होनेवाले इसी प्रकार के दूसरों के प्राणों को परितप्त करनेवाली पाप क्रिया से युक्त और कूड-कपटादि आवेश से जन्य कर्मांशों को करते हैं–उनसे भी वे जीवन भर के लिए निवृत्त होते हैं।

**से जहाणामए अणगारा भवंति–इरियासमिया भासासमिया जाव इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरंति। तेसि णं भगवंताणं एएणं विहारेणं विहरमाणाणं अत्थेगइयाणं अणंते....जावकेवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जइ।**

जैसे कि कोई (=यथानामक) अनगार होते हैं–चलने फिरने में, भाषा में यत्नावान..यावत् निर्ग्रन्थ-प्रवचन को ही सन्मुख रखते हुए या दृष्टि के आगे रखकर, विचरण करते हैं। इस प्रकार की चर्या से विचरण करते हुए उन भगवन्तों में से कुछ को अनन्त..श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न होता है।

**ते वहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणंति। पाउणित्ता भत्तं पच्चक्खंति।...पच्चक्खित्ता वहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेन्ति। छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे... अंतं करंति।**

वे बहुत वर्षों तक केवली अवस्था में विचरण करते है।... फिर भात-पानी का त्याग करते है।....बहुत से भोजन के समयों को निराहार रहकर काट देते है।....फिर वे जिस

अर्थ के लिये देह के साज-सँवार से विरक्त बने थे ..यावत् उस अर्थ को पाकर...सब दु:खों को नष्ट कर देते है।

**जेसिं पि य णं एगइयाणं णो केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जइ; ते बहूइं वासाइं छउमत्थपरियागं पाउणंति। पाउणित्ता आबाहे उप्पण्णे वा अणुप्पण्णे वा भत्तं पच्चक्खंति। ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति। छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ णग्ग-भावे...जाव तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं ऊसासणीसासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवल-वरणाणदंसणं उप्पाडिंति। तओ पच्छा सिज्झिहिंति ● ...जाव अन्तं करेहिंति।**

और कइयों को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न नहीं होता है। वे बहुत वर्षो तक छद्मस्थ (=कर्मावरण से युक्त) अवस्था में विचरण करते है।...फिर किसी रोगादि बाधा के उत्पन्न होने या नहीं होने पर भात-पानी को त्याग देते है।.... बहुत से भोजन के समयों को निराहार... बिताकर, जिस ध्येय से धारण किया था—नग्न भाव. .उस ध्येय की आराधना करके, अन्तिम श्वास—नि:श्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरा-वरण, कृत्स्न और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन को

---

● यहाँ 'सिज्झंति....जाव अंतंकरेंति' होना चाहिए। किन्तु प्रति में उपर्युक्त पाठ ही है। शायद अनागत काल को ग्रहण करने के लिये भविष्यकालीन क्रियापद का प्रयोग हुआ हो?

प्राप्त करते हैं। उसके बाद सिद्ध होंगे....यावत् दुःखो का नाश करेंगे।

**एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई...तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई। आराहगा। सेसं तं चेव ॥२१॥**

पुनः कोई एक (भविष्य) में एक ही मनुष्य देह को धारण करनेवाले, अनुष्ठान विशेष का सेवन करनेवाले या भय से बचाने वाले, क्षीण होते हुए कर्मों में से शेष रहे हुए कर्मों के कारण, उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देवरूप से उत्पन्न होते हे।...वहाँ उनकी तेतोस सागरोपम की स्थिति है।...वे आराधक हैं। शेष पूर्ववत्।

## सर्वकामविरत....का उपपात

**से जे इमे गामागर...जाव सण्णिवेसेसु मणुया भवंति। तं जहा—सव्वकामविरया सव्वरागविरया सव्वसंगातीता सव्वसिणेहाइक्कंता अक्कोहा णिक्कोहा खीणक्कोहा...एवं माणमायालोहा, अणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपयडीओ खवेत्ता उप्पिं लोयग्गपइट्ठाणा हवंति ॥२२॥**

ये जो ग्राम...में मनुष्य होते है। जैसे—समस्त शब्दादि विषयो से निवृत्त या उनमे उत्सुकता से रहित, विषयाभिमुखता

के कारणरूप समस्त आत्म-परिणाम विशेष से निवृत्त, सभी जगत्-सम्बन्धों से परे रहे हुए, सम्बन्धों के हेतुरूप समस्त स्नेह के त्यागी, क्रोध को विफल करनेवाले क्रोध का उदय ही नहीं होने देनेवाले, क्रोध को क्षीण कर देनेवाले...इसी प्रकार मानादि को भी इसी अवस्था में पहुँचा देनेवाले, क्रमशः आठ कर्म प्रकृतियों को क्षय कर के ऊपर लोकाग्र पर स्थित होते हैं।

क्रोधोदय के निमित्त कारण के मिलने पर क्रोध का उदय हो चुका है, किन्तु किन्हीं उपायों से उसे बाहर प्रकट होने से रोक दिया जाता है, वह अक्रोध है। निमित्त कारणों के मिलने पर, उनसे परे हटकर या अन्यमनस्कता-प्रसन्नतादि के भाव या ऐसे ही किसी उपाय के द्वारा क्रोध का उदय ही नहीं होने देना-निष्क्रोध है। अनुप्रेक्षादि के समय, अन्तर-समरांगण में क्रोध निःशेष कर देना-क्रोधक्षय है। चारित्रमोहनीय कर्म के अन्य प्रकारों का भी इसी प्रकार क्षय होता है।

## केवलिसमुद्घात के पुद्गल

४२-अणगारे णं भंते ! भाविअप्पा केवलिसमुग्घाएणं +समोहए केवलकप्पं लोयं फुसित्ता णं चिट्ठइ ?
-हंता चिट्ठइ।

भन्ते ! शुद्धात्मा अणगार केवलिसमुद्घात (=मुक्ति के निकट अविकारी आत्मा के कर्मों की साम्यावस्था के लिये होनेवाली एक विशिष्ट प्रकार की स्वाभाविक आत्मिक

+ समोहणित्ता-त्ति पा०।

प्रक्रिया) से विस्तृत (=समवहत ) होकर, सम्पूर्ण लोक को स्पर्श करके, स्थित रहते है ?–हाँ ! स्थित रहते है ।

टिप्पण–जीव-परिणति या अध्यवसाय विशेष से आत्म-प्रदेश संकुचित विस्तृत होकर कर्म-प्रदेशों को झाड़ देते है–उसे समुद्घात कहते हैं। जैसे कि–पक्षी अपने पंखों पर लगी हुई धूलि या जलकी बूँदें, उन्हें फैलाकर सिकोड़कर झाड़ देते हैं।

**से णूणं भंते ! केवलकप्पे लोए तेहिं णिज्जरा पोग्गलेहिं फुडे ?–हंता फुडे ।**

भन्ते ! क्या उन खिरे हुए पुद्गलों से सम्पूर्ण लोक व्याप्त होता है ?–हाँ, होता है ।

**छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से तेसिं णिज्जरा पोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं, गंधेणं गंधं, रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ ? पासइ ?–गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।**

भन्ते ! विशिष्ट ज्ञान से रहित मनुष्य, क्या उन खिरे हुए पुद्गलों के किञ्चित् वर्णरूप से वर्ण को, गन्धरूप से गन्ध को, रसरूप से रसको, स्पर्शरूप से स्पर्श को जानते है–देखते है ?

–हे गौतम ! यह आशय संगत नही है ।

**से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं णिज्जरा पोग्गलाणं णो किंचि वण्णेणं वण्णं...जाव जाणइ-पासइ ?**

भन्ते ! आप यह किस आशय से कहते है, कि–छद्मस्थ मनुष्य.....?

गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए, वट्टे तेल्लपूयसंठाणसंठिए, वट्टे रह चक्कवालसंठाणसंठिए, वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए, वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए, एक्कं जोयणसयसहस्सं, आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलससहस्साइं, दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए, तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं, तेरस य अंगुलाइं, अद्धंगुलियं च किंचि विसेसाहिए । परिक्खेवेणं पण्णत्ते ।

गौतम ! यह जम्बूद्वीप, सभी द्वीप समुद्रो के बिलकुल बीचोबीच सबसे छोटा जम्बूद्वीप, तेलपुये के समान गोल, रथ के पहिये के समान गोल, कमल के बीजकोश के समान गोल, पूर्णचन्द्राकार के समान गोल आकारवाला, एक लाख योजन का लम्बा-चोडा, तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्तावीस योजन, तीन कोश, एक सौ अट्ठाईस धनुष्य, साढे तेरह अंगुल और कुछ अधिक परिधिवाला है ।

देवे णं महिड्ढीए महज्जुइए महब्बले महाजसे महासुक्खे महाणुभावे सविलेवणं गंधसमुग्गयं गिण्हइ । गिण्हित्ता तं अवदालेइ । अवदालित्ता....जाव इणामेव-त्तिकट्टु केवलकप्पं जंबूदीवं तिहिं अच्छराणिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरिअट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णूणं गोयमा ! से केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे तेहिं घाणपोग्गलेहिं फुडे ?—हंता फुडे ।

महा ऋद्धिवान् महाद्युतिवाले, महाबली महायशस्वी महासौख्य के धारक और महानुभाव देव, विलेपन के सुगन्धित द्रव्य से भरे हुए डिब्बे को लेकर खोलता है। ... यावत् उस सुगन्धित द्रव्य को, तीन बार चुटकी बजाने जितने काल में इक्कीस बार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की परिक्रमा करके जल्दी आवे तो हे गौतम ! क्या सम्पूर्ण जम्बूद्वीप उस सुगन्धित द्रव्य से व्याप्त हो जाता है ?–हाँ हो जाता है।

**छउमत्थे णं गोयमा ! मणुस्से तेसिं घाणपोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं....जाव जाणइ ? पासइ ? भगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं णो किंचि वण्णेणं वण्णं.... जाव जाणइ-पासइ। एए सुहुमाणं ते पोग्गला पण्णत्ता।**

गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य उस सुगन्धित द्रव्य को क्या जानता है ? देखता है ?–भगवन् ! यह संभव नहीं है। –गौतम ! इसी आशय से कहा कि–छद्मस्थ मनुष्य उन खिरे हुए पुद्‌गलो के वर्णादि को नहीं जानता है; नही देखता है। क्योकि वे पुद्‌गल सूक्ष्म होते है।

**समणाउसो ! सव्वलोयं पि य णं ते फुसित्ता णं चिट्ठंति।**

और हे आयुष्मान् श्रमण ! वे सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करके स्थिर रहते है।

## केवलिसमुद्घात का कारण

**कम्हा णं भंते ! केवली समोहणंति ? कम्हा णं केवली समुग्घायं गच्छंति ?**

भगवन् ! केवली किस कारण से आत्म-प्रदेशों को फैलाते है ?— किस कारण से फैले हुए आत्म-प्रदेशों की स्थिति को प्राप्त होते है ?

टिप्पण—टीकाकार की दृष्टि में प्रश्नगत दूसरा वाक्य—'सुख से प्रतिपत्ति के लिए'—कहा गया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि—पहला वाक्य, केवलिसमुद्घात के कथञ्चित् कर्तृत्त्व का और दूसरा वाक्य, स्वाभाविक होने का सूचक है।

**गोयमा ! केवलीणं चत्तारि कम्मंसा अपलिक्खीणा† भवंति। तं जहा-वेयणिज्जं आउयं णामं गोत्तं। सव्वबहुए से वेयणिज्जे कम्मे भवइ। सव्वत्थोवे से आउए कम्मे भवइ। विसमं समं करेइ बंधणेहिं ठिईहि य। विसमसमकरणयाए बंधणेहिं ठिईहि य एवं खलु केवली समोहणंति। एवं खलु केवली समुग्घायं गच्छंति।**

गौतम ! केवलियो के चार कर्मांश सम्पूर्णत: क्षीण नही होते है। जैसे—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र। सबसे अधिक वेदनीय कर्म होता है और सबसे कम आयुष्य कर्म होता है। बन्धन(=प्रदेश बन्ध और अनुभाग बन्ध) और स्थिति से

---

† अवेइया अनिज्जिजण्णा—त्ति क्व०।

विषम (उन कर्मों) को सम करते है। इस प्रकार केवली विषम कर्मों को सम करने के लिए समुद्घात करते है—समुद्घात को प्राप्त होते है।

**सव्वे वि णं भंते! केवली समुग्घायं गच्छंति?—णो इणट्ठे समट्ठे।**

**अकित्ता णं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा।**
**जरामरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥१॥**

भन्ते! क्या सभी केवली समुद्घात को प्राप्त होतें है? —यह बात नही है। क्योकि—

विना किये समुद्घात, अनन्ता केवली जिन।
हो जन्म-मृत्यु से मुक्त, सिद्धि सुगति को गये ॥

## केवलि समुद्घात का स्वरूप

**कइसमइए णं भंते! आउज्जीकरणं+ पण्णत्ते? —गोयमा! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पण्णत्ते**

भन्ते! आवर्जीकरण कितने समय का होता है? —गौतम! असंख्यात समय के अन्तर्मुहूर्त का होता है।

टिप्पण—उदीरणावलिका में कर्म के प्रक्षेप की क्रिया को आवर्जीकरण कहते है। —टी०

**केवलीसमुग्घाए णं भंते! कइसमइए पण्णत्ते? गोयमा! अट्ठसमइए पण्णत्ते।**

---

+ 'आवज्जी'....त्ति पा०।

भन्ते ! केवलि–समुद्‌घात कितने समय की होती है ?
–गौतम ! आठ समय की होती है।

**तं जहा--पढमे समए दंडं करेइ। बिइए समए कवाडं करेइ। तईए समए मंथं करेइ। चउत्थे समए लोयं पूरेइ। पंचमे समए लोयं पडिसाहरइ। छट्ठे समए मंथं पडिसाहरइ। सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरइ। अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ। तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ।**

पहले समय में ऊँचे और नीचे लोकान्तगामी अपने जीवप्रदेशो को, ज्ञानाभोग (=ज्ञान द्वारा होनेवाली जानकारी) से अपने शरीर जितने मोटे; दण्डाकार बनाते है। दूसरे समय में दण्डवत् बने हुए आत्मप्रदेशों को किवाड़ की तरह आजु बाजु पूर्वापर दिशा में फैलाते है। तीसरे समय में कपाटवत् बने हुए आत्म-प्रदेशो को दक्षिण-उत्तर दिशा मे फैलाते है–जिससे मथानी जैसा आकार हो जाता है। चौथे समय में लोक-शिखर सहित मन्थान के आँतरो को पूरते है। पाँचवें समय में मन्थान के आँतरों के पूरक लोक (=आत्म-प्रदेशों) को संहृत करते है। अर्थात् मन्थानवत् हो जाते है। छट्ठे समय में मन्थानवत् (=दक्षिणोत्तर दिशावर्ती) आत्म प्रदेशों को संहृत करके, कपाटवत् स्थित हो जाते है। सातवें समय में कपाटवत् (=पूर्व-पश्चिमवर्ती) आत्म-प्रदेशों को संहृत करके, दण्डस्थ करते है और आठवे समय में दण्डवत् (=ऊपर-नीचे-

वर्ती) आत्म-प्रदेशो को संहृत करते हैं। इसके बाद शरीरस्थ होते है।

**से णं भंते ! तहा समुग्घायं गए किं मणजोगं जुंजइ ? वय-जोगं जुंजइ ? कायजोगं जुंजइ ? गोयमा ! णो मणजोगं जुंजइ। णो वयजोगं जुंजइ। कायजोगं जुंजइ।**

भन्ते ! समुद्घात को प्राप्त केवली क्या मानसिक क्रिया करते है ? या वाचिक क्रिया करते है ? या कायिक क्रिया करते है ? हे गौतम ! मानसिक क्रिया नही करते है। किन्तु कायिक क्रिया करते है।

**कायजोगं जुंजमाणे किं ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ ? ओरालियमिस्स‡सरीरकायजोगं जुंजइ ? वेउव्विय सरीरकाय-जोगं जुंजइ? वेउव्वियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ? आहारग-सरीरकायजोगं जुंजइ आहारगमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? कम्मग+सरीरकायजोगं जुंजइ ?**

हे भगवन् ! कायिक क्रिया करते हुए, क्या औदारिक शरीर (=शेष पुद्गलो की अपेक्षा स्थूल पुद्गलो से बने हुए शरीर) से कायिक क्रिया करते है ? या औदारिक मिश्र शरीर (=कार्मण और औदारिक दोनो शरीरो से एकसाथ ) से या वैक्रिय शरीर (=विशिष्ट कार्य करने में सक्षम सूक्ष्म पुद्-

‡...मीस...त्ति पा०

+ 'कम्मा...' त्ति पा०

गलों से बने हुए शरीर) से या वैक्रियमिश्र (=कार्मण या औदारिक से मिश्रित वैक्रिय ) शरीर से या आहारक (विशिष्ट तर पुद्गलो से निष्पन्न) शरीर से या आहारकमिश्र (=औदारिक से मिश्रित आहारक ) शरीर से या कार्मण-शरीर से कायिक क्रिया करते है ?

**गोयमा ! ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ । ओरालियमिस्स-सरीरकायजोगंपि जुंजइ । णो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ। णो वेउव्वियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ । णो आहारगसरीर कायजोगं जुंजइ । णो आहारगमिस्समरीरकायजोगं जुंजइ । कम्मगसरीरकायजोगं पि जुंजइ ।**

हे गौतम ! औदारिक शरीर से कायिक क्रिया करते हैं और औदारिक मिश्र शरीर से भी कायिक क्रिया करते हैं । वैक्रिय शरीर से वैक्रियमिश्र शरीर से आहारक शरीर से और आहारकमिश्र शरीर से कायिक क्रिया नहीं करते है । कार्मण शरीर से भी कायिक क्रिया करते है ।

**पढमट्ठमेसु समएसु ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ । बिइय-छट्ठसत्तमेसु समएसु ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ । तईयचउत्थपंचमेहिं कम्मासरीरकायजोगं जुंजइ ।**

पहले और आठवें समय में औदारिक शरीर से कायिक क्रिया करते है । दूसरे, छट्ठे और सातवें समय में औदारिक मिश्र शरीर से कायिक क्रिया करते है, और तीसरे, चौथे और

पाँचवें समय में कार्मण शरीर से कायिक क्रिया करते है।

## समुद्घात के बाद की योग प्रवृत्ति

**से णं भंते ! तहा समुग्घायगए सिज्झइ ? बुज्झइ ? मुच्चइ ? परिनिव्वाइ ? सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ?–णो इणट्ठे समट्ठे।**

भन्ते ! क्या कोई समुद्घातगत (=समुद्घात में स्थित रहते हुए ही) सिद्ध होते है ? वुद्ध होते हे ? मुक्त होते हैं ? परिनिर्वृत्त होते है ? सब दुःखो का अन्त करते है ? हे गौतम ! यह बात नही है।

**से णं तओ पडिनियत्तइ। पडिनियत्तित्ता इहमागच्छइ। आगच्छित्ता तओ पच्छा मणजोगं पि जुंजइ। वयजोगं पि जुंजइ। कायजोगं पि जुंजइ।**

उससे (=समुद्घात से) प्रतिनिर्वृत्त होते है। यहाँ अर्थात् इस मनुष्यलोकगत शरीर में स्थित होते हैं। फिर मन की क्रिया भी करते है, वचन की क्रिया भी करते है और काया की क्रिया भी करते है।

**मणजोगं जुंजमाणे किं सच्चमणजोगं जुंजइ ? मोसमणजोगं जुंजइ ? सच्चामोसमणजोगं जुंजइ ? असच्चामोसमणजोगं जुंजइ ? –गोयमा ! सच्चमणजोगं जुंजइ। णो मोसमणजोगं जुंजइ। णो सच्चामोसमणजोगं जुंजइ। असच्चामोसमणजोगं पि जुंजइ।**

मन की क्रिया में संलग्न होते हुए, क्या सत्य मन की क्रिया में या असत्य मन की क्रिया में या सत्यमृषा (=सच-झूठ =मिश्र) मन की क्रिया में या असत्य-अमृषा (=न सच न झूठ =व्यवहार) मन की क्रिया में संलग्न होते है ? हे गौतम ! सत्य मन की क्रिया करते है। असत्य मन की और सत्यमृषा मन की क्रिया नही करते हैं। असत्य-अमृषा मन की क्रिया भी करते हैं।

**वयजोगं जुंजमाणे किं सच्चवइजोगं जुंजइ ? मोसवइजोगं जुंजइ। सच्चामोसवइजोगं जुंजइ ? असच्चामोसवइजोगं जुंजइ। गोयमा ! सच्चवइजोगं जुंजइ। णो मोसवइजोगं जुंजइ। णो सच्चामोसवइजोगं जुंजइ। असच्चामोसवइजोगं पि जुंजइ।**

वचन की क्रिया में प्रवृत्त होते हुए, क्या सत्य वचन या मृषा वचन. या सत्यमृषा वचन या असत्य-अमृषा वचन योग की प्रवृत्ति करते है ?

हे गोतम ! सत्य वचन योग की प्रवृत्ति करते हैं। मृषा वचनयोग की और सत्य-मृषा वचनयोग की प्रवृत्ति नही करते है। असत्य-अमृषा वचनयोग की भी प्रवृत्ति करते है।

टिप्पण—मन.पर्यव ज्ञानी या अनुत्तर विमानवासी देवों के द्वारा मन से पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने के लिये केवली भगवान् मनोयोग की प्रवृत्ति करते है और जीवादि पदार्थों की प्ररूपणा करते हुए सत्यवचन-योग की प्रवृत्ति करते है और आमन्त्रणादि में असत्य-अमृषा वचनयोग की प्रवृत्ति करते है। —(टी०)

कायंजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा णिसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा उल्लंघेज्ज वा पल्लंघेज्ज वा, उक्खेवणं वा पक्खेवणं वा तिरियक्खेवणं वा करेज्जा, पाडिहारियं वा पीढ-फलह(ग)सेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेज्जा ।

काययोग की प्रवृत्ति करते हुए, आते हैं; ठहरते हैं; बैठते हैं; सोते हैं; लांघते हैं; विशेष लांघते हैं; उत्क्षेपण (=उछालना), अवक्षेपण (=नीचे डालना) और तिर्यक्क्षेपण (=आजु-बाजु या आगे-पीछे रखना)। अथवा ऊँची, नीची और तिरछी गति करते हैं और लौटाने योग्य आसन, पटिये, शय्या और संस्तारक लौटाते हैं।

टिप्पण–केवलिसमुद्घात के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में योगनिरोध होता है।–(टी०)

पादटिप्पण–केवलिसमुद्घात नियमतः किसे करना पड़ता है ?–इस विषय में मतभेद है। यथा–

यो षाण्मासाधिकायुष्को, लभते केवलोद्गमम् ।
करोत्यसो समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ।।

–छहमास और छहमास से अधिक आयुष्यवाले को केवलज्ञान होने पर, वे अवश्य समुद्घात करते हैं और छह महिने से न्यून आयुष्य-वाले को केवलज्ञान होने पर, वे समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते। –गुणस्थान क्रमारोह।

आवश्यक निर्युक्ति से भी इसी कथन की पुष्टि होती है। यथा–

'छम्मासाउ–सेसे, उप्पण्णं जेसिं केवलणाणं ।
ते णियमा समुग्घाया, सेसा समुग्घाय भइयव्वा ।।

किन्तु आवश्यक-चूर्णिकार का मन्तव्य, इससे बिलकुल विरुद्ध है। यथा–'येऽन्तर्मुहूर्तमादि, कृत्वोत्कर्षेण आमासेभ्यः षड्भ्यः आयुषोऽवशिष्टेभ्यः अभ्यन्तराविर्भूत केवलज्ञान पर्यायास्ते नियमात् समुद्घातं कुर्वन्ति। ये तु षड्मासेभ्यः उपरिष्टादाविर्भूतकेवलज्ञानाः शेषास्ते समुद्घातबाह्याः। ते समुद्घातं न कुर्वन्ति–इत्यर्थः। अथवा अयमर्थः–शेषाः समुद्घातं प्रतिभाज्याः।

–जो मनुष्य अन्तर्मुहूर्त से लगाकर, छह महीने जितना आयुष्य शेष रहने पर केवलज्ञान प्राप्त करें, तो अवश्य समुद्घात करते हैं। किंतु जिन मनुष्यों का आयुष्य छह महीने से अधिक हो, वे केवलज्ञान प्राप्त करे तो समुद्घात से बाह्य हैं। अर्थात् वे समुद्घात नहीं करते है। अथवा शेष (=छह महिने से अधिक आयुष्यवाले) समुद्घात करते भी है और नहीं भी करते हैं।

यद्यपि निर्युक्ति की–'छम्मासाउ सेसे....' इस गाथा का अर्थ चूर्णिकार के मतानुकूल भी हो सकता है। फिर भी दोनों पक्ष खड़े रहते ही हैं। अतः तत्त्व केवलिगम्य।

–प्रश्नोत्तर मोहनमाला प्रश्न ३७ का उत्तर पृ. १०५–१०८

## योग-निरोध और सिद्धि

**४३–से णं भंते! सजोगी सिज्झइ....जाव अंतं करेइ?–णो इणट्ठे समट्ठे।**

भन्ते! क्या सयोगी (=मन, वचन और काया से सक्रिय) सिद्ध होते है?....यावत् सब दु:खो का अन्त करते है?–हे गौतम! ऐसा आशय ठीक नही है।

**से णं पुव्वामेव सण्णिस्स पंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्ण-जोगस्स* हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं पढमं मणजोगं निरुंभइ ।**

(हे गौतम !) वे सबसे पहले पर्याप्तक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के जघन्य मनोयोग के नीचले स्तर से असंख्यात गुण हीन मनोयोग का निरोध करते हैं । अर्थात् योग-निरोध का आरभ करनेवाले केवली सब से पहले पर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय के अल्पतम मानसिक व्यापार के असंख्यातवें भाग जितने मनोव्यापार रहता है, शेष सब का निरोध कर देते हैं ।

**तयाणंतरं च णं बिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णजोगस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं बिइयं वयजोगं निरुंभइ ।**

इसके बाद पर्याप्तक द्वीन्द्रिय जीव के जघन्य वचनयोग के नीचले स्तर से भी असंख्यात गुण हीन दूसरे वचनयोग का निरोध करते हैं । अर्थात् उस जीव की निम्नतम स्तरीय वाचिक प्रवृत्ति की असंख्यातवें भाग जितनी वाचिक प्रवृत्ति रहती है, शेष सब का निरोध कर देते हैं ।

**तयाणंतरं च णं सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहण्ण-जोगस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तईयं कायजोगं निरुंभइ ।**

इसके पश्चात् अपर्याप्त सूक्ष्म पनक (=फूलन) जीव

---

* ......जोगिस्स.,..त्ति पा. ।

के जघन्य योग के नीचले स्तर से असंख्यातगुण हीन तीसरे काययोग का निरोध करते हैं।

**से णं एएणं उवाएणं पढमं मणजोगं निरुंभइ निरुंभित्ता, वय-जोगं निरुंभइ। वयजोगं निरुंभित्ता कायजोगं निरुंभइ। कायजोगं निरुंभित्ता जोगनिरोहं करेइ।**

इस उपाय से पहले मन की क्रिया को रोक करके वचन की क्रिया को रोकते है। वचन की क्रिया को रोककर काया की क्रिया का निरोध करते है और काया की क्रिया को रोककर, योग-निरोध (=मन वचन और काया से संबधित होनेवाली आत्मा की प्रवृत्ति की रोक) करते हैं।

टिप्पण—'एएणं उवाएणं' शब्दों से यह अर्थ झलकता है, कि—केवली तथा कथित (=पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय द्वीन्द्रिय और अपर्याप्त पनक) जीवों की निम्नस्तरीय योग प्रवृत्ति के असंख्यातवें भाग जितनी रही हुई योग प्रवृत्ति को समय-समय में क्रमशः रोकते हुए, पूर्णतः योग-निरोध करते है। यथा—

पज्जत्तमेत्त सन्निस्स, जत्तियाइं जहन्न जोगिस्स।
होंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो॥
तदसंखगुण विहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो।
मणसो सव्वनिरोहं, करे असंखेज्ज समएहिं॥
एवमन्यदपि सूत्रद्वयं नेयम्। .........(टीकायां उद्धृतगाथे)।

—अर्थात् जघन्य योगी पर्याप्त संज्ञी की जितनी मनोद्रव्य की और मनोव्यापार की मात्रा होती है, उससे भी असंख्यात गुण हीन मात्रा में मन का समय समय पर निरोध करते हुए, केवली असंख्यात समय में

मन का पूर्णतः निरोध कर देते हैं।

इसी प्रकार शेष दो सूत्रों के विषय में भी यही समझना चाहिए।

काययोग के निरोध के बाद तो योग निरोध हो ही जाता है, फिर अलग से योग-निरोध का कथन क्यों किया गया है?—वीर्य के द्वारा योगों की प्रवृत्ति होती है। उस योग-प्रवृत्ति के मूल करणवीर्य का निरोध जहाँ तक नहीं होता है वहां तक पूर्णतः योग-निरोध नहीं माना जाता। उस करणवीर्य का निरोध भी अकरणवीर्य से हो जाता है। अर्थात् काय-योग के निरोध के बाद केवली करणवीर्य से हटकर, अकरणवीर्य में पूर्णतः स्थित हो जाते हैं। संभवतः यही दर्शाने के लिए योग-निरोध और अयोगता का कथन अलग से हुआ है।

**जोगनिरोहं करेत्ता× अजोगत्तं पाउणंति। अजोगत्तं पाउ-णित्ता इसिहस्सपंचक्खरउच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतो-मुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ।**

योग निरोध करके अयोगी अवस्था को प्राप्त होते हैं। अयोगी अवस्था (=मन, वचन और काया की क्रिया से रहित अवस्था) को प्राप्त करके, ईषत्स्पृष्ट पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितने काल की—असंख्यात समय के अन्तर्मुहूर्त के काल की—शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं।

टिप्पण—अयोगी अवस्था के अलग—से कथन में यह भी रहस्य हो सकता है, कि—जो आत्मपरिणति योग-निरोध के लिये प्रवृत्त हुई थी उसका भी, कार्य पूरा हो जाने के कारण शमन हो गया।

अ, इ, उ, ऋ और लृ ये पाँच ह्रस्व अक्षर हैं। इनका न द्रुत न

---

× अजोगयं—इति पा.।

विलम्बित, किन्तु मध्यम उच्चारण ग्रहण किया गया है–(टी.)।

कहा है–

ह्रस्सक्खराइं मज्झेण जेण कालेण पंच भणंति ।
अच्छइ सेलेसिगओ, तत्तियं मेत्तं तओ कालं ।।

आशय स्पष्ट है। –टीकोद्धृत गाथा

शैलेश=मेरु, मेरु-सी स्थिर-अडोल अवस्था=शैलेशी। अथवा शीलेश=सर्व संवर रूप चारित्र के प्रभु। शीलेश की योगनिरोध रूप अवस्था=शैलेशी। (टी.)

**पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं कम्मं तीसे सेलेसिमद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं अणंते कम्मंसे खवेइ। वेयणिज्जाउयणामगुत्ते इच्चेते चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ।**

उस शैलेशी काल में पूर्व रचित (=शैलेशी अवस्था से पहले रची गई) गुण श्रेणी रूप मे रहे हुए कर्मों को–असंख्यात गुण श्रेणियों में रहे हुए अनन्त कर्मांशो को क्षीण करते हैं। वेदनीय, आयुष्य नाम और गोत्र इन चारो कर्मांशो का एक साथ क्षय करते हैं।

टिप्पण–सामान्यतः कर्म, बहु, अल्प, अल्पतर और अल्पतम रूप से निर्जरा के लिये रचे जाते है, किन्तु जब परिणाम विशेष से, वे ही कालान्तर में वेद्य कर्म, अल्प, बहु, बहुतर और बहुतम रूप से, शीघ्रतर क्षय करने के लिये, रचे जाते हैं, तब वह रचना-प्रकार 'गुणश्रेणी' नाम से कहे जाते हैं। (टी.) अर्थात् जहाँ गुण की वृद्धि से, असंख्यात गुणी निर्जरा, समय-समय पर अधिक होती है, वह गुणश्रेणी है।

खवित्ता ओरालियतेयाकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहइ। विप्पजहित्ता उज्जूसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एक्कसमएणं अविग्गहेणं गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ।

...एक साथ क्षय करके, औदारिक, तैजस् और कार्मण को, अशेष विविध त्यागों के द्वारा, त्याग देते हैं। ...फिर ऋजुश्रेणी (=आकाश प्रदेशो की अवक्र-सीधी पंक्ति) के आश्रित होकर, अपृश्यमानगति (=अस्पृश्यद्गति ) वाले सीधे एक समय में ऊँचे जाकर, साकारोपयोग (=ज्ञानोपयोग ) में सिद्ध होते हैं।

## तत्रस्थित सिद्ध का स्वरूप

ते णं तत्थ सिद्धा हवंति-सादीया अपज्जवसिया असरीरा जीवघणा दंसणनाणोवउत्ता निट्ठियट्ठा निरेयणा नीरया णिम्मला वितिमिरा विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति।

वहाँ (=लोकाग्रपर) वे सिद्ध होते है। आदि सहित, अन्त रहित, शरीर रहित, जीवघन, ज्ञान और दर्शन रूप (साकार और अनाकार) उपयोग से युक्त, सब प्रयोजनो से निवृत्त, कम्पन से रहित=निश्चल, बद्धयमान (=रजरूप आते हुए) कर्मो से रहित, पूर्वबद्ध कर्मो से मुक्त, अज्ञान से रहित और विशुद्ध (=अमिश्रित शुद्ध जीव स्वरूपवाले) होकर, अनागत अद्धाकाल भविष्य काल में शाश्वत (=अविनश्वर ) रहते है।

टिप्पण–कई अन्य मतावलम्बियों को सिद्ध स्थान विषयक मान्यता इस प्रकार है–

'रागादि वासना से मुक्त सिद्धो को स्थिति का कोई नियत स्थान नहीं है'। या 'मुक्त व्योमवत् सर्वत्र स्थित रहते हैं'। यथा–

रागादि वासना मुक्तं, चित्तमेव निरामयम्।
सदाऽनियत देशस्थं, सिद्ध इत्यभिधीयते ॥

अथवा–गुणसत्त्वान्तरज्ञानान्निवृत्त प्रकृति क्रियाः।
मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापवर्जिताः ॥

–टीका में उद्धृत श्लोक

सिद्धि-स्थान विषयक इन मान्यताओं का निरसन करने के लिये 'तत्थ' (=तत्र=लोकाग्रपर) शब्द का प्रयोग हुआ है।

कई शरीरधारियों को भी सिद्ध मानते हैं। यथा–

अणिमाद्यष्टविधं प्राप्यैश्वर्यं कृतिनःसदा।
मोदन्ते निर्वृतात्मानस्तीर्णाः परम दुस्तरम् ॥ (–टीकागत उ. श्लोक)

इस प्रकार के मत का निरसन 'असरीरा विशेषण से होता है (–टी.) जो जीव की सिद्धि नहीं मानते हैं और जो जीव की मुक्तावस्था मानकर भी पुनः लौटनेवाला मानते हैं, उनके मतों का निषेध क्रमशः 'सादिया' और 'अपज्जवसिया' विशेषण से हो जाता है। जो मुक्त अवस्था में चेतना और ज्ञानादि नहीं मानते है, उनके मत का निषेध 'जीव घणा दंसणणाणोवउत्ता' विशेषणों से होता है। जो सिद्ध आत्माओं का अनुकंपादि कारणों से पुनरवतार मानते है, उनका मत 'निट्ठियट्ठा' विशेषण पद से निर्मूल हो जाता है। सिद्धों के परभाव के कर्तृत्व का निषेध 'निरेयणा' (=निरेजना) शब्द से, पर से प्रभावित होनें का निषेध 'नीरया' शब्द से, पर से आबद्ध होने का निषेध 'णिम्मला' पद से, किसी से छले जाने

का निषेध 'वितिमिरा' शब्द से और आत्मभाव में स्थिति का प्रतिपादन 'विसुद्धा' शब्द से होता है। बहुवचनान्त विशेषण इसलिए है कि-सिद्ध अनन्त है और स्वरूपतः एक-से होते हुए भी व्यक्तितः सब भिन्न हैं।

**से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया अपज्जवसिया....जाव चिट्ठंति ?-गोयमा ! से जहा-णामए बीयाणं अग्गिदड्ढाणं पुणरवि अंकुरुप्पत्ती ण भवइ। एवामेव सिद्धाणं कम्मबीए दड्ढे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया अपज्जवसिया....जाव चिट्ठंति।**

भन्ते ! किस आशय से इस प्रकार कहते है, कि-वहाँ वे सिद्ध होते है, सादि अन्त रहित...यावत् शाश्वत रहते हैं ?

गौतम ! जैसे अग्नि से जले हुए बीजों की पुनः अंकुर रूप उत्पत्ति नही होती है। उसी प्रकार कर्म-बीजो के जल जाने पर सिद्धो की भी पुनः जन्मरूप उत्पत्ति नही होती है। इसलिए गौतम ! इस प्रकार कहता हूँ, कि-'वे वहाँ सिद्ध होते है... अनागत काल मे शाश्वत रहते है।'

टिप्पण-जन्म=कर्मकृत प्रसूति। कर्म के निमित्त से होनेवाली उत्पत्ति का अभाव बताने के लिये 'जम्मुप्पत्ती' शब्द कहा गया है। क्योंकि प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त ही सद्भाव होता है। अतः वहाँ परिणामान्तर रूप उत्पत्ति होती है।-(टी.)

## सिद्ध्यमान के संहननादि

**जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि संघयणे सिज्झंति ?**

—गोयमा ! वइरोसभणारायसंघयणे सिज्झंति ।

भन्ते ! सिद्धयमान (=सिद्ध होने वाला ) जीव कौन से संहनन (=हड्डियो के बन्धन) में सिद्ध होते है ?

—गौतम ! वज्रऋषभनाराच संहनन (=कीलिका और पट्टी सहित मर्कट बन्धमय सन्धियों वाला हड्डियो का बन्धन) में सिद्ध होते है ।

जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि संठाणे सिज्झंति ?

—गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अण्णयरे संठाणे सिज्झंती ।

भन्ते ! सिद्धयमान जीव कौन-से आकार में सिद्ध होते है ?

—गौतम ! छह संस्थान (=आकार ) में से किसी भी संस्थान में सिद्ध होते है ।

टिप्पण—संहनन भी छह हैं और संस्थान भी छह है । वज्रऋषभ-नाराच, ऋषभ नाराच (=मर्कट बन्ध और पट्टी से युक्त सन्धियों वाला) नाराच (=मर्कट बन्ध युक्त सन्धियों वाला), अर्द्ध नाराच (=एक तरफ मर्कट बन्ध और एक तरफ कीलिका युक्त सन्धियों वाला ), कीलिका (=कीलिका युक्त सन्धियों वाला) और सेवार्त (=कमजोर सन्धियोंवाला) —ये छह संहनन है और समचतुरस्र (=सुडोल, योग्य माप से युक्त ), न्यग्रोधपरिमंडल (=वटवृक्ष के समान नाभि के ऊपर के अवयव सुन्दराकार और नीचे के अवयव बेडौल), सादि (=नीचे का अंग सुडौल और ऊपर का अंग बेडौल), वामन (=ठिगना कद) कुब्ज (=कुबड़ा) और हुंड (=कुत्सित—बेडौल)—ये छह प्रकार के संस्थान है ।

जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि उच्चे सिज्झंति ?
–गोयमा ! जहण्णेणं सत्तरयणीओ, उक्कोसेणं पंचधणुस्सए सिज्झंति ।

भन्ते ! सिद्धयमान जीव कितनी ऊँचाई में सिद्ध होते हे ?

–गौतम ! जघन्य सात हाथ और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की ऊँचाई में सिद्ध होते है ।

टिप्पण–सात हाथ की ऊँचाई में सिद्ध होते है–महावीर स्वामी-वत् और पांच सौ धनुष में सिद्ध होते है–ऋषभस्वामीवत् । यह ऊँचाई का प्रमाण तीर्थङ्करों की अपेक्षा से कहा गया है । अतः दो हाथ की ऊँचाईवाले कूर्मापुत्र और पांच सौ धनुष से कुछ अधिक ऊँचाईवाली मरुदेवी के सिद्ध होने से कोई दूषण नहीं आता ।–(टी०)

टीकाकार का उपर्युक्त कथन जघन्य के लिए संगत प्रतीत होता है । क्योंकि सिद्धों की जघन्य अवगाहना, दो हाथ की ऊँचाईवाले व्यक्ति के सिद्ध होने पर ही, संभव हो सकती है । जो कि आगे सातवीं गाथा से स्पष्ट है । उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष से अधिक बतलाई है वह संगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इसी सूत्र में आगे पांचवीं गाथा में सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ३३३⅓ धनुष बताई है । अतः पाँच सौ धनुष से अधिक बताना मूलपाठ से विरुद्ध है ।

जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि आउए सिज्झंति ?
–गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगट्ठवासाउए, उक्कोसेणं पुव्व-कोडियाउए* सिज्झंति ।

---

* ...कोडाउए-इति पा. ।

भन्ते ! सिद्धयमान जीव कितने आयुष्य मे सिद्ध होते है ?

–गौतम ! जघन्य आठ वर्ष से अधिक आयुष्य में और उत्कृष्ट कोटिपूर्व की आयुष्य में सिद्ध होते है। अर्थात् आठ वर्ष से ऊपर की आयुष्य से लगाकर क्रोडपूर्व तक की आयुष्य तक सिद्ध हो सकते है। इससे कम या ज्यादा आयुष्यवाले मनुष्य सिद्ध नही हो सकते हैं।

टिप्पण–सित्तर लाख, छप्पन हजार क्रोड वर्ष का एक पूर्व होता है।

## सिद्धों का निवासस्थान

**अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?–णो इणट्ठे समट्ठे। एवं जाव अहेसत्तमाए।**

भंते ! क्या इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे सिद्ध निवास करते है ?–नही, यह आशय ठीक नही है। इसी प्रकार सातों पृथ्वियो के विषय में समझना चाहिए।

टिप्पण–यद्यपि पहले 'तत्थ सिद्धा भवंति'–इस सूत्र के द्वारा सिद्धों के निवास स्थान का सङ्केत किया जा चुका है। तथापि मुग्ध शिष्य के कल्पित विविध लोकाग्र भागों का निषेध करते हुए वास्तविक लोकाग्र के स्वरूप का विशेष बोध देनें के लिये प्रश्न–उत्तर किये गये है।–(टी.)

शिष्य की कल्पना है, कि–'रत्नप्रभा पृथ्वी का अधोभाग भी किसी अपेक्षा से लोकाग्र ही है।' इसी प्रकार शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूम्रप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमःप्रभा इन पृथ्वियों के अधोभाग के विषय में भी इसी प्रकार की कल्पना है। 'यह आशय ठीक नहीं है'–भगवान् यह उत्तर देकर, उन कल्पनाओ का निषेध करते है।

अत्थि णं भंते ! सोहमस्स कप्पस्स अहे सिद्धा परिवसंति ?
--णो इणट्ठे समट्ठे । एवं सव्वेसिं पुच्छा--ईसाणस्स सणं-कुमारस्स.....जाव अच्चुयस्स गेविज्जविमाणाणं अणुत्तर-विमाणाणं ।

भन्ते ! क्या सिद्ध, सौधर्मकल्प के नीचे निवास करतेहै?
–यह आशय ठीक नही है।

इसी प्रकार ईशान, सनत्कुमार....अच्युत, ग्रैवेयकविमान और अनुत्तरविमान–सबकी पृच्छा समझना चाहिए

अत्थि णं भंते! ईसीपब्भाराए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?
--णो इणट्ठे समट्ठे ।

तो क्या भन्ते ! सिद्ध, ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे निवास करते है ? यह आशय ठीक नही है ।

से कहिं खाइ णं भंते ! सिद्धापरिवसंति ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियग्गहगणणक्खत्तताराभवणाओ बहूइं जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं, बहूइं जोयणसहस्साइं, बहूइं जोयणसयसहस्साइं, बहूओ जोयणकोडिओ, बहूओ जोयण-कोडाकोडीओ उड्ढतरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणसणं-कुमारमाहिंदबंभलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयआरण-च्चुय तिण्णि य अट्ठारे गेविज्जविमाणावाससए वीइवइत्ता;

**विजयवेजयंतजयंतअपराजियसव्वट्ठसिद्धस्स य महाविमाणस्स सव्व उपरिल्लाओ थूभियग्गाओ दुवालसजोयणाइं अबाहाए एत्थ णं ईसीपब्भारा णाम पुढवी पण्णत्ता।**

भंते ! फिर सिद्ध कहाँ रहते हैं ?

गौतम ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बहुसम रमणीय भूमि-भाग से ऊपर चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और ताराओं के भवनों से, बहुत-से योजन, बहुतसे सैकड़ों योजनों, बहुत-से हजार योजनों, बहुत-से सौ-हजार योजनों, बहुत-से क्रोड़ योजनों और बहुत-से क्रोडाक्रोड योजनों से ऊर्ध्वतर जानेपर सौधर्म, ईशान सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आणत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प, ३१८ ग्रैवेयक विमान-आवास को पार कर, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ-सिद्ध महाविमान के शिखर के अग्रभाग से बारह योजन के अन्तर (=अबाहा) से इस स्थल पर ईषत्प्राग्भारा नाम की पृथ्वी है।

**पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एगा जोयणकोडी, बायालीसं सयसहस्साइं, तीसं च सहस्साइं, दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसए, किंचि विसेसाहिए परिरएणं।**

वह पृथ्वी पैंतालीस लाख योजन की लम्बी-चौड़ी है और एक क्रोड, बयालीस लाख, तीस हजार, दो सौ गुणपचास योजन से कुछ अधिक उसकी परिधि है।

ईसिपब्भारा य णं पुढवीए बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणिए खेत्ते, अट्ठजोयणाइं बाहल्लेणं । तयाऽणंतरं मायाए मायाए पडिहायमाणी पडिहायमाणी सव्वेसु चरिमपेरंतेसु मच्छिय-पत्ताओ तणुयतरा, अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ×बाहल्लेणं पण्णत्ता ।

वह ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी बहुमध्य देशभाग में, आठ योजन जितने क्षेत्र में, आठ योजन मोटी है । इसके बाद थोडी-थोडी कम होती हुई, सबसे अन्तिम छोरों पर मक्खी की पाँख से भी पतली है । उस छोर की मोटाई अंगुल के असख्येय भाग जितनी है ।

ईसीपब्भाराए णं पुढवीए दुवालस णामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-ईसी इ वा, ईसीपब्भारा इ वा, तणू इ वा, तणुतणू इ वा, सिद्धी इ वा, सिद्धालए इ वा, मुत्ती इ वा, मुत्तालए इ वा, लोयग्गे इ वा, लोयग्गथूभिया इ वा, लोयग्गपडि-बुज्झणा इ वा, सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहा इ वा ।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के बारह नाम हैं । जैसे-१ ईषत् (=अल्प, हलकी या छोटी ), २ ईषत्प्राग्भारा (=अल्प बड़ी ), ३ तनु (=पतली), ४ तनुतनु (=विशेष पतली ), ५ सिद्धि, ६ सिद्धालय (=सिद्धों का घर ), ७ मुक्ति, ८ मुक्तालय, ९ लोकाग्र, १० लोकाग्रस्तूपिका (=लोकाग्र का शिखर), ११ लोकाग्रप्रति-

× क्वचित्-बाहुल्लेणं-इति अशुद्धम् ।

बोधना (=जिसके द्वारा लोकाग्र जाना जाता हो ऐसी) और १२ सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को सुखावह।

टिप्पण—सिद्धों और मुक्तों के समीप में होने के कारण इस पृथ्वी को सिद्धि आदि नाम से पुकारा गया है।—टी०

प्राण (=द्वीन्द्रियादि), भूत (=वनस्पति), जीव (=पञ्चेन्द्रिय) और सत्त्व (=पृथ्वी आदि चार स्थावर)। शीतादि, दुःख-हेतुओं का अभाव होने के कारण, वहाँ पृथ्वी आदि रूप से उत्पन्न जीवों के लिए, वह पृथ्वी सुखावह है।—(टी०)

ईसीपब्भारा णं पुढवी सेया आयंस[†]तलविमलसोल्लियमुणालदगरयतुसारगोक्खीरहारवण्णा उत्ताणयछत्तसंठाणसंठिया सव्वज्जुणसुवण्णमई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया समरीचिया सुप्पभा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी, दर्पण के तल-सी विमल, सौल्लिय (=एक प्रकार का फूल संभवतः मुचकुन्द), कमलनाल (=मुणाल =मृणाल), जलकण, तुषार, गाय के दूध और हार के समान वर्णवाली—श्वेत है। उलटे छत्र के आकार के समान आकार में रही हुई है और अर्जुनस्वर्ण—(=सफेद सोना) मयी है। वह आकाश या स्फटिक-सी स्वच्छ कोमल परमाणुओं के स्कन्ध से निष्पन्न, घुण्टित (=घोंटकर चिकनी की हुई-सी), वस्तु के समान तेज शान-से घिसी हुई-सी, सुकुमार शान-से सँवारी हुई-

† सखतल....इति पा.

सी या प्रमार्जनिका से शोधी हुई-सी, रज से रहित, मल से रहित, आर्द्रमल से रहित, अकलङ्क, अनावरण, छाया या अकलङ्क शोभावाली, किरणों से युक्त, सुन्दर प्रभावाली, मन के लिये प्रमोदकारक (=प्रासादीय), दर्शनीय (=जिसे देखते हुए नयन अघाते न हो ऐसी), अभिरूप (=कमनीय) और प्रतिरूप (=देखने के वाद जिसका दृश्य आंखो के सामने घूमता ही रहे ऐसी) है।

**ईसीपब्भाराए णं पुढवीए सीयाए जोयणंमि लोगंते। तस्स जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए, तस्स णं गाउयस्स जे से उवरिल्ले छब्भागे तत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादीया अपज्जवसिया + अरोगजाइजरामरणजोणिवेयणं संसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहीपवंचमइक्कंता सासयमणागयमद्धं चिट्ठंति॥**

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के तले से उत्सेधांगुल से एक योजन पर लोकान्त है। उस योजन का जो ऊपर का कोस है, उस कोस का जो ऊपर का छट्ठा भाग है, वहाँ सिद्ध भगवन्त, जन्म, जरा, और मरण प्रधान अनेक योनियों की वेदना और संसार में पर्यटन (=कलङ्कलीभाव=दुःख की घबराहट) से वार वार उत्पत्ति-गर्भवास में निवास के प्रपञ्च (=विस्तार) से परे बनकर, शाश्वत अनागत काल मे सादि-अनन्त रूप से स्थित रहते है।

---

+अणेग....जोणि संसार कलं.....पवंच समइक्कंता-इति पा.।

## सिद्ध-स्तवना

कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पडिट्ठिया ? +
कहिं बोंदिं चइत्ताणं ? कत्थ गंतूण सिज्झई ॥१॥

सिद्ध कहाँ रुकते हैं ? सिद्ध कहाँ स्थित होते है ? और कहाँ देह को त्यागकर, कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ?

टिप्पण–जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है। अतः यह शङ्का उठना सहज है, कि-सिद्ध हमेशा भ्रमणशील ही रहते है या कहीं रुकते हैं ?-यदि रुकते है तो रुकने का क्या कारण है ? जिसका निमित्त मिलने पर, रुकते है, तो क्या उससे टकराकर वापिस लौटते है या कहीं स्थित रहते है ? वे जहां स्थित होते है–वहीं शरीर छोड़ते हैं या अन्यत्र ? अर्थात् उनका जो स्थान है, वहां जाकर देह छोड़ते हैं या अन्यत्र ? जहां देह त्यागते है, वहीं कृतकृत्य हो जाते है या अन्यत्र ? प्रायः ऐसी जिज्ञासाएँ इन प्रश्नों के मूल में रही हुई है।

अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पडिट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥२॥

सिद्ध अलोक से रुकते हैं। लोकाग्र पर स्थित होते हैं और मनुष्य लोक में देह को छोड़कर, वहाँ (=लोकाग्र) पर जाकर, कृतकृत्य होते हैं।

टिप्पण–प्रतिहत अर्थात् आनन्तर्यवृत्ति मात्र का स्खलन। (–टी.) सिद्धों की अलोक में गति बन्द हो जाने के कारण–१ गतिसहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय का अभाव, २ शरीर-त्याग के प्रयोग से इतनी ही गति

---

+ पइट्ठिया–इति अन्यत्र।

होना, ३ निद्ध जीवों का लौकिक द्रव्य होना–आदि। तिरछे या नीचे गति नहीं करने का कारण–जीवद्रव्य का मुक्तता के कारण ऊर्ध्वगमन स्वभाव। देहादि से मुक्ति तो मनुष्य लोक में ही होजाती है। पूर्णतः मुक्ति और सिद्धि में एक समय का भी अन्तर नहीं होता है। किन्तु निश्चयदृष्टि लोकाग्र पर प्रतिष्ठित हो जाने के वाद ही उन्हें सिद्ध मानती है।

जं संठाणं तु इहं, भवं चयं तस्स चरिमसमयंमि।
आसी य पएसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥३॥

मनुष्यलोक के भव के देह मे जो प्रदेशघन आकार, अन्तिम समय में वना था, वही आकार उनका वहां पर होता है।

दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणं, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥४॥

छोटा या वड़ा, जैसा भी अन्तिमभव में आकार होता है, उससे तीसरे भाग जितने कम स्थान में सिद्धों की व्याप्ति –जिनेश्वर देव के द्वारा कही गई है।

तिण्णि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ वोधव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥५॥

तीन सौ तेतीस वनुष और वनुष का तीसरा भाग (अर्थात् ३२ अंगुल), यह सर्वज्ञ कथित सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना जानना चाहिए।

चत्तारि य रयणीओ, रयणित्तिभागूणिया य बोधव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥६॥

चार हाथ और तीसरा भाग कम एक हाथ (=सोलह अंगुल) –यह सर्वज्ञकथित सिद्धो की मध्यम अवगाहना जानना चाहिए ।

एक्का य होइ रयणी, साहीया अंगुलाइं अट्ठ भवे ।
एसा खलु सिद्धाणं, जहण्णओगाहणा भणिया ॥७॥

एक हाथ और आठ अंगुल अधिक–यह सर्वज्ञकथित सिद्धो की जघन्य अवगाहना है ।

टिप्पण–सिद्धों की यह उत्कृष्टादि अवगाहना ५०० धनुष मानादि जितने ऊँचे मनुष्यो की, खड़े रहकर मुक्त होनें की अपेक्षा से कही गई है । क्योंकि बैठी हुई अवस्था में सिद्ध होनेवालों की अवगाहना अन्यथा भी होती है । –(टी०)

नाभिकुलकर की अवगाहना सवापाँचसौ धनुष की थी । 'उच्चत्तं चेव कुलगरेहिं समं'– इस वचन से मरुदेवी की इतनी ही ऊंचाई थी । तो उत्कृष्ट अवगाहना से अधिक अवगाहना में उनके सिद्ध होने से, क्या विरोध नहीं आता है ?– यद्यपि कुलकरतुल्य उनकी पत्नी की ऊंचाई कही गई है । तथापि वह प्रायिक हैं । स्त्रियाँ प्रायः पुरुषों की अपेक्षा लघु होती है । अतः उनकी ऊंचाई पाँच सौ धनुष की हुई । अथवा वृद्ध-काल में देहसङ्कोच के कारण इतनी ऊंचाई हुई । अथवा वे बैठी हुई सिद्ध हुई, अतः विरोध नहीं है । या यह अवगाहना बहुलता की अपेक्षा से कही गई है और मरुदेवी की सिद्धि आश्चर्यकल्प है । अतः विरोध नहीं है ।
–(टी०)

पहले जघन्य सात हाथ की ऊँचाईवालों की ही सिद्धि कही गई है तो फिर सिद्धों की जघन्य अवगाहना एक हाथ आठ अंगुल की कैसे हो सकती है ?–यह सात हाथ ऊँचे व्यक्ति की सिद्धि तीर्थङ्करों की अपेक्षा से है। दो हाथ के ऊँचे कूर्मापुत्रादि सिद्ध हुए हैं। अतः सिद्धों की जघन्य अवगाहना उनकी अपेक्षा से समझना चाहिए। अन्य इस प्रकार कहते हैं–सिकुड़े हुए अंगोपांगवाले सात हाथ के ऊँचे व्यक्ति के सिद्ध होनें की अपेक्षा से, सिद्धों की जघन्य अवगाहना कही गई है।–(टी०)

ओगाहणाए सिद्धा, भवत्तिभागेण होइ परिहीणा।
संठाणमणित्थंथं, जरामरणविप्पमुक्काणं ॥८॥

सिद्ध अन्तिम भव की अवगाहना से तीसरे भाग जितनी कम अवगाहनावाले होते हैं। जरा और मरण से बिलकुल मुक्तों का आकार किसी भी लौकिक आकार से नहीं मिलता है (=इत्थं=इस प्रकार+थं=स्थित; अणित्थंथं=इस प्रकार के आकारों में नहीं रहा हुआ हो ऐसा)।

जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अण्णोण्णसमवगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते ॥९॥

जहां एक सिद्ध है, वहां भव के क्षय से विमुक्त, (धर्मास्तिकायादिवत्) अचिन्त्य परिणामत्व से परस्पर अवगाढ अनन्त सिद्ध है और सब लोकान्त का स्पर्श कर रहे है।

फुसइ अणंते सिद्धे, सव्व पएसेहिं णियमसो सिद्धा।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिं जे पुट्ठा ॥१०॥

सिद्ध, निश्चय ही सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशो से अनन्त सिद्धों का स्पर्श करते है और उन सर्वात्म प्रदेशों से स्पृष्ट सिद्धो से असंख्येय गुण वे सिद्ध है-जो देशप्रदेशो से स्पृष्ट है।

असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य णाणे य।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥११॥

वे सिद्ध अशरीरी, जीवघन और दर्शन और ज्ञान—इन दोनों उपयोगो में क्रमशः स्थित हैं। साकार (=विशेष उपयोग =ज्ञान) और अनाकार (=सामान्य उपयोग=दर्शन) चेतना —सिद्धो का लक्षण है।

टिप्पण—वस्तु के भेदयुक्त ज्ञान को साकार उपयोग कहते हैं और वस्तु के अभेदज्ञान को अनाकार उपयोग। सिद्धान्तपक्ष इन दोनों उपयोगों की प्रवृत्ति सिद्धों में भी क्रमशः मानता है। इस पक्ष के पोषक जिनभद्रगणि आदि आचार्य हैं। कुछ आचार्य दोनों उपयोगों को युगपद् मानते है और सिद्धसेन दिवाकर तर्कबल से इस मत की स्थापना करते है कि—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में, केवली अवस्था में किसी प्रकार का भेद नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदाय में युगपद् उपयोग का ही प्रतिपादन है। स्थानकवासी सम्प्रदाय सिद्धांनपक्ष को ही मान्यता देता है। सैद्धांतिकों की दृष्टि में—'जानने में प्रवृत्त होना' और 'देखने में प्रवृत्त होना' अर्थात् 'विशेष ज्ञानोपयोग की स्थिति' और 'सामान्य ज्ञानोपयोग की स्थिति'—ये आत्मा के एक ही गुण की दो पर्यायें है। पर्यायें क्रमवर्ती ही हो सकती है। अतः सिद्धों को भी विशेषज्ञान और सामान्य-ज्ञान क्रमशः ही होते हैं। साकार और अनाकार उपयोग ही सिद्धों का लक्षण है।

केवलणाणुवउत्ता, जाणंति सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठी अणंताहिं ॥१२॥

केवलज्ञानोपयोग से सभी वस्तुओ के गुण और पर्यायों को जानते है और अनन्त केवलदृष्टि से सर्वत:(=चारो ओर से) देखते है।

टिप्पण–(अ) इस गाथा के द्वारा केवलज्ञान और केवलदर्शन का भेद स्पष्ट किया गया है। जब पदार्थों को सर्वतः देखा जाता है, तब वे पदार्थ सावयव होते हुए भी अभिन्न रूप से दिखाई देते हैं और जब उनके गुणादि की ओर दृष्टि रहती ह, तब उनमें भेद ही भेद दिखाई देता है।

(आ) द्रव्य=गुण और पर्याय का आश्रय।
गुण=पदार्थव्यापी अंश अर्थात् पदार्थव्यापी ऐसा अंश, जो वैसे ही अन्य अंशों के साथ पदार्थ में अविरोधी रूप से रहता हो।
पर्याय=पदार्थ की क्रमवर्ती अवस्था।

(इ) सिद्ध अन्तर्मुख ही होते है–बहिर्मुख नहीं। यह जो सर्व-द्रव्यादि का ज्ञान होता है, वह उनकी अन्तर्मुखता के कारण ही होता है। आत्मा तो स्व-उपयोग का ही स्वामी है। अर्थात् स्व-उपयोग की लीनता में ही यह विशेषता है कि–उसमें सभी द्रव्यादि का ज्ञान स्वतः होता है। आगम काल के पश्चात् जो ये भेद हुए है कि केवली व्यवहार दृष्टि से ही सर्व द्रव्यादि को जानता है और निश्चयदृष्टि से तो अपनी आत्मा को ही जानता है–वे मात्र समझने के लिये ही है। वस्तुतः स्व-उपयोग में व्यवहार-निश्चय रूप भिन्न दृष्टियों से कोई विशेष अन्तर नहीं है।

णवि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं ण वि य सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १३ ॥

न तो मनुष्यों को ही वह सुखानुभव है और न सभी देवों को ही, जो सौख्य अव्याबाध (=बाधा-पीड़ा रहित) अवस्था को प्राप्त सिद्धो को है ।

जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं ।
ण य पावइ मुत्तिसुहं, णंताहिं वग्गवग्गूहिं ॥१४॥

तीनो काल से गुणित जो देवो का सौख्य है, उसे अनन्त बार वर्गवर्गित किया जाय, ऐसा वह अनन्तगुण सौख्य मुक्तिसौख्य के बराबर नही हो सकता है ।

टिप्पण– जितनी संख्या हो, उतनी संख्या से गुणित करने पर जो गुणनफल आता है, उसे वर्ग कहा जाता है । जैसे–दो से दो को गुणित करने पर, 'चार' वर्ग हुआ । जो उस वर्ग का भी वर्ग हो, उसे वर्गवर्ग कहते है । जैसे–दो का वर्ग चार और चार का वर्ग सोलह । ऐसे अनन्त बार वर्गवर्गित देवों का सुख, सिद्धों के सौख्य के तुल्य नहीं हो सकता । -टी.

चूर्णिकार ने–'णन्ताहि....' पद का सम्बन्ध 'मुत्तिसुहं' के साथ जोड़कर यह अर्थ किया है–'अनन्त खण्ड खण्डों से खण्डित सिद्धसुख'– अर्थात् सिद्धों के सुख के अनन्तानन्ततम खण्ड की समता भी, देवों का सार्वकालिक सुख, नहीं कर सकता है । –(टी०) क्योंकि देवों का सुख पौद्गलिक सुख से मिश्रित है । जबकि सिद्धों का सुख विशुद्ध-आत्मिक है ।

सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धापिंडिओ जइ हवेज्जा ।
सोऽणंतवग्गभइओ, सव्वागासे ण माएज्जा ॥१५॥

एक सिद्ध के सुख को तीनों काल से गुणित करने पर जो सुख की राशि हो, उसे अनन्तवर्ग से भाजित करने पर जो सुख की राशि उपलब्ध होती है, वह सुखराशि भी सम्पूर्ण आकाश में नहीं समा सकती।

टिप्पण-यहाँ विशिष्ट आह्लाद रूप सुख ग्रहण किया है। शिष्ट-जनों की सुख शब्द की प्रवृत्ति जिसके लिये होती है, उस आह्लाद को अवधि करके, वहाँ से आरम्भ करके, एक-एक गुण की वृद्धि के तारतम्य के द्वारा, उस आह्लाद की यहाँ तक वृद्धि करे कि वह अनन्तगुण वृद्धि के द्वारा निरतिशय निष्ठा को प्राप्त होजाय अर्थात् कल्पनातीत राशि हो जाय। ऐसा वह अत्यन्त, उपमा से रहित और एकान्तिक औत्सुक्य निवृत्तिरूप, निश्चलतम महोदधि के समान चरम आह्लाद ही सिद्धों के सदा होता है। उस प्रथम चार मे (=सभवतः सुखानुभव के पहले स्तर से) ऊपर तक के अन्तरालवर्ती आह्लाद के तारतम्य के द्वारा जो विशेष-विशेष रूप से स्तर बनते हैं, वे समस्त आकाशप्रदेशों से भी अधिक होते है। अतः कहा-'सव्वागासे ण माएज्जा'। यदि अन्यथा हो तो उनकी प्रतिनियत देश में अवस्थिति किस प्रकार हो सकती है-यों आचार्य कहते है।-(टी०)

इस गाथा का वृद्धोक्त विवरण का यह आशय है-'यह जो सुख-भेद है, वे सिद्धसुख के पर्यायरूप से कहे गये है। उस अपेक्षा से क्रम से उत्कृष्ट करते हुए उस सुख के भेद को उपचार से अनन्ततम स्थानवर्तिता की प्राप्ति होती है। असद्भाव स्थापना से उस सुखराशि को हजार मान लिया जाय और समयराशि को सौ। हजार को सौ से गुणित किया तो लाख हुए। यह गुणन किया गया-सर्व समय संबंधी सुख पर्यायो की उपलब्धि के लिये। तथा अनंत राशि को 'दश' रूप से मान लिया। उसका वर्ग हुआ

सौ। वर्ग से प्राप्त संख्या सौ के द्वारा लक्ष को अपवर्तित किया तो हजार ही हुए। अतः पूज्यों ने कहा—'समीभूत (=तुल्यरूप) ही है—यह आशय है।' यहाँ जो यह सुखराशि का गुणन और अपवर्तन हुआ है, उसकी हम इस प्रकार संभावना करते हैं; कि— यहाँ अनन्त राशि से गुणित होने पर भी— अनन्तवर्ग अर्थात् अनन्तानन्त रूप अतीव महास्वरूप से अपवर्तित होने पर, किंचिद् अवशेष रहता है; वह राशि भी अति महान् है। उससे भी सिद्धों की सुखराशि महान् है—ऐसी बुद्धि शिष्य में उत्पन्न करने के लिये अथवा गणितमार्ग से व्युत्पत्ति करने के लिये—(यह प्रयास है)।—(टी०)

अन्य इस गाथा की व्याख्या इस प्रकार करते हैं— सिद्ध के सुखों की पर्यायराशि × × × जो सर्वसमयों से सम्वन्वित है, उसे सङ्कलित की-उस सङ्कलित राशि को अनन्तवार वर्गमूल से अपवर्तित की अर्थात् अत्यन्त लघु बनाई। जैसे—सर्वसमय सम्वन्धी सिद्धों की सुखराशि ६५५३६ है। इसे वर्ग से अपवर्तित करने पर २६६ हुई। वह स्ववर्ग से अपवर्गित होने पर १६, सोलह से चार और चार से दो—यह अतिलघु राशि प्राप्त हुई। वह भी सम्पूर्ण आकाश प्रदेशों में भी नहीं समा सकती है। —(टी०)

जह णाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे वहुविहे वियाणंतो।
न चएइ परिकहेउं, उवमाए तहिं असंतीए ॥१६॥

जैसे कोई म्लेच्छ(=जंगली मनुष्य) वहुत तरह के नगर के गुणो को जानते हुए भी, वहाँ (=जगल में) नगर के तुल्य कोई पदार्थ नही होने से, नगर के गुणो को कहने में समर्थ नही हो सकता है।

इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं ।
किंचि विसेसेणेत्तो, ओवम्ममिणं सुणह वोच्छं ॥१७॥

वैसे ही सिद्धों का सुख अनुपम है । यहां उसकी बराबरी का कोई पदार्थ नहीं है । फिर भी कुछ विशेष रूप से उसकी उपमा कहता हूँ–सो सुनो ।

टिप्पण–

म्लेच्छः कोऽपि महारण्ये, वसति स्म निराकुलः ।
अन्यदा तत्र भूपालो, दुष्टाश्वेन प्रवेशितः ॥१॥
म्लेच्छेनासौ नृपो दृष्टः, सत्कृतश्च यथोचितम् ।
प्रापितश्च निजं देशं, सोऽपि राज्ञा निजं पुरम् ॥२॥
ममायमुपकारीति, कृतो राज्ञाऽतिगौरवात् ।
विशिष्टभोगभूतीनां, भाजनं जनपूजितः ॥३॥
ततः प्रासादशृंगेषु, रम्येषु, काननेषु च ।
वृत्तो विलासिनीसार्थैर्भुंक्ते भोगसुखान्यसौ ॥४॥
अन्यदा प्रावृषः प्राप्तौ, मेघाडम्बरमण्डितम् ।
व्योम दृष्ट्वा ध्वनिं श्रुत्वा, मेघानां स मनोहरम् ॥५॥
जातोत्कण्ठो दृढं जातो–ऽरण्यवासगमं प्रति ।
विसर्जितश्च राज्ञाऽपि, प्राप्तोऽरण्यमसौ ततः ॥६॥
पृच्छन्त्यरण्यवासास्तं, नगरं तात ! कीदृशम् ? ।
स स्वभावान् पुरः सर्वान्, जानात्येव हि केवलम् ॥७॥
न शशाक तकां (तरा) तेषां, गदितुं स कृतोद्यमः ।
वने वनेचराणां हि, नास्ति सिद्धोपमा यतः (तथा) ॥८॥

भावार्थ– एक म्लेच्छ किसी महारण्य में रहता था। राजा दुष्ट अश्व के द्वारा वहाँ पहुँच गया ॥१॥ उस म्लेच्छ ने राजा को देखा और उसका यथोचित सत्कार किया। जब वह स्वदेश को लौटा तो उसे भी साथ लेगया ॥२॥ राजा नें अपना उपकारी जानकर, उसे विशिष्ट भोग-साधन दिये और उसे जन-पूजित बनाया ॥३॥ उसने प्रासाद-शिखरों पर और रम्य बगीचों में विलासिनियों से घिरे रहकर, भोगसुखों को भोगा ॥४॥ वर्षा ऋतु आई। बादलो से गगन मण्डित हो गया। वह आकाश को देखकर और मनोहर मेघध्वनि को सुनकर, अरण्य में जाने के लिये उत्सुक हुआ। राजा ने भी उसे विसर्जित किया और वह जंगल में गया ॥५॥६॥ जंगलनिवासी उसे पूछते है–'तात ! नगर कैसा है ?' वह पुर के सभी स्वभावों को जानता हुं ही। किन्तु उद्यम करनें पर भी, वह वन में वनचरों को कहनें में समर्थ नहीं हो सका। ऐसे ही सिद्ध की उपमा भी नहीं है ॥७॥८॥ ––टीकोद्धृत श्लोक और उनका आशय।

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ।
तण्हा-छुहा-विमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥

जैसे कि–कोई पुरुष सभी इच्छित गुणों से युक्त भोजन को करके, भूख-प्यास से रहित होकर, जैसे अमित तृप्त (=विषयों की प्राप्ति हो जाने से, उत्सुकता की निवृत्ति से उत्पन्न प्रसन्नता से युक्त) हो जाता है।

इय सव्वकालतित्ता; अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासय मव्वावाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥१९॥

वैसे ही सर्वकाल तृप्त, अतुल शान्ति को प्राप्त सिद्ध

शाश्वत और अव्याबाध सुख को प्राप्त होकर—सुखी होकर स्थित रहते हैं।

टिप्पण—वहाँ केवल दुःख की निवृत्ति मात्र ही है—ऐसी बात नहीं है। किन्तु वहाँ सुखानुभव भी है। यही इस गाथा में प्रतिपादित हुआ है।

सिद्धत्ति य, बुद्धत्ति य, पारगयत्ति य परंपरगयत्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥२०॥

वे सिद्ध (=कृतकृत्य) हैं। बुद्ध (=केवलज्ञान से सम्पूर्ण विश्व को जाननेवाले) हैं। पारगत (=भव-सागर से पार पहुँचे हुए) हैं। परम्परागत (=क्रम से प्राप्त मुक्ति के उपायों के द्वारा पार पहुँचे हुए) हैं। उन्मुक्त कर्म कवच (=समस्त कर्मों से मुक्त) हैं। अजर (=बुढ़ापे से रहित) हैं। अमर (मरण से रहित) हैं और असग (सभी क्लेशों से रहित) हैं।

णिच्छिण्ण-सव्व-दुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंति सासयं सिद्धा ॥२१॥

सिद्ध, सभी दुःखों से परे होकर, जन्म, जरा, मरण और बन्धन से मुक्त होकर, अव्याबाध शाश्वत् सुख का अनुभव करते हैं।

अतुलसुहसागरगया, अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता।
सव्वमणागयमद्धं, चिट्ठंती सुही सुहं पत्ता ॥२२॥

बाधा-पीडा से रहित अनुपम अवस्था को प्राप्त होकर

समस्त अनागत काल सम्बन्धी सुख को पाकर और अतुल सुख-सागर में लीन बनकर वे सुखी आत्मा स्थित रहते हैं। अर्थात् विभाव-वेदन (=बाधा) का आत्यन्तिक अभाव हुआ; अतः स्व-द्रव्य के सिवाय अन्यत्र दुर्लभ है ऐसी अवस्था (=अनुपम) प्राप्त हुई। किन्तु विभाव-वेदन का अभाव होने पर, वेदनमात्र का अभाव नही होता है—स्वभाव—वेदन का अस्तित्त्व (=सुही) रहता है। वह स्वभाव-वेदन क्षणिक नहीं, किन्तु समस्त अनागत काल में स्थित रहता है। अत. वहां आत्मा आनन्द—घन हो जाता है।

## इइ उववाइयसुत्तं समत्तं ।

## शुभं भूयात्

भाद्रपद कृष्णा ५ सं. २०१६ रविवार, वर्षावास-सैलाना



# परिशेष :–

## (१)

### 'उववाइय' सुत्त के विषय का अन्यत्र वर्णन:–

तपोवर्णन–

विवाहपण्णत्ती स. २५; उ. ७। स. १३, उ. ८ आदि।

उत्तरज्झयण सुत्त अ० ३०

ठाणंग सुत्त–विभिन्न 'ठाणो' में; यथा–ध्यान वर्णन ठा. ४. उ. १

'मणविणग्र' आदि तपो का वर्णन ठा. ७ आदि।

समवायंग–सम. १२।

चारगति के कारणों का वर्णन–

ठाणग ठा. ४; उ. ४।

अम्वड़ और अम्बड़ के शिष्य–

विवाहपण्णत्ती स. १४; उ. ८

निह्नव—

ठाणंग ठा. ७ ।

परलोक के आराधक-विराधक—

विवाहपण्णत्ती स. १; उ. २ ।

योग-निरोध और 'अफुसमाणगई'

—उत्तरज्झयण सुत्त २६ अ० ।

सिद्ध-स्तवना

—उत्तरज्झयणसुत्त अ० ३६

(२)

## वर्णन भेद

विवाहपण्णत्ती स. १३, उ. ८ में 'पंडियमरण' के भेद बताते हुए, 'आवकहिय' अनशन के 'पाओवगमण' और 'भत्त-पच्चक्खाण'—इन दो भेदों के 'णीहारिमे य अणीहारिमे य'—ये दो भेद किये गये है;

उत्तरज्झयण ३० वें अ० में 'सवियार' और 'अवियार' ये दो भेद किये गये है और 'नीहारि' और 'अनीहारि'—ये भेद भी गिनाये गये है ।—गा. १२।१३ 'अवमोदरिया' तप के वर्णन में भी भेद है ।—उ० ३०। १४ से २४ गा० ।

'मणविणय' तप का वर्णन ठाणंगसुत्त ठा. ७ में इस प्रकार हुआ है—

पसत्थ मणविणए सत्तविहे प० तं.–अपावए, असावज्जे, अकिरिए, निरुवक्केसे, अणण्हयकरे, अच्छविकरे, अभूयाभिसंकणे। अपसत्थमणविणए सत्तविहे प० तं–पावए, सावज्जे, किरिए, उवक्केसे, अण्हयकरे, छविकरे, भूयाभिसंकणे।

'विवाहपण्णत्ती' स. २५, उ. ७ में वर्णन भेद–

'मन:योगप्रतिसंलीनता' में इतना विशेष है–'मणस्स एगत्तीभावकरण'। इसी प्रकार वचन यो० में भी–'वईए वि...।

काययोग प्रति० में भी कुछ शाब्दिक अन्तर है।

'मणविणय'–

से किं तं मणविणए ?–पसत्थमणविणए य अपसत्थ मणविणए य। से किं तं पसत्थमण...?–सत्तविहे. प. तं.-अपावए, असावज्जे, अकिरिए, णिरुवक्कमे, अ ....

अपसत्थ म० सत्तविहे प० तं.–पावए, सावज्जे, सकिरिए, सउवक्कोसे, अण्हयकरे, छविकरे, भूताभिसंकणे। से त अ..।

ध्यानवर्णन में 'ठाणंग' गत भेद–

आर्तध्यान के लक्षण में 'विलवणया' की जगह 'परिदेवणया'।

धर्मध्यान के लक्षण में क्रमभेद और 'उवएसरुई' के स्थान पर 'ओगाढरुई'।

धर्मध्यान के आलम्बन में 'धम्मकहा' के स्थान पर 'अणुप्पेहा'।

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षा में क्रमभेद।

शुक्लध्यान के भेदो में–'सुहुमकिरिए अप्पडिवाई' के स्थान पर 'सुहुमकिरिते अणियट्टी' और 'सुमुच्छिन्नकिरिए अणियट्टी' के स्थान पर 'समुकिरिय अप्पडिवाती'।

शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षा में क्रमभेद।

–ठाणंग। ४। १

तिर्यञ्चगति के बन्ध के कारणो में 'उक्कंचणयाए वंचणयाए' के स्थान पर 'कूडतोलकूडमाणेणं'।–ठा ४। ४।

(३)

## 'उववाइय' के विषय में विभिन्न दृष्टियाँ

बाह्य दृष्टियां–

(१) भाषा-गत

(२) शैली-गत

(३) इतिहास-गत

(अ) तत्कालीन नागरिक सभ्यता

(आ) ,, शासक की स्थिति

(इ) ,, शासन की स्थिति

(ई) ,, धार्मिक स्थिति

(उ) ,, व्यायाम-अभ्यंगनादि शरीर शास्त्र से सम्बन्धित पद्धतियां

(ऊ) तत्कालीन वस्त्र-अलङ्कार

(ए) ,, शिक्षण-पद्धति

(ऐ) ,, विद्या-वैभव

(ओ) ,, सामाजिक दृष्टि

(औ) ,, उद्यान, वास्तु आदि से संबंधित कलाएँ।

(अं) ,, दार्शनिक मत-भेद आदि।

आभ्यन्तर दृष्टियाँ–

(१) ध्यान-पद्धति का प्रयोगात्मक शास्त्र

(२) देव, गुरु और धर्म की व्याख्या

(३) अन्तर-वृत्तियों का विश्लेषण आदि।



संघ

के

# आगामी सूत्र प्रकाशन

उववाइय सूत्र छपने के बाद अंतगड़ सूत्र की दूसरी आवृत्ति छप रही है। इसके बाद भगवती सूत्र का मुद्रण प्रारंभ किया जायगा।

